कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

दयानन्द-दर्शन

(PHILOSOPHY OF SWAMI DAYANAND)

ओ३म्

डॉ. वेद प्रकाश गुप्त

प्रकाशन प्रतिष्ठान
सुभाष बाज़ार, मेरठ

यह पुस्तक निम्नांकित अन्तिम तिथि को या उससे पूर्व पुस्तकालय में जमा हो जानी चाहिये। अन्यथा पाँच पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब शुल्क देना होगा।

23 JAN 1981

5 APR 1983

-8 OCT 1996

15 NOV 2019


43.1,V 51 D
67472

...ससे
...। अन्यथा पाँच
...ब शुल्क देना होगा।

स
द्वितीय संस्क...

दयानन्द-दर्शन

[PHILOSOPHY OF SWAMI DAYANAND]

(आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के लिये स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का संशोधित व परिवर्द्धित रूप)

लेखक :

डा० वेद प्रकाश गुप्त

(पी-एच० डी०)

दर्शन विभाग

मेरठ कॉलिज, मेरठ ।

प्रकाशक :

प्रकाशन प्रतिष्ठान

सुभाष बाजार, मेरठ ।

[द्वितीय संस्करण] [मूल्य ३·५०

प्रकाशक :

डॉ० विद्याभूषण भारद्वाज
एम० ए०, पी-एच० डी०

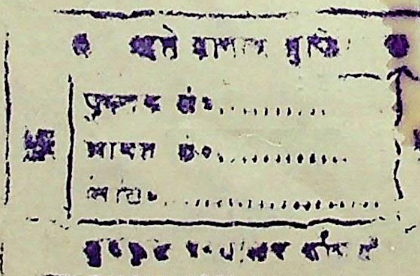
प्रकाशन प्रतिष्ठान
सुभाष बाजार, मेरठ।

शाखाएं :

साहित्य-संस्थान
नवीन शाहदरा
दिल्ली

साहित्य-सदन
नजीबाबाद
(बिजनौर) उ० प्र०





मुद्रक :
नव युगान्तर प्रेस
शारदा रोड, मेरठ।

भूमिका

रूप में देखे जाते
तु जैसे-जैसे मैंने
उच्च कोटि की
ाजी वातावरण
। मेरी शिक्षा
अतः मैं यह अनु-
र्शनिक के चरणों
ाय में कुछ गहराई
के अनुपम ग्रन्थ
मस्तिष्क में भी
न्तु ज्यों-ज्यों मैंने
दयानन्द दार्शनिक
अकाट्य तर्कों व
ित इत्यादि दार्श-
के लिये इसी विषय
ाश्चिमी दार्शनिकों
-एच० डी० की

भिन्न हैं। दयानन्द
खते, वरन् उन्होंने
दक दर्शन को सबसे
बताया है। दया-
ो देखते थे। महर्षि
र्शनिक प्रणाली व
ोण दिया है।

दयानन्द की दार्शनिक विचारधारा को मैं यथार्थवादी त्रैतवाद की संज्ञा दी है। क्योंकि दयानन्द तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्म-जीव-प्रकृति इन तीनों को अनादि सत्य मानते हैं अतः यह त्रैतवाद है। तथा आपके मत में संसार की सत्ता सत्

प्रकाशक :

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

मुद्रक :
नव युगान्तर प्रेस
शारदा रोड, मेरठ।

भूमिका

महर्षि दयानन्द इतिहास में एक महान् समाज सुधारक के रूप में देखे जाते हैं। पहिले-पहिल इसी रूप में मैंने भी उनको जाना था। परन्तु जैसे-जैसे मैंने उनके दार्शनिक विचारों का अध्ययन किया मुझे दयानन्द में उच्च कोटि की दार्शनिक प्रतिभा का दर्शन हुआ। बचपन में न तो मैं आर्यसमाजी वातावरण में पला और न मेरी शिक्षा ही किसी आर्यसमाजी संस्था में हुयी। मेरी शिक्षा का सारा ही काल स्कूल व कालिजों के वातावरण में बीता। अतः मैं यह अनुभव करता हूँ कि यदि मैं किसी विद्वान आर्य सन्यासी अथवा दार्शनिक के चरणों में दर्शनों का अध्ययन करता तो सम्भवतः वैदिक-दर्शन के विषय में कुछ गहराई ... जान पाता। कालिज में विद्यार्थी काल में ही मुझे महर्षि के अनुपम ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश को पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ। इससे पूर्व मेरे मस्तिष्क में भी श्री स्व० शंकराचार्य जी के अद्वैतवाद की गहरी छाप थी। परन्तु ज्यों-ज्यों मैंने महर्षि के ग्रन्थों का अध्ययन किया तो मुझे पता चला कि दयानन्द दार्शनिक प्रतिभा में अपने पूर्वाचार्यों से अधिक ही हैं। स्वामी जी के अकाट्य तर्कों व प्रमाणों के सम्मुख मुझे अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैत इत्यादि दार्शनिक मत फोके लगने लगे। मैंने पी–एच० डी० की उपाधि के लिये इसी विषय को सर्वथा उपयुक्त समझा। सात वर्ष के परिश्रम से पूर्वी व पश्चिमी दार्शनिकों का अध्ययन कर यह पुस्तक बनाई। इस पर मुझे पी-एच० डी० की मुझे उपाधि आगरा विश्व विद्यालय से प्राप्त हुयी।

स्वामी जी के दार्शनिक विचार उपरोक्त सभी आचार्यों से भिन्न हैं। दयानन्द वैदिक दर्शन को किसी एकाधवाद या मत के आधार पर नहीं देखते, वरन् उन्होंने वैदिक दर्शनों को उनके वैदिक आधार पर रखा। उनकी वैदिक दर्शन को सबसे बड़ी देन यह थी कि उन्होंने छहो वैदिक दर्शनों में समन्वय को बताया है। दयानन्द से पूर्व प्रायः सभी आचार्य षड्-वैदिक-दर्शनों में विरोध को देखते थे। महर्षि ने वेद को आधार बनाकर षड्-वैदिक-दर्शनों में एक ही दार्शनिक प्रणाली व विचारों का प्रतिपादन कर विश्व-दर्शन को एक नवीन दृष्टिकोण दिया है।

दयानन्द की दार्शनिक विचारधारा को मैंने **यथार्थवादी त्रैतवाद** की संज्ञा दी है। क्योंकि दयानन्द तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्म-जीव-प्रकृति इन तीनों को अनादि सत्य मानते हैं अतः यह त्रैतवाद है। तथा आपके मत में संसार की सत्ता सत्

है। यह शंकर की माया के समान मिथ्या नहीं है। इससे मैंने इसे यथार्थवाद कहा है। आपके दर्शन में आदर्शवाद (Idealism) में उत्पन्न होने वाली कमियें नहीं हैं, साथ ही यथार्थवादी होते हुये भी दयानन्द में भौतिकवाद की कमियें भी नहीं हैं।

इस पुस्तक में मैंने दयानन्द के मनोविज्ञान व नीतिशास्त्र सम्बन्धी विचारों का भी सूक्ष्म में वर्णन किया है। इस विषय को कभी किसी और पुस्तक में विषद् रूप से उठाऊंगा।

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण अब से दो माह पूर्व निकला था जिसका आर्य जनता में स्वागत हुआ। मेरे पास अनेक आर्य सज्जनों व दर्शन प्रेमियों का आग्रह आया कि इस पुस्तक को सस्ते संस्करण में छपवाया जाय। पहिला संस्करण थोड़ी मात्रा में होने से मंहगा था। प्रकाशक महोदय ने पुस्तक की मांग को देखते हुये इसका यह सस्ता संस्करण छपवाया है। इसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

मैंने इस पुस्तक को अत्यन्त सरल भाषा में लिखने का प्रयास किया है जिससे जन-साधारण स्वामी दयानन्द के दार्शनिक विचारों को जान सके तथा जिस प्रकार शंकर का माया का सिद्धान्त आज जन-साधारण के विचारों में समाया है उसी प्रकार दयानन्द का यथार्थवाद भी जन-साधारण का दर्शन बन सके।

इस पुस्तक में जहां भी आवश्यक समझा पूर्वी व पश्चिमी दार्शनिकों तथा विभिन्न धर्मों पर निष्पक्ष भाव से समालोचना की गयी है। यह पुस्तक पक्षपात की भावना से हटकर बनाई गयी है। मेरी अल्प बुद्धि में यदि दयानन्द के विचार भी न आ सके तो मैंने अपनी उनसे असहमति बतायी है। इससे विद्वान् यह न समझे कि मैं कोई विद्वान हूं वरन् यह तो मेरी बुद्धि की अल्प ग्रहण-शक्ति का प्रश्न है। यदि कोई विद्वान मेरी त्रुटियों की ओर संकेत करने की कृपा करेंगे तो मैं उन्हें समझने पर सहर्ष स्वीकार करूंगा।

७७६/११ ब्रह्मपुरी, —वेद प्रकाश
निकट ट्यूबवैल ब्रह्मसिंह
मेरठ—२।

प्रकाशकीय

गुरुडम, पाखण्ड, अन्धविश्वास आदि के सागर में डूबते हुए हिन्दू धर्म को उबारने वाले एवं वैदिक संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने वाले सत्यान्वेषी महर्षि दयानन्द का योगदान अविस्मरणीय है। सत्यार्थ प्रकाश से उन्होंने आर्यजनों के मानस में ज्ञान का प्रकाश फैलाया। ज्ञान के इस प्रकाश से विधर्मी भी चमत्कृत हुए बिना नहीं रह सके।

महर्षि के इस योगदान से तो सभी परिचित हैं किन्तु उनके दार्शनिक विचारों की सुस्पष्ट एवं वैज्ञानिक व्याख्या से अधिकांश आर्यजन अपरिचित हैं। स्वामी दयानन्द के दार्शनिक विचारों का विधिवत् गवेषणापूर्ण अध्ययन सरल एवं सुबोध शैली में प्रस्तुत करके, मेरठ कॉलेज के दर्शन विभाग के प्राध्यापक डॉ० वेद प्रकाश गुप्त ने पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

आर्य जगत् के प्रतिष्ठित विद्वानों के बराबर आग्रह पर हमने इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया किन्तु कारण विशेष से इसकी प्रतियां अधिक न छपवाई जा सकीं। इस कारण इसका मूल्य अधिक हो गया। प्रथम संस्करण छपते ही आर्य जगत् में इसका बहुत बड़ा स्वागत हुआ। मूल्य अधिक होने के कारण आर्य विद्वानों ने इसके सस्ते संस्करण का इसलिये आग्रह किया कि यह प्रत्येक आर्यजन की थाती बन सके। इसी भावना से प्रेरित होकर हमने इसका सस्ता संस्करण प्रकाशित किया है।

इस ग्रंथ की विशेषता इसी से लक्षित है कि विभिन्न विश्वविद्यालयों ने इसे एम० ए० के पाठ्यक्रम में स्थान देने का निश्चय किया है।

नवयुगान्तर प्रेस के अधिष्ठाता श्री वीरेन्द्र जी ने अपने अत्यधिक व्यस्त क्षणों में जिस निष्ठा के साथ इसका मुद्रण मेरठ में होने वाले आर्य समाज शताब्दी समारोह से पूर्व कर दिया है वह श्लाघ्य है एवं उनके आर्य प्रेम का परिचायक है। एतदर्थ वे बधाई के पात्र हैं।

—डॉ० विद्याभूषण भारद्वाज

एम० ए०, पी-एच० डी०

विद्वानों की सम्मतियां

१—दयानन्द-दर्शन शोध ग्रन्थ प्रत्येक आर्य समाज के पुस्तकालय एवं आर्य समाजी के लिये आवश्यक है।

आचार्य बृहस्पति,
एम. ए., वेद शिरोमणि, पूर्व कुलपति
गुरुकुल विश्वविद्यालय-वृन्दावन

ओ३म्

२—पिछली कई शताब्दियों से वैदिक आर्य दृष्टिकोण के सम्बन्ध में पर्याप्त भ्रान्तियां चली आ रही थीं। महर्षि दयानन्द जी ने उन भ्रान्तियों को दूर किया। महर्षि के विचारों को भी जनसाधारण को बोधगम्य कराने के लिये और विद्वानों में उठने वाले विवादों के समाधान के लिये महर्षि दयानन्द के विचारों पर भाष्य-पल्लवन-टीका-टिप्पणी की अति आवश्यकता है।

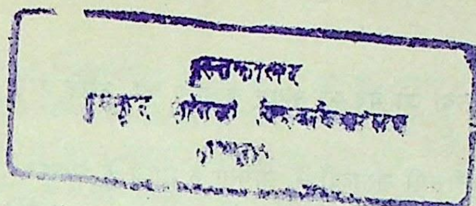
डॉ० श्री वेद प्रकाश जी गुप्त ने 'दयानन्द-दर्शन' पर शोध ग्रन्थ लिखकर एक बड़ी खटकने वाली न्यूनता की पूर्ति की है। मैं डॉ० जी को एतदर्थ बधाई देता हूं और स्वाध्यायशीला सत्यान्वेषी जनसाधारण से सामान्य रूप से और आर्यसामाजिक पुरुषों तथा आर्य समाज से विशेष रूप से आग्रह करना चाहता हूं कि इस सुन्दर ग्रन्थ को अपनावें। आर्य समाज के पुस्तकालयों के लिये तो यह एक आवश्यकीय संग्रह का ग्रन्थ है।

उमाकान्त उपाध्याय
आचार्य
आर्य समाज—कलकत्ता

५—३—७३
१९, विधान सरणि
कलकत्ता—६

विषय-सूच







१

दयानन्द और वेद

आर्यों के जीवन में वेदों का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्राचीन काल से ही वेद ईश्वरीय ज्ञान के रूप में श्रद्धा व आदर की भावना से स्वीकार किए जाते रहे हैं। परन्तु वेद मन्त्र अत्यन्त गूढ़ एवं रहस्यमय हैं। इनकी एक विशिष्ट छन्द रचना है जो सनातन ज्ञान को अपने में छिपाये रहती है। वेद-मन्त्रों की इस गम्भीरता तथा विशिष्ट छन्द रचना के कारण साधारण तो क्या संस्कृत भाषा में पारंगत मस्तिष्क भी इनके रहस्यों को नहीं समझ पाता। इसी कारण प्राचीन काल से ही वेदों के भाष्य करने की पद्धति पायी जाती है। परम्परा के अनुसार रावण हमारे सामने वेदों के सर्वप्रथम भाष्यकार के रूप में आते हैं, परन्तु इनका वेद-भाष्य पूर्णरूप से उपलब्ध नहीं है। पश्चात्‌वर्ती भाष्यकारों में स्कन्द-स्वामी, उद्‌गीथ, वररुचि भट्टभास्कर, महिधर, उव्वट व सायण प्रसिद्ध भाष्यकार हैं। इन भाष्यकारों में सायण का भाष्य सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इन्होंने चारों वेदों का भाष्य किया है। सायण के भाष्य का प्रभाव उनके बाद के भाष्यकारों पर स्पष्ट देखने को मिलता है। परन्तु सायण के वेद-भाष्य में वेद की आत्मा व विचारधारा का सही-सही विकास नहीं हुआ। इनका भाष्य कर्मकाण्डपरक है, ये वेद-मन्त्रों के कर्मकाण्डात्मक भाष्य की धुन में मन्त्रों के वास्तविक अर्थ व अभिप्राय—जो मूलरूप में सनातन ज्ञान-विज्ञान का परिचायक है—को ही भूल जाते हैं।[1] परिणामस्वरूप सायण का वेद-भाष्य एक ऐसा भाष्य है, जिसमें मन्त्रों के वास्तविक अभिप्राय को अत्यन्त संकुचित बना दिया

---

१. "प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते। एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता···अतः कर्माणि वेदस्य विषयः। तदवबोधः प्रयोजनम्।"
(सायणाचार्य कृत काण्व सहिता भाष्य की उपक्रमणिका से)

गया है तथा जो वेद की महान् प्रतिष्ठा को, उसके ज्ञान को एकदम बुद्धि विरुद्ध कर देता है।

उन्नीसवीं शताब्दी में, सायण के भाष्य के आधार पर ही योरोपीय विद्वानों ने वेदों के विषय में एक नवीन विकासवादी मत का प्रतिपादन किया। इस मत के अनुसार वेद आर्य जाति की प्रारम्भिक अवस्था से विकास का वृत्तान्त हैं। इन विद्वानों की व्याख्या प्रकृतिपरक है, जो कि सायण के भाष्य में प्राप्त होने वाले प्रकृतिवादी विचारों से ली गई है। ये लोग यद्यपि प्रतिभाशाली, साहसी और कल्पना की उड़ान में स्वच्छन्द थे। परन्तु इनकी प्रतिभा व कल्पना-शक्ति वेद की गम्भीर पहेलियों को सुलझाने में असमर्थ रही। इसका मुख्य कारण यह था कि वे वेद की भाषा, छन्द-रचना व अमर काव्य को नहीं समझ सके। उन्होंने अपने भाष्यों में वेदों में वर्णित रूपकों का ब्राह्मणों, उपनिषदों व पुराणों में प्राप्त गाथाओं व ऐतिहासिक तत्वों से सम्बन्ध बताकर, वैदिक गाथा शास्त्र, वैदिक इतिहास व वैदिक सभ्यता का नवीन मत खड़ा किया, तथा भाषा-विज्ञान की पद्धति से इनका सम्बन्ध ग्रीक साहित्य से बनाने की चेष्टा में तुलनात्मक गाथाशास्त्र एवं तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का सृजन किया। योरोपीय विद्वानों के इस निष्कर्ष पर पहुँचने में तीन मुख्य कारण थे—(१) उन्हें वैदिक परम्परा व साहित्य का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं था तथा उन्होंने प्राचीन ऋषियों की नैरुक्तिक प्रणाली को छोड़ दिया था, (२) सायण का भाष्य इनका मार्गदर्शक था तथा (३) पश्चिमी विद्वानों को वेद से कोई सहानुभूति नहीं थी,[१] जिससे वे

---

१. "वेद की प्राचीन धर्म पुस्तक उस पाण्डित्य के हाथ में आयी, जो परिश्रमी, विचार में साहसी अपनी कल्पना की उड़ान में प्रतिभाशाली, अपने निजी प्रकाशों के अनुसार सच्चे परन्तु फिर भी प्राचीन रहस्यवादी कवियों की प्रणाली को समझने के अयोग्य था। क्योंकि वह उस प्राचीन संस्थान के साथ किसी प्रकार की भी सहानुभूति न रखता था, वैदिक अलंकारों और रूपकों के अन्दर छिपे हुये विचारों को समझने के लिए, अपने बौद्धिक व आत्मिक वातावरण में उसके पास कोई मूल सूत्र नहीं था" वेद रहस्य, भा० १, पृ० ३० ले० श्री अरविन्द। अनुवादक 'अभय' १९४८।

भारतीय विद्याओं के बारे में वास्तविकता को जानने का प्रयास करते । वेदों के सम्बन्ध में उनके वास्तविक अभिप्राय को बताने वाले किसी मार्गदर्शक नियम के अभाव में पश्चिमी विद्वानों ने अपने वैदिक विचारधारा के निर्माण में अधिकतर अटकलबाजी से काम लिया है । श्री अरविन्द का तो स्पष्ट कहना है कि पश्चिमी वेदज्ञों की वैदिक विचारधारा केवल मात्र कल्पना की रेत पर खड़ी है ।[1]

उपरोक्त वर्णित इन दोनों ही प्रयासों (पूर्वी व पश्चिमी) का मूल्यांकन करने पर पता चलता है कि आचार्य सायण के अनुसार तो वेद केवल कर्मकाण्ड की एक ऐसी पुस्तक है जिसके मन्त्रों में कोई पारस्परिक संगति नहीं है । तथा योरोपियन विद्वानों के अनुसार वेद आर्य जाति की आदिम काल से उपनिषदों के प्रारम्भ तक की मानसिक अवस्था का लेखा है, जिसे वैदिक कवियों ने छन्दबद्ध कर दिया है । इसमें कहीं भी ऊंचे विचार नहीं हैं, बल्कि ये बर्बर, आदिम व असभ्य गडरियों के गीतमात्र हैं ।[2] वेद के रचने वाले प्रकृति की शक्ति की पूजा करते थे, उनके प्रकोपों से बचने के लिये यज्ञ किया करते थे, वैदिक ऋषि मूर्ख परन्तु श्रद्धालु उपासक थे ।[3] वेद गाथा शास्त्र हैं[4] और दार्शनिक विचार, ये तो

---

१. "वेद रहस्य, भाग १ पृ० ३१, श्री अरविन्द : अनुवादक 'अभय' १९४८ ।

२. "वेद के विषय में आधुनिक सिद्धान्त इस विचार से प्रारम्भ होता है, जिसके लिये सायण उत्तरदायी है, कि वेद एक ऐसे आदिम जंगली और अत्यधिक बर्बर समाज की सूक्ति संहिता है जिसके नैतिक व धार्मिक विचार असंस्कृत थे, जिसकी सामाजिक रचना असभ्य थी और अपने चारों ओर के जगत् के विषय में जिनका दृष्टिकोण बिल्कुल बच्चों का था । वही पृ० ३१ ।

३. "This was the final outcome of religious thought...... ending with a belief in one great power, the unknown rather the unseen God, worshipped though ignorantly worshipped through many years by the poets of vedic age."

(The Vedanta Phiiosophy, p. 22, by Max Muller third reprint, Calcutta)

४. See 'Vedic Mythology' by A. A. Macdonell.

बाद में उपनिषदों में उत्पन्न हुए। इनके अनुसार वेदों में एकेश्वरवाद नहीं बल्कि बहुदेवतावाद है। वेदों में मांसभक्षण है, यज्ञों में पशु-बलि का विधान है, जुआ है और सोम के रूप में सुरा है।

स्वामी दयानन्द के काल तक वेदों के सम्बन्ध में इन सभी भारतीय व पाश्चात्य विचारधाराओं का समुचित विकास हो चुका था। दयानन्द ने देखा कि इन दोनों ही मतों से, वेद के गूढ़ रहस्यों के प्रकाश में आने के स्थान पर उनके भ्रान्त अर्थों का प्रचार किया जा रहा है। जिसके परिणामस्वरूप वैदिक दर्शन व संस्कृति कलंकित हो रही है। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप स्वामी दयानन्द ने उन्नीसवीं शताब्दी में (स्वामी दयानन्द मैक्समूलर के समकालीन थे) वेद के विषय में, एक तीसरी महान् विचारधारा का सृजन किया। उनका वेद सम्बन्धी मत इन दोनों ही, सायण द्वारा प्रचलित भारतीय एवं पाश्चात्य विचारधाराओं से एकदम भिन्न था। वे वेद को न तो केवल वैदिक कर्मकाण्ड की पुस्तक मानते थे और न आदिम वर्बर आर्य जाति के गीत। वेद के सम्बन्ध में उनकी दो मुख्य मान्यतायें थीं—(१) वेदों के ज्ञान का प्रकाश ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में अग्नि, अंगिरा, वायु व आदित्य नामक चार ऋषियों के अन्तःकरणों में मानव-जाति के ज्ञान व कल्याण के लिये किया तथा (२) सनातन सर्वज्ञ परमात्मा का ज्ञान होने से वेद में सारा ज्ञान-विज्ञान बीज रूप में वर्तमान है, इसी से वेद स्वतः प्रमाण हैं। उनकी यह मान्यतायें उनके वैदिक साहित्य के गम्भीर अध्ययन पर आधारित हैं।

वेद के ईश्वरीय ज्ञान में प्रमाण

वेद ईश्वरीय ज्ञान है दयानन्द की इस मान्यता का विवेचन हमें दो प्रकार से करना है, प्रथम तो वैदिक साहित्य—ब्राह्मण, उपनिषद् व दर्शन ग्रन्थों में प्राप्त प्रमाणों के आधार पर तथा दूसरे तर्क के आधार पर।

(अ) वैदिक साहित्य के प्रमाण—जहां तक वैदिक साहित्य का प्रश्न है, सारा का सारा वैदिक साहित्य दयानन्द के इस मत की पुष्टि करता है कि वेद सनातन सत्य को अपने अन्दर छिपाये हैं तथा ईश्वर ने इनका प्रकाश सृष्टि के प्रारम्भ में ऋषियों के शुद्ध अन्तःकरणों में किया था। शतपथ ब्राह्मण कहता है

कि ऋग्वेद का प्रकाश अग्नि पर, यजुर्वेद का वायु तथा सामवेद का सूर्य नामक ऋषियों पर हुआ।[1]

इसी प्रकार श्वेताश्वेतरोपनिषद् मनुस्मृति, वैशेषिक शास्त्र, योग, सांख्य, वेदान्त आदि सभी एक स्वर में वेदों को ईश्वर से उत्पन्न मानते हैं और इसी से उन्हें स्वतः प्रमाण मानते हैं।[2]

परन्तु इसके साथ ही हमारे सामने एक अन्य दुविधा पैदा हो जाती है कि वेदों में मन्त्रों के साथ-साथ उस मन्त्र के द्रष्टा ऋषियों के नाम संयुक्त पाये जाते हैं। इससे भी वेदों को मनुष्यकृत मानने वालों को भ्रांति हो गई है। उनका कहना है कि वेदों के हर मंत्र के साथ उसके निर्माता ऋषि का नाम संयुक्त है इससे ये मनुष्यकृत हैं।

इसके उत्तर में स्वामी दयानन्द हमारे सामने यह विचार रखते हैं कि मन्त्रों के साथ जिन ऋषियों के नाम आते हैं वे मन्त्र-निर्माता नहीं वरन् मन्त्र-द्रष्टा थे।[3] मन्त्र-द्रष्टा से स्वामी दयानन्द का तात्पर्य उस ऋषि से है, जिसने उस मन्त्र के रहस्य को साक्षात् किया है, अर्थात् जो मन्त्र के अर्थ का प्रकाशक है। मूल वेद के देखने से पता चलता है कि वेदों में मन्त्रों के साथ ऋषियों के नाम

---

१. "तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेः ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः।" श० ब्रा० ११-५-२-३।

२. "यो ब्रह्मांण विदधाति पूर्वं यो व वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।" श्वेताश्वेतरोपनिषद् ६-१८।

"अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्।" मनुस्मृति, १-२३।

"तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्।" वैशिषक सूत्र १-१-३।

"स एष पुर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।" योग सूत्र १-२६।

"शास्त्रयोनित्वात्।" वे० द० १-१-३।

"निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्।" सां० द० ५-५१।

३. "वे (ऋषिगण) तो मन्त्रों के अर्थ प्रकाशक थे" सत्यार्थप्रकाश, पृ० २०५ दयानन्दकृत (सार्वदेशिक प्रेस संस्करण द्वितीय बार सं० २०११)

संयुक्त है। किसी-किसी वेद-मन्त्र के साथ तो सौ-सौ ऋषियों के नाम हैं तथा अनेक वेद-मन्त्र तो ऐसे भी है जो वेदों में अनेक स्थानों पर दोहराये गये हैं, साथ ही भिन्न-भिन्न स्थलों में उनके ऋषि भी भिन्न-भिन्न हैं। ऐसी स्थिति में वैदिक विकासवादी कल्पना का मत मानना निरापद नहीं होगा। क्योंकि इस काल्पनिक मत को मानने पर हमारे सामने यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि क्या एक ही मन्त्र का अनेक ऋषियों द्वारा भिन्न-भिन्न काल में निर्माण हुआ होगा और हमारे विचार से इस प्रकार की यह कल्पना वेदबुद्धि व साधारण बुद्धि दोनों के ही विपरीत है। इस समस्या का हल ऋषियों को मन्त्रों के अर्थ प्रकाशक मानने पर ही हो सकता है जैसा कि निरुक्त भी कहता है 'साक्षात्कृत धर्माण ऋषियो वभूवुः' (नि० १—१९)। आधुनिक युग के महान् वेद विचारक श्री अरविन्द और श्री धर्मदेव विद्यामार्तण्ड दोनों ही इस विषय पर स्वामी दयानन्द से सहमत हैं।[1]

दूसरे यदि हम तर्क से भी देखें तो मानव जाति के ज्ञान के लिये किसी बीजरूपी ज्ञान की परम आवश्यकता है। विकासवादियों का कथन है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान न होकर आर्यों के बौद्धिक विकास का वृत्तांत मात्र है, जो उन्होंने अनेक सदियों में प्राप्त किया था। वे किसी भी प्रकार के सनातन-ज्ञान के विरुद्ध हैं। महर्षि दयानन्द विकासवादियों के इस सिद्धांत से सहमत नहीं हैं। उनका तर्क है कि बिना बीज के जिस प्रकार कोई अंकुर पैदा नहीं होता, उसी प्रकार बिना बीजरूप ज्ञान के ज्ञान का विकास भी नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए यदि किसी नवजात बालक को किसी निर्जन स्थान में इस प्रकार रखा जाय कि उससे किसी भी प्रकार का भाषण आदि न किया जाय, भोजनादि की व्यवस्था भी इस प्रकार हो कि कोई पुरुष उसके किंचित भी सम्पर्क में न आये। तब क्या वह किसी प्रकार का ज्ञान स्वमेव उत्पन्न कर सकता है।[2] हमारे

---

१. "ऋषि सूक्त का वैयक्तिक रूप से निर्माता नहीं था, वह तो द्रष्टा था एक सनातन सत्य का और एक अपौरुषेय ज्ञान का।" वेदरहस्य, भा० १ पृ० ११, श्री अरविन्द।

२. "दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग २ पृ० २७३, शताब्दी संस्करण।

विचार से ऐसी अवस्था में ज्ञान की उत्पत्ति असम्भव है। इसका स्पष्ट प्रमाण अन्य जन्तुओं द्वारा पाले जाने वाले बालक हैं, जो यदा-कदा शिकारियों को मिल जाते हैं।[1] दूसरा उदाहरण हमारे सामने अफ्रीका महाद्वीप का है, जिस समय योरोपीय जातियें अफ्रीका के गहन जंगलों में पहुँचीं, वहां उन्हें अनेक वन्य जातियों से साक्षात् हुआ जिनका व्यवहार पशुतुल्य था। परन्तु गोरी जातियों के सम्पर्क में यही जातियें कुछ ही वर्षों में सभ्य जातियों की श्रेणियों में आ गयीं। यदि विकासवादियों का सिद्धांत सही होता तो विकास के सिद्धांत के अनुसार इन में भी ज्ञान-विज्ञान का विकास स्वतः ही होना चाहिये था। परंतु ऐसी बात नहीं है। योरोपीय जातियों से ज्ञान प्राप्त कर अफ्रीकियों ने उसका विकास किया है। वेद के विषय में स्वामी दयानन्द का भी यही कथन है कि 'जैसे बड़े वन में मनुष्यों को बिना उपदेश के यथार्थ ज्ञान नहीं होता किन्तु पशुओं की नाई उनकी प्रवृत्ति देखने में आती है वैसी ही स्थिति वेद के उपदेश के बिना सब मनुष्य जाति की होती''।[2] उपरोक्त विवेचन से पता चलता है कि मनुष्य जाति के बीजरूप ज्ञान के लिये किसी ईश्वरीय ज्ञान की नितांत आवश्यकता है।

स्वामी दयानन्द का वेद के सम्बन्ध में दूसरा दावा यह है कि वेदों में समस्त ज्ञान-विज्ञान है। इस विषय में दयानन्द का कहना है कि प्रथम तो ईश्वर का ज्ञान होने से वेद अपने आप में पूर्ण हैं। दूसरे ईश्वर ने यह ज्ञान मनुष्यों के ज्ञान व कल्याण के लिये दिया अतः इनमें मनुष्योपयोगी समस्त ज्ञान-विज्ञान होना ही चाहिये।

वेदों का विषय—दयानन्द ने वेद में निहित ज्ञान को मुख्य रूप से चार विषयों में बांटा है, एक विज्ञान अर्थात सब पदार्थों को यथार्थ रूप से जानना, दूसरा कर्म, तीसरा उपासना तथा चौथा ज्ञान।[3]

१. इस प्रकार एक भेड़िये द्वारा पालित बालक रामू का उदाहरण हमारे सामने है। उस बालक ने बहुत प्रयत्न करने पर भी अपना पशु व्यवहार नहीं छोड़ा।

२. दयानन्द ग्रन्थमाला, पृ० २७३, शताब्दि संस्करण।

३. दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग २ पृ० ३१०।

विज्ञान—विज्ञान से दयानन्द का तात्पर्य ज्ञान की उस प्रणाली से है, जिसमें ज्ञान, कर्म व उपासना इन तीनों के समुचित उपयोग से परमेश्वर से लेकर तृणपर्यन्त समस्त पदार्थों का साक्षात् बोध होता हो, तथा मानव जाति के अभ्युदय व निश्रेयस की प्राप्ति में उनका यथावत् उपयोग होता हो। इस प्रकार **विज्ञान** वेदों का मुख्य विषय है। स्वामी दयानन्द विज्ञान के भी दो रूप मानते हैं (१) ईश्वर का यथावत् ज्ञान एवं उसकी आज्ञाओं का पालन तथा (२) पदार्थ-विद्या का ज्ञान अर्थात् पदार्थों के गुणों व उपयोग को जानना। इन दोनों में दयानन्द ईश्वर-विषय को ही वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय बताते हैं।[1]

कर्म—कर्म में वे कर्मकाण्ड को लेते हैं, जिससे जीवन में परमार्थ व लोक व्यवहार की सिद्धि होती है। कर्मकाण्ड से स्वामी जी का तात्पर्य केवल यज्ञ-याग से ही नहीं है वरन् वे उसमें जीवन की समस्त क्रियाओं को सम्मिलित कर लेते हैं।[2]

उपासना—अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति के उपाय करना।

ज्ञान—ज्ञान का अर्थ है ''पृथ्वी और तृण से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक-ठीक कार्य सिद्ध करना'।[3] इसे हम आधुनिक विज्ञान के अर्थ में ले सकते हैं। वेद की भाषा में विज्ञान अर्थात् विशेष ज्ञान ईश्वर, आत्मा आदि के ज्ञान को कहते हैं जबकि ज्ञान, प्राकृतिक विज्ञानों (Natural sciences) के अर्थों में आता है।

वेदों में पदार्थ विद्यायें (Natural sciences) हैं या नहीं यह विषय गम्भीर अनुसंधान का है। अभी तक वेदों में से वैज्ञानिक तथ्यों की खोज का किसी भी संस्था द्वारा कोई नियमपूर्वक एवं गम्भीर प्रयास नहीं किया गया है। अतः वेदों में साईन्स को सिद्ध करने के लिये कोई ठोस प्रमाण तो हमारे सम्मुख नहीं है

---

१. दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग २ पृ० ३१०।
२. 'तत्र द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः, स सर्वः क्रियामयोस्ति'। वही पृ० ३१४।
३. वही पृ० ३११।

तथापि दयानन्द ने अपनी पुस्तक **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** में वैदिक मन्त्रों में से विद्युत, तार-विद्या, विमान विद्या, खगोल-विद्या, भूगोल एव गणित आदि का प्रतिपादन किया है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में, योरोप में भी इनमें से अनेक विद्याओं का विकास नहीं हुआ था और वेतार-विद्या तथा विमान-विद्या का तो प्रारम्भ भी न हुआ था। ऐसी अवस्था मे स्वामी जी का वेदों से विमान आदि विद्याओं का प्रतिपादन करना इस बात का स्पष्ट संकेत करता है कि वेदों में पदार्थ विद्यायें (Natural sciences) बीजरूप में अवश्य हैं परन्तु उनको विकसित करने के लिये गम्भीर प्रयासों की आवश्यकता है।[1] वर्तमान युग के महान योगी व विद्वान् श्री अरविन्द तो दयानन्द के इस दावे को हल्का बताते हैं तथा दयानन्द से भी एक हाथ आगे बढ़कर कहते हैं कि "मैं तो यहां तक कहूंगा कि वेदों में कुछ वैज्ञानिक सत्य तो ऐसे भी हैं जिन्हें आधुनिक विज्ञान जानता तक नहीं"।[2] यहां श्री अरविन्द का संकेत मनोविज्ञान आदि से है। वैदिक मनोविज्ञान वास्तव में अपने आप में अद्भुत है तथा भविष्य में विकसित योग-विद्या का बीजरूप है।

पदार्थ विद्याओं (Natural sciences) के अतिरिक्त वेद में नीति-धर्म, राजधर्म, समाज-धर्म, योग आदि अनेक विद्यायें पायी जाती हैं।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि वेद में समस्त ज्ञान-विज्ञान बीज रूप में उपस्थित है तथा बाद में वैदिक ग्रन्थों में ऋषियों ने उसी का विकास किया है।

दयानन्द के इस महान वैदिक प्रयास का यह फल निकला कि वेद, जो अब

---

१. इस विषय को में अपनी दूसरी पुस्तक 'वेदों के दर्शन' में अधिक विषद् रूप से उठाऊंगा।

2. "I will even add my own conviction that the Veda contains other truths of science the modern world does not at all possess, and in that case Dayananda has rather understated the depth and range of the Vedic wisdom."

Sir Aurbindo; Bankim Tilak Dayanand p. 57. 3rd Ed.

तक सायरण के हाथ में केवल कर्मकाण्ड की पुस्तक थी तथा पश्चिमी विद्वानों के अनुसार प्रकृतिवादी ग्रन्थमात्र थे, जिनमें केवल प्रकृति की शक्तियों की पूजा है, अब एक अध्यात्म तथा ईश्वरीय ज्ञान की पुस्तक हो जाती है। इसमें एक वैज्ञानिक एवं नैतिक धर्म है, जो मनुष्यमात्र के लिये है तथा जिसमें मनुष्य की आध्यात्मिक व सांसारिक उन्नति का सही-सही मार्ग बताया गया है।

दयानन्द की वेद-भाष्य-प्रणाली

ब्राह्मण व उपनिषदों में वेदों के रहस्यों का व्याख्यान पाया जाता है। यह सबसे पहले ग्रन्थ थे जिनमें ऋषियों ने वैदिक मन्त्रों में प्राप्त सूत्रों के आधार पर खोजें कीं। इनमें ब्राह्मण ग्रंथों ने वैदिक कर्म-काण्ड सम्बन्धी सूक्ष्म विधियों की रक्षा की और औपनिषदिक ऋषियों ने वेदों के सूक्ष्म व गंभीर आध्यात्मिक ज्ञान को जो वेद का मुख्य विषय है—प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया। ब्राह्मण ग्रन्थों में वैदिक कर्मकाण्ड की सूक्ष्म विधि को बताने के साथ-साथ उसकी आध्यात्मिक व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। वेद के मंत्र प्रतीकात्मक, आलंकारिक व छन्दबद्ध हैं। इन ग्रन्थों में वेद के प्रतीकवाद व आलंकारिक भाषा को खोलने का प्रयत्न किया गया है परन्तु इनकी गति मुख्य रूप से कर्मकाण्ड तक ही सीमित है। दूसरी ओर उपनिषदों में ब्रह्म-ज्ञान को अपना मुख्य विषय बनाया है। उन्होंने वेद-मंत्रों में प्राप्त ब्रह्म को अपनी आध्यात्मिक अनुभूति अर्थात् ध्यानसमाधि द्वारा पुनरुज्जीवित किया तथा मोक्ष-प्राप्ति के लिये ब्रह्म-ज्ञान की महत्ता पर बल दिया। औपनिषदिक ऋषियों के लिये वेद के मंत्र उनके विचार और दर्शन के लिये बीजरूप थे।

इन ग्रन्थों में वैदिक शब्दों के स्वरूप को ठीक-ठीक जानने के लिए तथा उनके अर्थों को वेद की भावना के अनुकूल समझने के लिये एक विशेष विधि का सहारा लिया गया है। इस विधि के अनुसार शब्दों के धात्वर्थों की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। वैदिक शब्द जैसे कि वह मन्त्रों में प्रयुक्त हुये हैं अनेकार्थवाची हैं। इनके अर्थ विषय के सन्दर्भ के अनुसार बदलते रहते हैं। अतः वेद के शब्दों के सही-सही अर्थों को जानने के लिये हमें शब्द की मूल धातु तक जाना पड़ता है। जैसे यज्ञ शब्द है इसका साधारण अर्थ है एक विशेष धार्मिक कृत्य को पूर्ण करने के लिये अग्नि प्रज्वलित करना और उसमें आहुति डालना।

परन्तु इसके धात्वर्थ को देखें तो सब प्रकार के श्रेष्ठतम कर्मों को यज्ञ कहा जा सकता है जैसा कि शतपथ ब्राह्मण कहता है 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' (श ब्रा० १–७–१–५)। यज् धातु के अर्थ हैं देवपूजा, संगतिकरण व दान। तैत्तिरिय ब्राह्मण में समस्त भुवनों को यज्ञ का नाम दिया गया है, ('यज्ञो वै भुवनम्' तै० ब्रा० ३–३-७-५)। इससे वक्ता ऋषि का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि समस्त ब्रह्माण्ड परमात्मा द्वारा रचा हुआ होने से एक वृहद यज्ञ है। इस प्रकार ब्राह्मण व उपनिषद् ग्रन्थ इस बात का निर्देश करते हैं कि वेद के अर्थों को जानने के लिये भाषा के रूढ़िगत स्वरूप से कोई सहायता नहीं मिल सकती। वेद की प्रतीकात्मकता को समझने के लिये, उसके रूपकों को खोलने के लिये, वेद के शब्दों का यौगिक अर्थ लेना चाहिये, जो शब्द का सम्बन्ध सीधे उसकी मूल धातु से कराता है। निरुक्त वेद के शब्दों का ठीक इसी प्रकार अर्थ करता है। जैसे देव शब्द को ही लीजिये, निरुक्त कहता है **'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीतिवा यो देवः सा देवता'**। (नि० ७-१५) अर्थात दान देने से देव है, प्रकाश करने से देव है, उपदेश करने से देव है तथा द्युस्थान में स्थित होने से देव है। इसमें हर वह पदार्थ जिसमें उपरोक्त कोई भी गुण है देव की कोटि में आ जाता है, फिर चाहे वह जड़ हो या चेतन।

महर्षि दयानन्द ने वेद-भाष्य की इसी प्राचीन नैरुक्तिक प्रणाली को अपनाया।[1] वे वेद के शब्दों को यौगिक मानते हैं रूढ़ि नहीं। यौगिक शब्द वह होते हैं जो कि अपने अर्थ निर्णय के लिये अपनी धातु पर निर्भर करते हैं। लेकिन जब शब्द किसी वस्तु या परम्परागत अर्थ से सीमित हो जाते हैं वह रूढ़ कहलाते हैं। जैसे वृक शब्द है, इसका रूढ़ि अर्थ है भेड़िया, और जब भी वृक बोल जाता है हमें तुरन्त भेड़िये का स्मरण हो जाता है। परन्तु वृक का धात्वर्थ है चीर फाड़ देने वाला अर्थात् विदारक। भेड़िया विदारक प्रकृति का पशु होने से इस अर्थ में आ जाता है, परन्तु यहां पर वृक शब्द से सदैव भेड़िया ही अभिप्रेत

१. 'इस वेद भाष्य में अप्रमाण लेख कुछ भी नहीं किया जाता है, किन्तु जो ब्रह्मा से लेकर व्यास पर्यन्त ऋषि और मुनि हुए हैं उनकी जो व्याख्या रीति है उससे युक्त ही यह वेद भाष्य बनाया जाएगा।'

दयानन्द ग्रन्थमाला भा० २ पृ० २६१।

नहीं है। हम वृक का प्रयोग हर उस जीवधारी के लिये कर सकते हैं जो विदारक प्रकृति का हो। वेद में शब्दों का प्रयोग इसी रूप में किया गया है और दयानन्द इसमें ठीक हैं। उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टि से वेद के सम्बन्ध में की जाने वाली मूल त्रुटि को पहिचान लिया और सिंहनाद किया कि वेद के वास्तविक अर्थों को जानने के लिये प्राचीन ऋषि मुनियों के मार्ग पर चलो, जिसके आधार पर प्राचीन ऋषियों ने आध्यात्मिक व वैज्ञानिक सत्यों की खोजें की थी। दयानन्द की भाष्य-प्रणाली के औचित्य को महान योगी अरविन्द ने भली-भांति समझ कर घोषणा की कि 'दयानन्द ने ऋषियों के भाषा सम्बन्धी रहस्य का मूल सूत्र हमें पकड़ा दिया हैं।''[1]

वेद के शब्द रहस्यों से भरपूर हैं, जिनको दिव्य ज्ञान के आदि सृष्टा ने रूपकों व अलंकारों में बाँध कर अमर कर दिया है। ये एक ऐसे दिव्य ज्ञान की ओर संकेत करते हैं जो स्वरूप में आध्यात्मिक है तथा जिसको भाषा की साधारण पद्धति समझने में सर्वथा असफल है। और प्राचीन ऋषियों की नैरुक्तिक पद्धति को अपनाते ही वेद के मन्त्र, एक सुपात्र विद्वान के लिये रहस्यों को ढकने वाले अपने किवाड़ खोल देते हैं। फिर तो सारे ही वेद-मन्त्रों में एक नियमबद्ध ज्ञान का बोध हो जाता है और तब वेद एक दिव्य ज्ञान की पुस्तक हो जाती है जिसमें एक उच्च कोटि का दर्शन भी मिलता है। पश्चिमी विद्वानों के अनुसार अभी तक वेदों में किसी भी प्रकार के बौद्धिक दर्शन का अभाव पाया जाता रहा है। परन्तु महर्षि दयानन्द के महान् प्रयास से वेदों का एक बौद्धिक दर्शन हमारे सन्मुख आता है। यह दर्शन, एक ऐसा दर्शन है जो उपनिषदों व वैदिक षड्-दर्शनों का मूल स्रोत है तथा जिसके आधार पर हम वेद व उपनिषदों में तथा वैदिक षड्-दर्शनों में आपस में समन्वय स्थापित कर सकते हैं।

दयानन्द वेदों में एक यथार्थवादी दर्शन का प्रतिपादन करते हैं। इसको हम त्रैतवाद कहेंगे। त्रैतवाद के अन्तर्गत दयानन्द ईश्वर, जीव व प्रकृति तीन सत्ताओं को अनादि मानते हैं। दयानन्द के अनुसार वेद का मुख्य विषय ईश्वर है। परन्तु वेदों में वे बहुदेवतावाद अथवा बहुएश्वरवाद को नहीं मानते।

---

१. वेद रहस्य, भा० १, पृ० ४३, श्रीअरविंद।

दयानन्द वेदों में एकेश्वरवाद को मानते हैं। वेदों का एकेश्वरवाद ही औपनिषदिक ऋषियों का ब्रह्मवाद है। वेद में ईश्वर, जीव व प्रकृति, कर्म व कर्मफल, पुनर्जन्म और मानव की सबसे बड़ी समस्या परम निःश्रेयस के प्राप्ति सम्बन्धी विचार मूलरूप से सुरक्षित पाये जाते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि वेद में परा विद्या नहीं है वरन् इनमें अपरा विद्या पाई जाती है। परन्तु दयानन्द की घोषणा है कि वेदों में परा और अपरा दोनों विद्यायें हैं,[1] तथा वेदों का परम तात्पर्य सर्वशक्तिमान परमात्मा का बोध कराना है इससे यह परा विद्या प्रधान है।[2]

बहुदेवतावाद-हीनोथियिज्म व एकेश्वरवाद

मध्य युग से ही वेदों के विषय में यह धारणा चली आ रही है कि इनमें अनेक देवताओं की पूजा है, इससे ये बहुदेवतावादी ग्रन्थ हैं। पाश्चमी संस्कृतज्ञों ने इस विचारधारा का बहुत प्रचार किया। इसके विपरीत महर्षि दयानन्द वेद में एकेश्वरवाद को मानते हैं। आपका मत है कि चारों वेद एक ही ब्रह्म को सर्वोच्च मानते हैं और उसी की उपासना का आदेश करते हैं एवं वेद में ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य देवता की उपासना का विधान कहीं भी नहीं है।[3]

वेदों में सर्वत्र ही एक परमात्मा को देवानाम् देवः, परमेव्योमन् तथा सृष्टि का अध्यक्ष आदि विशेषणों से पुकारा गया है। दयानन्द का कहना है कि वायु, सूर्य, उषा आदि प्राकृतिक देव तथा वरुण, रुद्र इत्यादि आध्यात्मिक देव जो वेदों में आते हैं, वे पृथक-पृथक् मनुष्य शरीरधारी या अन्य किसी प्रकार के

१. दयानन्द ग्रंथमाला, भाग–२, पृ० ३११।

२. 'अतः परमोऽर्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति।' दयानन्द ग्रंथमाला, भाग–२ पृ० ३१२।

३. (प्रश्न) वेद में ईश्वर अनेक हैं इस बात को तुम मानते हो या नहीं ?

(उत्तर–स्वामी दयानन्द) 'नहीं मानते क्योंकि चारों वेदों में ऐसा कहीं नहीं लिखा जिससे अनेक ईश्वर सिद्ध हों, किन्तु यह तो लिखा है कि ईश्वर एक है।' (सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १७४)

शरीरधारी देव नहीं बल्कि व्यवहार के देव हैं। व्यावहारिक देव से दयानन्द का तात्पर्य है कि ये प्रकृति की शक्तियाँ हैं, जो हमारे जीवन पर प्रभाव डालती हैं या आध्यात्मिक क्षेत्र की कुछ दिव्य शक्तियां हैं जिनसे जीवन की आध्यात्मिकता का सम्बन्ध है। लेकिन किसी भी स्थिति में यह शक्तियां उपासना का विषय नहीं हैं। उपासना का विषय केवल एक ब्रह्म है।[1]

वेद में बहुदेवतावाद है या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम वेद-भाष्य की कौनसी शैली को ठीक समझते हैं अर्थात् प्राचीन नैरुक्तिक पद्धति को अथवा सायरण की कर्मकाण्डात्मक या पश्चिमी विद्वानों की नव-निर्मित प्रकृतिवादी पद्धति को। इसका हम पहिले ही विवेचन कर चुके हैं कि वेद के सम्बन्ध में, यदि हमें सत्य को जानना है तब प्राचीन नैरुक्तिक पद्धति को ही अपनाना पड़ेगा। योरोपीय विद्वानों ने अपनी पद्धति के अनुसार देव शब्द के ईश्वर (God) अर्थ ग्रहण किये हैं। देव को ईश्वर समझकर मैक्डोनल साहब ने अपने ग्रंथों में एक अद्भुत देवनगर बना रक्खा है कि सूर्य देवता का रथ सात घोड़े खींचते हैं, उषा देवी कभी सूर्य की पत्नी और कभी माता बन जाती है, इनके मत से उषा हर देवता की प्रणयदायिनी भी है।[2] इन विद्वानों ने वैदिक देवताओं को ग्रीक गाथा-शास्त्र के अपेलो आदि देवताओं से मिलाकर वैदिक गाथा-शास्त्र को मजबूत बनाने की चेष्टा की है और इस प्रकार एक नये तुलनात्मक गाथाशास्त्र का सृजन किया है।

मैक्समूलर महोदय ने वेदों में एक दूसरे ही प्रकार के देवतावाद का प्रतिपादन किया है। उनके विचार में वेदों में तैंतीस देवताओं की उपासना कही गई है और एक स्थल पर तो ऋषि ने ३३३९ देवता गिनाये हैं। परन्तु फिर भी वे इसे बहुदेवतावाद की संज्ञा नहीं देते। क्योंकि वेदों का बहुदेवतावाद ग्रीक व रोमन बहुदेवतावाद से मेल नहीं खाता। ग्रीक व रोम में बहुदेवतावाद

१. 'जो दूसरे में ईश्वर बुद्धि करके उपासना करता है वह कुछ भी नहीं जानता।' (द० ग्र० मा०, भाग–२, पृ० ३४३।

२. See 'A Vedic Reader for Students.' P. 92, By A. A. Macdonell; Reprint 1954.

का अर्थ है एक परमदेव के शासनान्तर्गत अनेक छोटे-बड़े देवताओं का रहना। उनके विचार से वैदिक देवतावाद इससे इसी प्रकार भिन्न है जैसे ग्रामों में सम्मिलित प्रजातन्त्र से राजा का एकतन्त्रवाद। उनका आगे कहना है कि वैदिक ऋषि प्रत्येक देवता को परमदव मानकर पूजते थे, फिर चाहे वह कितना छोटा भी क्यों न हो। इस वैदिक देवतावाद को मैक्समूलर ने एक नया नाम दिया और वह है कैथेनोथियिज्म अर्थात् एक देवता के बाद दूसरे की उपासना अथवा हीनोथियिज्म अर्थात् पृथक-पृथक देवताओं की पूजा।[1]

दयानन्द के विचार में वेदों में बहुदेवतावाद या हीनोथियिज्म इन दोनों में से एक भी नहीं है। दयानन्द इन दोनों मतों में एक मौलिक भूल की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। चारों वेदों में देव शब्द अनेक मंत्रों में आया है और प्राय: विद्वानों ने इसके अर्थ ईश्वर के रूप में किये हैं, जिससे वेद के वास्तविक अभिप्राय को समझने में कठिनाई हो गई है, क्योंकि देव से ईश्वर को ग्रहण करने पर उसे उपासनीय बना दिया गया है, जबकि वेदों में सदैव ही देव उपासनीय नहीं हैं और विशेष रूप से जब तक कि इससे परमदेव परमात्मा का तात्पर्य न हो। स्वामी दयानन्द का विचार है कि देवता शब्द से ईश्वर का अर्थ लेना वेद के सम्बन्ध में एक भारी भूल है।[2] स्वामी जी यहां पूर्णरूप से निरुक्त के अनुसार हैं। निरुक्त के अनुसार देव शब्द के अर्थ ईश्वर नहीं होते वरन् निरुक्त कहता है "**देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो-**

---

१. 'It was necessary, therefore, for the purpose of accurate reasoning to have a name different from polytheism, to signify this worship of single gods, each occupying for a time a supreme position, and I proposed for it the name of Katheno-theism, that is a worship of one God after another or of Henotheism, the worship of single God.'

—F. Max Muller. 'India what can It teach us ? P. 146–147. 1892.

२. **'यह उनकी (वेदज्ञों की) भारी भूल है जो देवता शब्द से ईश्वर का ग्रहण करते हैं।' सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १७५।**

भवतीति वा"[१] अर्थात् दान देने से देव है, प्रकाश करने से देव हैं, उपदेश व पालनादि करने से (माता, पिता) देव हैं, द्युस्थान अर्थात् सूर्यादि लोकों का भी जो प्रकाशक है, वह देव है। निरुक्त की इस व्याख्या के अनुसार हर उस पदार्थ को देव माना जा सकता है जिसमें उपरोक्त बताये गुणों में से एक भी हो। इस रूप में सूर्यादि पदार्थ मनुष्यमात्र को लाभकारी होने से देव की कोटि में आ जाते हैं, परन्तु इससे ये शरीरयुक्त अथवा उपासना के योग्य देवता नहीं है। हाँ ये सारे ही विशेषण परमात्मा में प्रयुक्त होने से **परमात्मा देवों का भी देव है** तथा समस्त व्यवहार के देव सूर्य, चन्द्र, रुद्र, मरुत् आदि को अपने शासन में रखने से **महादेव** कहलाता है। दयानन्द वेदों में दो प्रकार के देव, व्यावहारिक एवं उपासनीय मानते हैं। उनके मत में सूर्य, चन्द्र, रुद्र आदि व्यवहार के देव हैं तथा किसी भी रूप में उपासना का विषय नहीं है वरन् इनमें से कुछ पार्थिव हैं और कुछ प्रकृति की शक्तियाँ हैं तथा कुछ परमात्मा की शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा परमदेव संसार पर शासन करता है। वेदों में उपासना का विषय केवल एक परमात्मा है जिसको ऋषिगण अनेक नामों से पुकारते हैं। महर्षि दयानन्द के अनुसार वेदों में इसी परमदेव (परमात्मा) की उपासना का विधान है अन्य किसी देवता का नहीं।[२] वेदों में एकेश्वर की उपासना है या अनेक देवताओं की इस विषय पर वेदों से सीधा सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण ग्रंथ तो निश्चय ही पश्चिमी वेदज्ञों से अधिक प्रामाणिक होंगे और हम देखते हैं कि शतपथ ब्राह्मण स्पष्ट कहता है कि जो परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य देवता की उपासना करता है वह पशु के समान है।[३] इस रूप में दयानन्द वास्तविक वैदिक विचारधारा व भावना के बहुत समीप हैं।

वेदों में प्रायः इन्द्र, मरुत्, सूर्यादि देवताओं के लिये उन सभी विशेषणों

---

१. निरुक्त, ७–१५।

२. 'व्यवहार के देवताओं की उपासना कभी नहीं करनी चाहिए किन्तु एक परमेश्वर ही की करनी उचित है।' दयानन्द ग्रंथमाला, भा० २ पृ० ३३९।

३. योन्यां देवतामुपास्ते न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्॥ शतपथ ब्राह्मण १४–४–२, कन्डि १९, २२।

का प्रयोग किया गया है, जो परमात्मा के लिये ही उपयुक्त हैं। ऐसे ही स्थलों पर मैक्समूलर साहब को हीनोथियिज्म की भ्रान्ति हो गई प्रतीत होती है। जबकि तथ्य यह है कि वैदिक द्रष्टा ऋषि उस एक परमात्मा को अनेक नामों से पुकारते हैं और वे सब ईश्वर के गौणिक नाम हैं। दयानन्द कहते हैं कि जहां कहीं भी इन्द्र या किसी अन्य देवता को परमात्मा के लिये प्रयुक्त होने वाले सर्वशक्तिमान आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है, वहाँ उससे परमात्मा का ही बोध करना चाहिए क्योंकि केवल ईश्वर ही सर्वशक्तिमान है तथा वही उपासना का विषय है। आगे दयानन्द कहते हैं कि आर्य लोग सृष्टि के आरम्भ से ही इन्द्र, वरुण तथा अग्नि आदि नामों से वेदोक्त प्रमाण के अनुसार एक ही परमात्मा का ग्रहण करते रहे हैं तथा उसी की उपासना करते आये हैं। वेदों में किन-किन स्थलों पर इन्द्रादि देवताओं के नामों से परमात्मा का बोध करना चाहिये, इसकी कसौटी के रूप में दयानन्द हमें प्रकरण और विशेषण का नियम बताते हैं कि जिस-जिस स्थल पर वेदों के मन्त्रों में स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण दिये हैं, वहां पर देवताओं के नामों से परमेश्वर के अर्थ ग्रहण करने चाहिए क्योंकि सर्वज्ञत्व सनातनता, शुद्धता व सृष्टिकर्तृत्व आदि गुण केवल परमात्मा में ही हो सकते हैं।[1]

इस प्रकार दयानन्द हमें वेद की मूल भावना एकेश्वरवाद को समझाने के लिए, हमारे मार्गदर्शक के रूप में एक सूत्र दे देते हैं कि वेद में "अग्न्यादि नामों से मुख्य अर्थ परमेश्वर ही का ग्रहण होता है"[2] तथा 'जहां-तहां स्तुति, प्रार्थना उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण लिखे हैं वहीं-वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है।"[3]

वेद स्वामी दयानन्द के विचार का समर्थन करते हैं या नहीं, यह निष्पक्ष विचारक एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करने वाले निम्न मन्त्रों से स्वयं ही जान सकते हैं।

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५।
२. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५ सा० प्रे० संस्करण।
३. वही, पृष्ठ ५।

"इस सृष्टि में जो कुछ भी चर-अचर संसार है वह सब सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से व्याप्त है।"[१]

"वही (ज्ञान स्वरूप होने से) अग्नि है, (सबको ग्रहण करने से) वही आदित्य है, (अनन्त बलवान होने से) वही वायु है, (आनन्ददायक होने से) वही चन्द्रमा, (शुद्ध भाव युक्त होने से) वही शुभ (महान् होने से) वही ब्रह्म, (सर्वत्र व्यापक होने से) आप: और (सबका स्वामी होने से) वही प्रजापति भी है।"[२]

"हम लोग अपनी रक्षा के लिये उस ईश्वर की, जो जंगम और स्थावर सबका स्वामी है, बुद्धि का प्रेरक है, प्रार्थना करते हैं। वह परमात्मा हमारे धनों की वृद्धि के लिये होवे तथा किसी से न दबने वाले हमारे कल्याण के लिये रक्षक व पालक होवे।"[३]

"विद्वान मेधावी एक सद्रूप परमात्मा का अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं, उसी एक को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि और जो वह अलौकिक उत्तम ज्ञान और उत्तम कर्म वाला गौरवयुक्त है, इसी एक को ही यम और मातरिश्वा वायु भी कहते हैं।"[४]

"हे परमऐश्वर्य सम्पन्न परमेश्वर ! आप से भिन्न व द्युलोक में और न पृथ्वी पर हुआ और न होगा, घोड़े, हाथी आदि सवारियों की इच्छा रखते हुए दुग्धादिकों के लिये गौवों की इच्छा करते हुए, ज्ञान और अन्न बलादि युक्त होकर हम आपकी प्रार्थना उपासना करते हैं।"[५]

---

१. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किचं जगत्याञ्जगत्। यजु ४०।१।

२. तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः। यजु ३२।१।

३. तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वमवसेहूमहेवयम्।
पूषानो यथा वेद सामसद् वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥
ऋ० अ० १ अ० ६ व० १५ मं० ५।

४. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथोदिव्यः स सुपर्णो गरूत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधावदन्त्यग्निंयमं मातरिश्वानमाहुः। ऋ० १,१६४,४६।

५. न त्वा वां अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते। अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे। सामवेद उत्तरार्चिकः १-४-११।

"तब मृत्यु न थी, न जन्म था, न रात्रि से दिन को पहिचानने का कोई संकेत ही था। वह एक परमात्मा ही अपनी सूक्ष्म सृजन सामर्थ्य के साथ बिना श्वास प्रवास के रह रहा था और कोई वस्तु उससे परे या सूक्ष्म नहीं थी।"[१]

"वह परमात्मा पोषण करने वाला, वही धारण करने वाला, वही महाबली वायु है और सबका नायक अर्यमा है, वही सबसे श्रेष्ठ वरुण है, वह रुद्र है, वह महादेव है, वही अग्नि है, वही सूर्य है और निश्चय करके वही सबसे बड़ा न्यायकारी महायम है।"[२]

"वह परमात्मा समस्त संसार को विविध प्रकार से देखता है जो श्वास लेता है और नहीं भी लेता, उसको सब प्राप्त है। वह आप ही एक अकेला अपने आप में एक है। सारे देव इसी में एक रूप में स्थित हैं।"[३]

इस प्रकार के अनेक मन्त्र चारों वेदों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं जिनसे यह पता चलता है कि वैदिक मन्त्र स्पष्ट रूप से एकेश्वरवाद का ही प्रतिपादन करते हैं।

लेकिन दयानन्द के इस वेद-सम्बन्धी मत पर ग्रीसवोल्ड सरीखे पाश्चात्य और पाश्चात्यों का अन्धानुकरण करने वाले देशी विद्वान् तुरन्त कह देते हैं कि दयानन्द की वेदों की इस प्रकार की व्याख्या एकदम जंगली और अवैज्ञानिक है।[४]

---

१. न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रेकतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्मद्धान्यन्न परः किञ्चनास॥
ऋ० अ० ८ अ० ७ व १७ म० २।

२. सधाता सविधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम्। सोऽर्यमा स वरुणः सरुद्रः स महादेवः। सोऽग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः।
अथर्व० १३-४-३, ४, ५।

३. ससर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न। तमिदं नि गतं सहः स एष एक एकवृदेक एव। सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति।
अथर्व० १३-४-१९-२०-२१।

४. 'The Religion of the Rigveda' p. 109-110. by Griswold.

ग्रीसवोल्ड का यह अपलाप वेदों की शब्दावली को न समझने के कारण ही है तथा उसके अज्ञान का परिचायक है। ब्राह्मण, उपनिषद् व निरुक्त आदि ग्रन्थों में वैदिक शब्दों की यथेष्ट व्याख्या मिल जाती है और दयानन्द ने अपनी विधि इन्हीं से ली है। क्या स्वामी दयानन्द का वेदभाष्य जंगली व अवैज्ञानिक है? ग्रीसवोल्ड द्वारा लगाये इस आरोप का उत्तर हम श्री अरविन्द के शब्दों में यहां दे रहे हैं। "बिल्कुल नहीं, यह तो स्वयं वेद का कहना है कि 'एक ही को विद्वान ध्यान रखो मूर्ख नहीं—कई प्रकार से कहते हैं कभी इन्द्र, कभी यम, कभी मातरिश्वा और कभी अग्नि।"[1] इसके प्रत्युत्तर में पश्चिमी विद्वानों का कथन है कि वेद के वे मन्त्र जो एक ईश्वर के दर्शक हैं, बाद के बनाये हुए हैं। इतना ऊंचा विचार जो कि अत्यन्त स्पष्ट है या तो किसी तरह से बाद के आर्यों के मस्तिष्क में पैदा हुआ होगा अथवा उन अज्ञानी, अग्निपूजक, सूर्यपूजक, आकाशपूजक, आर्यों ने इस देश के मूल निवासी तथा अपने के पूर्व बसने वाले सुसंस्कृत दार्शनिक प्रतिभायुक्त द्राविडों से लिया होगा। **पाश्चात्य विद्वानों की यह कल्पना बड़ी धृष्टतापूर्ण है। उन्हें वेद के सम्बन्ध में साधारण ज्ञान भी न था। वेद के अध्ययन में इनका मुख्य तात्पर्य वेदों की प्रतिष्ठा को गिराना मात्र था। जिसे वे हर कीमत पर करने को तैयार थे।**

जहाँ तक पश्चिमी वेदज्ञों के पहिले आक्षेप का प्रश्न है, हम पिछले कुछ पृष्ठों पर दिखा आये हैं कि एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करने वाले मन्त्र वेदों में हर स्थान पर मिलते हैं यथा 'तमीशानं जगतस्तथुषस्पतिं' ऋ०अ० १ अ० ६ व० १५ मं० ५ तथा "एकं सद्विप्रा बहुधावदन्ति···" ऋ० १/१६४/४६ यह दोनों मंत्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के हैं। फिर हमारी समझ में नहीं आता कि पश्चिमी विद्वानों ने ऐसा बेहूदा तर्क कैसे दे दिया। दूसरे उनका यह कहना है कि आर्यों ने एकेश्वरवाद द्रविणों से लिया होगा, एक अनर्गल प्रलापमात्र है। पहिले तो भारतवर्ष में आर्यों से पूर्व द्रविणों का होना सन्दिग्ध है, दूसरे यदि दुर्जन तोष न्याय से मान भी लिया जाये, तो अभी तक उनके किसी उच्चकोटि के

१. 'Bankim Tilak Dayananda' by Shri Aurobindo, p. 55-56 third reprint. 1955.

धार्मिक विचारों व दर्शन का परिचय तक नहीं मिला है क्योंकि सिन्धु घाटी की खुदाई में प्राप्त मोहरों की लिपि अभी तक सफलतापूर्वक पढ़ी ही नहीं गयी है। तब इन विद्वानों ने पता नहीं आर्यों के लिपिबद्ध ज्ञान को द्रविणों के संदिग्ध ज्ञान से कैसे जोड़ दिया। वास्तव में यह सब पश्चिमी विद्वानों की कल्पनामात्र है। ये वेदों में अपने पूर्वाग्रहों को शक्तिपूर्वक लादना चाहते हैं। इसी कारण वे वेदों में कहीं बहुदेवतावाद को देखते है तो कहीं हीनोथीयिज्म को और कहीं गाथाशास्त्र को।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि वेद एकेश्वरवादी हैं, तथा इनमें प्राप्त एकेश्वरवाद उपनिषदों के ब्रह्मवाद के समान है, और दयानन्द वेदों के विषय में सायण व पश्चिमी विद्वानों से अधिक युक्तिसंगत हैं।

ब्रह्म

वेदों में ऐसे मंत्रों की कमी नहीं है जिनमें एक ऐसी परम सत्ता का निरूपण किया गया है, जो सारे संसार का अनुपम पति और सब भुवनों का एक ही स्वामी है।[1] इसी परमसत्ता का वर्णन 'परम पुरुष' 'सृष्टि का अध्यक्ष' 'देवों का देव' तथा 'ब्रह्म' आदि नामों से अनेक मंत्रों में पाया जाता है।'[2]

अब तक के अधिकतर वैदिक विद्वान—विशेषरूप से आधुनिक काल के

---

१. "पतिर्बभूथासमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा।"
ऋ० ६। ३६। ४

२. "सूत्र सूत्रस्य यो विद्यात्स विद्यात्ब्राह्मणं महत्।
अथर्व वेद १०। ८। ३७

"यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्मजना विदुः। यसच्च यत्र सच्चान्त स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।" अथर्ववेद १०। ७। १०।

"ब्रह्माणं ब्रह्मवाहसं गीर्भिः सखायमृग्मियम्। गां न दोहसें हुवे।"
ऋ० ६-४५-७।

'रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन्। यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे:।' यजु० ३१-२१।

"ओ३म् खं ब्रह्म।" यजु० ४०। १७।

पश्चिमी वेदज्ञ यह मानते चले आये हैं कि वेदों में ब्रह्म-विद्या नहीं है, ब्रह्म-विद्या का विकास वेद के बाद वेदान्त अर्थात् उपनिषदों में हुआ है।"[१]

लेकिन दयानन्द का विचार इसके विररीत है उनकी तो यह मूल धारणा है कि "वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर के ही प्राप्त कराने और प्रतिपादन करने में है।"[२] वह कहते हैं कि "सब वेद वाक्यों में ब्रह्म का ही प्रतिपादन है कहीं साक्षात् रूप से और कहीं परम्परा से।"[३] दयानन्द अपने इस कथन की पुष्टि में उपनिषदों के प्रमाण देकर यह सिद्ध करते हैं कि उपनिषद भी वेदों में ब्रह्म का ही वर्णन बताती हैं। कठोपनिषद कहता है ,'सारे वेद जिसे गाते वह ओ३म् है।"[४] यही नहीं बल्कि ब्रह्म-विद्या का मूल्यरूपेण व्याख्यान करने वाला वेदान्त दर्शन भी स्पष्ट कहता है "वेदों में ब्रह्म का वर्णन पाया जाता है।"[५]

वेदों में ब्रह्म का स्वरूप—वेद किसी ऐसे ईश्वर से सन्तुष्ट नहीं हो सकते, जिससे अधिक शक्तिशाली कोई और देव हो अथवा उसके बराबर की कोई अन्य शक्ति हो। इनमें ब्रह्म को सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक व सर्वज्ञादि विशेषणयुक्त कहा गया है। यही सृष्टि का अध्यक्ष है जो कल्प के आदि में सृष्टि का निर्माण करता है। सृष्टिकाल में पालन करता है तथा प्रलयकाल में संहार कर अपने में लीन कर लेता है। इस परमदेव परमात्मा की ही शक्ति से सूर्यादि पदार्थ अपने-अपने कार्यों में लगे रहते हैं।

---

१. "The conception of Brahaman which has been the highest glory for the Vedanta philosophy of later days had hardly emerged in the Rigveda from the association of the sacrificial mind" ! S. N. Das Gupta 'A History of Indian philosophy." Vol. 1, p. 20 printed 1922

२. दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग २ पृष्ठ ३१४।

३. वही, पृ० ३१३।

४. 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।' कठोपनिषद् १-२-१५।

५. 'तत्तुसमन्वयात्'। वेदान्तदर्शन १-२-४॥

जिस किसी भी सत्ता को सर्वशक्तिमान माना जाता है उसको निराकार और सर्वव्यापक मानना आवश्यक है। वेद आलंकारिक भाषा में परमात्मा की व्यापकता व निराकारत्व का वर्णन करता है कि 'निश्चय ही आप सर्वत्र मुख वाले हैं सब ओर से सबको देख रहे हैं, आप सर्वत्र व्यापक हैं।"[1] 'उसकी महिमा इतनी महान् है कि यह समस्त ब्रह्माण्ड इस परमपुरुष की महिमा के सम्मुख कुछ भी नहीं है बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि मानो सारी सृष्टि उसके एक पाद (अंशमात्र) में वर्तमान है बाकी तीन अमृतमय हैं'[2] जहां संसार नहीं है। ब्रह्म के भाग विशेष नहीं हैं क्योंकि वह सर्वव्यापक है। परन्तु वेद में गम्भीर रहस्यों को रूपकों व अलंकारों के द्वारा बताया गया है। ज्ञान को समझाने की यह प्रणाली, भाषा द्वारा परम तत्त्व के निरूपण में असमर्थता के कारण वैदिक द्रष्टाओं से अपनाई थी। ब्रह्म की सर्वव्यापकता वेद इससे अगले मन्त्र में स्पष्ट कर देता है कि "ब्रह्म इन चारों पादों से भी अतिरिक्त है जिसकी कोई सीमा नहीं है।"[3]

महर्षि दयानन्द के अनुसार चारों वेद इसी एक अद्वितीय परमात्मा की उपासना का आदेश करते हैं। वेदों में एक ब्रह्म की उपासना शुरू से लेकर अन्त तक भरी पड़ी है। अथर्व वेद कहता हैं 'जो प्रकाशस्वरूप सूर्य जिसकी त्वचा है जो देवताओं (अग्नियादि) के कारण होने वाले दुःखों को दूर करने वाला पूजनीय देव है। वह जगत् का पालक तथा स्वामी एक ही नमस्कार करने योग्य है, सेवा करने योग्य है वह हमको सुख देवे।"[4] मुमुक्षु लोग संसाररूपी समुद्र से पार उतर दुःखों से छूटने के लिये इसी देव की उपासना करते हैं जिससे वह मृत्यु से छूट जाते हैं। वेद निश्चयपूर्वक यह घोषणा करता हैं कि 'उस आदित्य वर्ण

१. 'त्वं हि विश्वतो मुख विश्वतः परिभूरसि'। ऋ० १-९७-६

२. 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।' यजु ३१-३

३. 'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः। ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि।' यजु० ३१-४।

४. 'दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्यत्वगवयाता हरसो दैव्यस्य। मृडाद् गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एवं नमस्यः सुशेवाः। अथर्व वेद २-२-२।

वाले ब्रह्म को जान कर मृत्यु से छूटा जा सकता है, इसके अतिरिक्त मृत्यु के बन्धन से छूटने का और कोई मार्ग नहीं है।"[१] उपरोक्त संक्षिप्त विवेचन से अब यह स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द के इस कथन में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है कि वेद ब्रह्म-विद्या के ग्रन्थ हैं तथा उपनिषदों में ब्रह्म-विद्या वेदों से ही ली गई है।

सृष्टि-रचना

वेदों में सृष्टि रचना के विषय में अत्यन्त जिज्ञासापूर्ण वचन मिलते हैं। वेद के मन्त्र स्वयं ही यह प्रश्न उठाते हैं कि इस जगत का आश्चर्यरूप आधार क्या है? तथा इसकी रचना का आरम्भ-कारण अर्थात् उपादान सामग्री क्या हैं? और वह किस प्रकार से है, जिससे जगत् का सृष्टा जगदीश्वर भूमि तथा सूर्यादि लोकों को उत्पन्न करता हुआ उन्हें अपनी महिमा से विविध प्रकार से आच्छादित करता है।[२] परन्तु वेद की इस जिज्ञासापूर्ण भाषा से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वैदिक द्रष्टा ऋषि सृष्टि-रचना के विषय में संदेहास्पद स्थिति में थे और उनको इसके रचयिता एवं उपादान का पता नहीं था। यह तो वेदों की भाषा एवं पद्धति की विशेषता है कि वह पहिले प्रश्न करते हैं और फिर उत्तर देते हैं। इससे अगले ही मन्त्र में उपरोक्त प्रश्नों का उत्तर हमें मिल जाता है कि 'सर्वत्र जिसकी दर्शन शक्ति है, सर्वत्र जिसका उपदेश हो रहा है, जो सब प्रकार से पराक्रमयुक्त है और सर्वत्र जिसकी व्याप्ति है वह अद्वितीय परमात्मा देव परमाणुओं से पृथ्वी व द्यूलोकों की रचना करता हुआ अपने अनन्त पराक्रम से सब जगत को सम्यक् प्राप्त होता है।[३]

---

१. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। यजु० ३१-१८।

२. 'किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमस्वित्कथासीत्।
यतो भूमिंजनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः।'
यजुर्वेद १७-१८

३. 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः। यजुर्वेद १७-१९
(देखिये महर्षि दयानन्द कृत यजुर्वेद भाष्य।)

दयानन्द के विचार में वेदों में परमात्मा को सृष्टि का रचयिता माना है, जिसकी महिमा व पराक्रम अपार हैं।[1] कहीं-कहीं तो वेद, उपनिषदों जैसी स्पष्टता से परमात्मा को सृष्टि का अध्यक्ष मानते हैं। परमात्मा जगत के भीतर भी व्याप्त है और सृष्टि से परे भी है अर्थात् यह सान्त सृष्टि उस परम पुरुष के सम्मुख कुछ भी नहीं है। वेद कहता है कि असीम सा दीख पड़ने वाला यह ब्रह्माण्ड उस परम देव के केवल एक भाग में स्थित है तथा तीन भाग अमृतमय हैं।[2] परन्तु परमात्मा की महिमा केवल इन चार पादों तक ही सीमित नहीं है वरन् वह इससे भी अनन्त गुना अधिक है।[3] इन मन्त्रों से पता चलता है कि वेद सृष्टि को असीम नहीं मानते वरन् परमात्मा को अनन्त मानते हैं जो सृष्टि में व्याप्त है। वेदों की इस विचारधारा में पश्चिमी ईश्वरवाद (Deism) की सी कमियें नहीं हैं, क्योंकि वेदों के ईश्वरवाद में ईश्वर जगत का निर्माण कर कहीं चला नहीं जाता परन्तु वेदों के अनुसार ईश्वर सृष्टि में व्यापक है और अनन्त होने से सृष्टि से परे भी है। पश्चिमी ईश्वरवाद (Deism) के अनुसार ईश्वर सृष्टि की रचना शून्य से करता है और सृष्टि रचकर सृष्टि से दूर चला जाता है। महर्षि दयानन्द को वेद के सम्बन्ध में यह दोनों बातें मान्य नहीं हैं क्योंकि प्रथम तो शून्य से सृष्टि का निर्माण तर्करहित एवं कोरी कल्पनामात्र है, इसके अतिरिक्त सृष्टि रचकर ईश्वर का सृष्टि से दूर चला जाना इस बात का द्योतक है कि ईश्वर अनन्त व सर्वव्यापी नहीं है और जो सत्ता सर्वव्यापक नहीं है वह सर्वज्ञ भी नहीं हो सकती। ऐसे पुरुष या शक्ति को, जो न सर्वव्यापक है और न सर्वज्ञ ईश्वर नहीं कहा जा सकता। इसके अलावा कुछ विद्वानों का मत है कि वेद में सर्वेश्वरवाद (Pantheism) है। सर्वेश्वरवाद '(Pantheism) कहता है

---

१. 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्'। ऋ० मं० १० सू० १२१ मं० १ सत्यार्थप्रकाश २०८ पर दयानन्द द्वारा उद्धृत।

२. 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्य अमृतम् दिवि।' यजु० ३१-३ दयानन्द ग्रंथमाला भा० २ पृ० ४०६ पर उद्धृत।

३. 'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः। ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि।' यजुर्वेद ३१-४

कि ईश्वर ही सब कुछ है अर्थात् ईश्वर की सृष्टि है और ईश्वर ही निर्माता है।[१] महर्षि दयानन्द इसको भी वेद का सही मत नहीं मानते। स्वामी जी की इसमें आपत्ति यह है कि वेदों में परमात्मा को शुद्ध, दृष्टा एवं अपरिणामी कहा है।[२] फिर वह कैसे अपने को सृष्टि के रूप में परिवर्तित करेगा। वह क्यों ज्ञानी से अज्ञानी, आनन्दरूप से दुःखी एवं सत्यरूप से असत् रूप बनना चाहेगा? परमात्मा चेतन है परन्तु सृष्टि जड़ है, परमात्मा सर्वज्ञ है परन्तु सृष्टि ज्ञानरहित है, परमात्मा आनन्द हैं परन्तु सृष्टि आनन्दरहित है। इससे सृष्टि का उपादान ईश्वर नहीं हो सकता।

ईश्वर सृष्टि का निमित्त कारण है—महर्षि दयानन्द के विचार से वेदों में ईश्वर को सृष्टि का निमित्त कारण माना गया है। परमात्मा पूर्व विद्यमान प्रकृति से सृष्टि की उत्पत्ति करता है। ठीक उसी प्रकार जैसे कुम्हार बर्तन बनाने के लिये मिट्टी का प्रयोग करता है। जैसा कि एक वेद मन्त्र में कहा भी है कि 'दो सुपर्ण अर्थात् ब्रह्म और जीव एक ही प्रकृति रूपी वृक्ष पर मित्रतायुक्त साथ-साथ रहते हैं। इनमें से एक (जीव) कर्मफलों का भोग करता है तथा दूसरा (परमात्मा) भोग न करता हुआ केवल उनका प्रकाश करता हैं।'[३] इस मंत्र में द्रष्टा ऋषि तीन अनादि तत्त्वों का संकेत करता है, एक ईश्वर (ब्रह्म) जो सृष्टि का निमित्त कारण है, दूसरा जीवात्मा जिसके भोग के लिये सृष्टि का निर्माण हुआ है तथा तीसरी प्रकृति जो कि सृष्टि की निर्माण सामग्री होने से सृष्टि का उपादान कारण है। दार्शनिक रूप में हम इसी को मूल प्रकृति अथवा प्रकृति

---

1. 'Pantheism is the doctrine that God is all and all is God'. 'Introduction to Philosophy" p. 387 by Patrick—(Revised Edition).

२. देखिये ऋ० ८-९५-७; १-१६४-२०; १-१६४-३९।

३. 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाक शीति॥'

ऋ० १-१६४-२०

की अव्यक्तावस्था भी कह सकते हैं। इसी को सांख्यों ने सत्व-रज व तम की साम्यावस्था वाली अव्यक्त प्रकृति कहा है और स्वामी दयानन्द इसी को परमेश्वर की सामर्थ्य भी कहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी दयानन्द वेदों में प्रकृति के अस्तित्व को बताकर, इन ग्रन्थों को यथार्थवाद की शिला पर लाकर खड़ा कर देते हैं जिसे आगे चलकर हम देखेंगे कि शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित तथा उनके विचार से उपनिषद् सम्मत अद्वैतवाद से लोहा लेना होगा। चाहे आचार्य शंकर ने वेदों को न भी छुआ हो, परन्तु उपनिषदों के सम्बन्ध में वही दार्शनिक व्याख्या सही हो सकती है, जो वेदों की संहिताओं से भी मेल खाती हो। क्योंकि हम देखते हैं कि सब उपनिषदें वेदों को स्वतः प्रमाण मानती हैं, अतः वह मूल वेदों की भावना के विरुद्ध कैसे जा सकती हैं? स्वामी दयानन्द के अतिरिक्त वेदों में प्रकृति के अनादित्व को डा० राधाकृष्णन सरीखे विद्वान स्वीकार तो करते हैं।[१] परन्तु उनकी यह स्वीकारोक्ति दबी हुई भाषा में होने के कारण वैदिक दर्शन के लिये किसी लाभ की नहीं है।

सृष्टि उत्पत्ति वृत्तान्त (नासदीय सूक्त)—सृष्टि बनने से पूर्व प्रलयावस्था में प्रकृति का क्या रूप था, वह किसमें स्थित थी, अव्यक्तावस्था से निर्माण की दिशा उसे किसने दी तथा सृष्टि-निर्माण के क्रम में किन-किन पदार्थों की कैसे-२ उत्पत्ति हुई, इस सब सृष्टि-विद्या का विवरण जितना ऊंचा परन्तु अत्यन्त रहस्यात्मक रूप में वेद के नासदीय सूक्त में मिलता है ऐसा मेरी दृष्टि में किसी भी ग्रन्थ में नहीं आया। यह सूक्त इतना गंभीर एवं निर्देशात्मक है कि बौद्धिक स्तर तक रहने वाले विद्वानों के लिए तो इसमें पहेलियां ही पहेलियां हैं, शायद कोई योगी ही उनको समझ सकता है। प्रलयकाल की अवस्था का वर्णन करते

---

1. 'In X: 121 we have an account of the creation of the world by an omnipotent God out of pre-existent matter.' Indian Philosophy V. 1 p. 100 by Dr. S. Radhakrishnan, Reprinted Indian Edition 1951.

हुए वेद कहता —

(१) उस समय न असत् था और न सत् परमाणु से भरा अन्तरिक्ष भी नहीं था और न परे का आकाश ही था। उस समय कहां क्या ढका हुआ था और किसके आश्रय से था ? क्या बड़ा गंभीर पानी उस समय था ?[1]

(२) तब न मृत्यु थी न जीवन, न रात थी न दिन। वह एक (परमात्मा) अपनी शक्ति से ही अथवा स्वधा = प्रकृति के साथ विना प्राणवायु के प्राण कर रहा था और उससे परे (श्रेष्ठ) कुछ न था।[2]

(३) (प्रारम्भ में सब कुछ) अन्धकार था और अन्धकार से व्यापी अव्यक्त प्रकृति थी, और यह सब अज्ञेय अवस्था में जल के समान एकाकार था। जो तुच्छ था (परमात्मा के सम्मुख प्रकृति तुच्छ है) वह परमात्मा के तप से एक अर्थात् व्यक्त होने लगा।[3]

(४) इस पूर्व समय में मन का रेत: जो पहले था उसके ऊपर काम अर्थात् संकल्प हुआ। ज्ञानी लोगों ने जान लिया कि असत् में सत् का भाई-पन था।[4]

(५) इन तीनों का किरण तिरछा फैला, नीचे भी आश्चर्यकारी था और ऊपर भी आश्चर्यजनक। वीर्य के धारण करने वाले थे, बलशाली (जीव)

---

१. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नोव्योमाऽपरोयत्।
किमावरीव: कुहकस्य शर्म्मन्नम्भ: किमासीद्गहनं गम्भीरम्॥

ऋ० १०-१२६-१

२. न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेत:।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न पर: किञ्चनास॥

ऋ० १०।१२६।२

३. तम आसीत्तमसा गूढहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्। ऋ० १०।१२६।३

४. कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत: प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कव्यो मनीषा। ऋ० १०।१२६।४।

महान् थे। इधर आत्मा की धारणा शक्ति थी और परे प्रयत्न का बल था।[1]

(६) वास्तव में कौन जानता है और कौन कह सकता है कि कहाँ से बनी और कहां से यह विविध प्रकार की सृष्टि हुई है? देव (अर्थात् विद्वान व सूर्यादि दिव्य पदार्थ) भी बाद में बने। अब कौन यह जानता सकता है, कहां से यह सृष्टि बनी?[2]

(७) जिससे यह विविध प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हुई वही इसको धारण करता है, यदि न करे (तो सृष्टि विनष्ट हो जाय, यहां पर वा निश्चय अर्थ में है।) जो परम व्योम में इसका अध्यक्ष (परमात्मा) है, हे मित्र जीव उसे जान यदि न जानेगा (तो विनष्ट हो जायेगा)।[3]

(इन मन्त्रों के अर्थ प्रायः स्वामी दयानन्द के ग्रंथों से लिये गये हैं जिन पर उनके अर्थ उपलब्ध न हो सके, वे विद्वानों के ग्रंथों से लिये हैं। स्वामी जी का भाष्य केवल मन्त्र १–२–३ व ७ पर मिलता है।)

उपरोक्त मन्त्रों में से पहले मन्त्र पर भाष्य करते हुए दयानन्द लिखते हैं कि इस प्रलयावस्था में असत् अर्थात् दृश्यमान जगत् नहीं था (परिवर्तनशील होने से व्यावहारिक जगत् को यहां असत् कहा है) और सत् अर्थात् अव्यक्त प्रकृति भी नहीं थी, उस अवस्था में परमाणु भी नहीं थे। यहाँ पर यह संशय उत्पन्न होता है कि जब उस अवस्था में सत्व, रज व तम की अव्यक्त प्रकृति भी नहीं थी तब प्रकृति को अनादि कैसे माना जाय? यह प्रश्न उचित ही है। यहां पर महर्षि दयानन्द का यह कहना है कि प्रकृति अतीव सूक्ष्म होकर परमात्मा की

१. तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः। स्विदासी३दुपरिस्विदासी३त्। रेतोधाआसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्। ऋ० १०।१२९।५

२. को अद्धावेद क इह प्रवोचत्कुतआजाता कुतइयं विसृष्टिः। अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आ बभूव। ऋ० १०।१२९।६

३. इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद। ऋ० १०–१२९–७

सामर्थ्य में विद्यमान थी।[१] प्रकृति का परमात्मा की सामर्थ्य में लीन होने से दयानन्द का तात्पर्य उसके अभाव से नहीं है बल्कि अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था से है, जो सम्भवत: सांख्यों के प्रधान से भी सूक्ष्म हो। लेकिन जगत् के उपादान की सामग्री के रूप में प्रकृति अवश्य विद्यमान थी। प्रलयावस्था में प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्म होकर परमात्मा की सामर्थ्य में लीन भाव से रहती थी। तीसरे मन्त्र में 'अप्रेकतं सलिलं' का अर्थ अनेक विद्वानों ने गम्भीर अस्पष्ट पानी के रूप में किया है। इनका मत है कि प्रकृति आरम्भ में अस्पष्ट समुद्र के रूप में थी जिसे अन्धकार ने आवृत्त कर कर रक्खा था।[२] लेकिन इस मन्त्र में पहले ही कह दिया है कि अव्यक्त प्रकृति तम से व्यापी हुई थी। यहां पर 'अप्रेकतं सलिलं' कहकर अस्पष्ट गम्भीर जलों से प्रकृति की केवल तुलनामात्र की गई है इससे इन विद्वानों का मत, कि आरम्भ में प्रकृति समुद्र के रूप में थी, भ्रान्त है। प्रकृति की इस प्राक् अवस्था में मृत्यु कैसे हो सकती थी। सूर्य, चन्द्रादि सितारों के न होने से दिन रात भी नहीं थे। परमात्मा के ईक्षण[३] तथा तप से असत् (अव्यक्त) प्रकति सत् (व्यक्त) अवस्था की ओर अग्रसर होने लगी। प्रकृति की पूर्वावस्था इतनी गम्भीर व अस्पष्ट थी कि विद्वान् भी उसके विषय में कुछ नहीं बता सकते और न ही सूर्य, चन्द्रादि चमकीले पदार्थों के आधार पर कोई गणना की जा सकती है, क्योंकि इनकी उत्पत्ति सृष्टि में बहुत बाद में जाकर हुई है। सातवें मन्त्र के अर्थ कुछ भारतीय व पश्चिमी भाष्यकारों ने इस प्रकार

---

१. "किन्तु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परम कारण संज्ञकमेव तदानीं समवर्त्तत।" दयानन्द ग्रन्थमाला भाग २, पृ० ४०१।

२. (i) "Darkness and space enveloped the undifferentiated water." Vedic Mythology. By A. A. Macdonell.

(ii) "Darkness there was in the beginning all this was a sea without a light." Rigveda X. 129

—Max Muller.

३. 'ईक्षण शब्द का प्रयोग ऐतरेय उपनिषद में परमात्मा के स्वभाव के लिये किया गया है।' "स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।"

ऐ० उपनिषद, अ० १, खण्ड १, मं० १।

किये हैं कि सृष्टि का अध्यक्ष परमात्मा इसे धारण भी करता है या नहीं तथा वह इसे जानता भी है या नहीं। परन्तु दयानन्द के विचारानुसार इस मन्त्र में इस प्रकार की शंका नहीं की जा सकती क्योंकि पूर्व के मन्त्रों में यह स्पष्ट कहा गया है कि परमात्मा सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व ही विद्यमान था तथा उसी के संकल्प व तप से मूल प्रकृति से सृष्टि रचना का कार्य प्रारम्भ हुआ, तब क्या परमात्मा यह नहीं जानता होगा कि सृष्टि उत्पत्ति क्रम कहां से प्रारम्भ हुआ। यह तो साधारण मस्तिष्क भी समझ सकता है कि जिसने सृष्टि का निर्माण किया है वह इसके क्रम को भली-भाँति जानता ही है। अतः हमें इस विषय में स्वामी दयानन्द का भाष्य सर्वथा सुसंगत लगता है। इसके अतिरिक्त 'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद' का स्वामी दयानन्द अर्थ इस प्रकार करते हैं, 'जिस परमेश्वर के रचने से जो यह नाना प्रकार का जगत् उत्पन्न हुआ है, वह ही इस जगत् को धारण करता, नाश करता और मालिक भी है। हे मित्र लोगों! जो मनुष्य उस परमेश्वर को अपनी बुद्धि से जानता है, वही परमेश्वर को प्राप्त होता है, जो उसको नहीं जानता वही दुख में पड़ता है।'[1] दयानन्द इस मन्त्र में दोनों स्थलों पर 'वा' को निश्चयार्थ मे लेते हैं जब कि पश्चिमी भाष्यकार इसको संशयार्थ में ग्रहण करते हैं।[2]

पुरुष सूक्त में सृष्टि वर्णन—नासदीय सूक्त के अतिरिक्त यजुर्वेद के पुरुष-सूक्त में भी सृष्टि उत्पत्ति का वृत्तान्त पाया जाता है। सूक्त बताता है कि परमात्मा ने ब्रह्माण्ड को इक्कीस प्रकार की सामग्री से रचा और एक-एक लोक के चारों ओर सात-सात परिधियों का निर्माण किया।[3] सूर्य, चन्द्र, भूमि आदि

---

१. "प्रलयावसरे सर्वस्यादिकारणे परब्रह्म सामर्थ्ये प्रलीना च भवति। (सोध्यक्षः) स सर्वाध्यक्षः परमेश्वरोऽस्ति। (अंगवेद) हे अंग! मित्र जीव! तं यो वेद स विद्वान् परमानन्दमाप्नोति। यदि तं सर्वेषां मनुष्याणां परमिष्टं सच्चिदानन्दादिलक्षणं नित्यं कश्चिन्नैव वेद, वा निश्चयार्थे, स परमं सुखमपि नाप्नोति।" दयानन्द ग्रन्थमाला भाग २, पृ० ४०९।

२. वही, पृ० ४१८।

३. "एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघमण्डल का वायु, चौथा वृष्टि जल और पाँचवां वृष्टि और जल के ऊपर एक प्रकार का वायु, छटा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिसको धनञ्जय कहते हैं, सातवाँ सूत्रात्मा वायु जो कि धनञ्जय से भी सूक्ष्म है। ये सात परिधि कहाते हैं।" वही पृ० ४१८।

पदार्थों की रचना कर पश्चात् जीवधारियों के शरीरों की पृथक-पृथक जाति के अनुसार रचना की, यथा मनुष्य, घोड़ा, गौ इत्यादि। सब प्रकार के अन्न, जल आदि भूमि व अन्तरिक्ष में पैदा किये और ग्राम व वनों में रहने वाले पशु भी उत्पन्न किये।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से प्रतीत होता है कि सृष्टि-उत्पत्ति-विद्या वेदों में अत्यन्त वैज्ञानिक रूप में मिलती है। इसके अतिरिक्त रूपक व अलंकारों के रूप में सृष्टि का काफी वर्णन और भी मिलता है। स्वामी दयानन्द इन सब को यौगिक अर्थों से सहज ही वैज्ञानिक रूप दे देते हैं।

पुनर्जन्म, कर्म व कर्मफल

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि दयानन्द के विचार से वेदों में जीवात्मा, परमात्मा से भिन्न एवं अनादि है। आत्मा को शाश्वत मानने पर पुनर्जन्म और पुनर्जन्म के हेतु कर्म सिद्धान्त को मानना आवश्यक हो जाता है।

प्रयोजनवाद का अर्थ है कि सृष्टि का कोई उद्देश्य है। वेद के अनुसार ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण निष्प्रयोजन नहीं किया है। दयानन्द के विचार से सृष्टि का प्रयोजन जीव के लिये भोग व मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करना है। ईश्वर जीव के शुभ व अशुभ कर्मों के फलभोग तथा भविष्य में शुभ कर्मों द्वारा मोक्ष प्राप्ति के लिये सृष्टि का निर्माण करता है। मोक्ष प्राप्ति से पूर्व जीव अपने कर्मों के फल भोगने के लिये संसार में पुनः पुनः जन्म धारण करता रहता है।

पुनर्जन्म—कतिपय विद्वान् वेदों में पुनर्जन्मवाद को स्वीकार नहीं करते। वेदों में पुनर्जन्मवाद पर लिखते हुये डा० राधाकृष्णन् कहते हैं कि वैदिक आर्यों के मस्तिष्क में इह-जीवन ही सब कुछ था, अतः उन्हें मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म पर विचार करने में कोई रुचि न थी। राधाकृष्णन आगे कहते हैं कि वेद के आर्यों के पास पुनर्जन्म के विषय में कोई निश्चित सिद्धान्त न था। हाँ मृत्यु के पश्चात जीवन के बारे में वे अवश्य विचार करते थे परन्तु स्वर्ग व नरक के रूप में। आपके विचार से जीव को मृत्यु के पश्चात स्वर्ग अथवा नरक की

प्राप्ति होती है जहां यम का शासन है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि डा० राधाकृष्णन् वेद-सम्बन्धी अपने विचारों में विशुद्ध रूप से पश्चिमी वेदज्ञों पर आश्रित हैं। इसके विपरीत महर्षि दयानन्द वेदों में पुनर्जन्मवाद को पूर्णरूप से स्वीकार करते हैं। दयानन्द पुनर्जन्म सम्बन्धी वेद मन्त्रों का भाष्य करते हुये कहते हैं "हे सुखदायक परमेश्वर आप कृपा करके पुनर्जन्म में हमारे बीच में उत्तम नेत्र आदि सब इन्द्रियों का स्थापन कीजिये तथा प्राण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, बल, पराक्रम आदि युक्त शरीर पुनर्जन्म में कीजिये।"[2] इस मन्त्र में स्पष्ट ही पुनर्जन्मवाद का उल्लेख है। चारों वेदों में ऐसे मन्त्र एक नहीं अनेक हैं। यजुर्वेद कहता है '**पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्**।'[3] अर्थात् हे परमेश्वर, जब-जब हम जन्म लेवें, तब-तब हमको शुद्ध मन, पूर्ण आयु, आरोग्यता, प्राण कुशलतायुक्त जीवात्मा, उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हों। इसी प्रकार अथर्ववेद में कहा है "**पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च**।'[4] अर्थात् हे प्रभो हमें आपकी कृपा से पुनर्जन्म में मन सहित ग्यारह इन्द्रियें प्राणों को धारण करने सामर्थ्ययुक्त आत्मा, धन एवं वेद का ज्ञान प्राप्त हो।

वेदों के उपरोक्त मन्त्रों से स्पष्ट हो जाता है कि पुनर्जन्मवाद का सिद्धान्त

---

1. "They had no special doctrine about life after death though some vague conceptions about heaven and hell could not be avoided by reflective minds. Rebirth is still at a distance." I. P. vol. I. p. 113–114, Dr. S. Radhakrishnan, India Ed. 1940 Reprinted 1951.

२. '**असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्**।'
(ऋ० अ० ८ अ० १ व० २३ मं० १)
(इस मन्त्र पर दयानन्द का भाष्य। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० २१८, २१९ सं० १९८५ अजमेर संस्करण)

३. देखिये यजु० ४–१५।

४. अथर्व वेद, कॉं० ७ सूक्त ६७ मं० १।

वेदों से ही चला आ रहा है तथा पश्चिमी वेदज्ञों एवं उनका अनुकरण करने वाले आधुनिक भारतीय वेदज्ञों के इस मत में कोई सार नहीं है कि वेद में पुनर्जन्म का विचार नहीं है और पुनर्जन्मवाद बाद में उपनिषदों व दर्शन ग्रंथों में विकसित हुआ है। हमारे विचार से उपनिषदों में जो पुनर्जन्मवाद आता है उसका मूल स्रोत वेद ही है और यहां दयानन्द अन्य किसी भी वेदज्ञ से अधिक तर्कसंगत एवं वेद के वास्तविक दर्शन के अनुरूप हैं।

कर्म व कर्मफल—पुनर्जन्म के साथ-साथ वेदों में कर्म व कर्मफल का सिद्धान्त भी पाया जाता है। तथ्य तो यह है कि पुनर्जन्मवाद व कर्म का सिद्धांत आपस में गुथे हुये हैं। जीव जैसे-जैसे कर्म इस जीवन में करता है उन्हीं के अनुसार उसे अगला जन्म प्राप्त होता है। शुभ कर्मों से शुभ जन्म तथा अशुभ कर्मों के आधार पर निम्न कोटि का जन्म प्राप्त होता है।

कुछ विद्वान् वैदिक कर्म के नियम को एक अद्भुत रूप में लेते हैं। वे वेदों में प्राप्त कर्म व कर्मफल को केवल यज्ञों तथा उनसे प्राप्त स्वर्ग व नरक तक ही सीमित रखते हैं। ये वेद में प्रतिपादित कर्मवाद की कर्मकाण्डात्मक व्याख्या करते हैं क्योंकि कर्मों के फलों के भोग के लिये इनके पास पुनर्जन्म का कोई सिद्धान्त ही नहीं है।

दूसरी ओर दयानन्द वैदिक कर्मवाद को पूर्ण वैज्ञानिक रूप में वैसे ही बताते हैं जैसा कि अन्य उपनिषदादि आर्ष ग्रंथों में।

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।
धास्युर्योनिं प्रथम आविवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत।
(अथर्व० कां० ५ सूक्त १ मं० २)

उपरोक्त मन्त्र के भाष्य में महर्षि दयानन्द लिखते हैं "जो मनुष्य पूर्वजन्म में धर्माचरण करता है, उस धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता है और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को प्राप्त होता है। जो पूर्वजन्म में किये हुये पाप-पुण्य के फलों को भोग करने के स्वभावयुक्त जीवात्मा है, वह पूर्व शरीर को छोड़ के वायु के साथ रहता है। जल, ओषधि वा प्राण आदि में प्रवेश करके वीर्य में प्रवेश करता है तदनन्तर योनि अर्थात् गर्भाशय में स्थिर होके पुनः जन्म लेता है।"[१]

१. दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग २, पृ० ५१६।

दो मार्ग पितृयान व देवयान—जीव के आचरण के लिये दयानन्द वेदों में दो मार्गों को बताते हैं, पितृयान व देवयान। उनके अनुसार पितृयान वह मार्ग है जिस पर चलकर जीव माता-पिता के संसर्ग से देह धारण कर अपने पूर्व किये पाप और पुण्य कर्मों का फल भोगता तथा पुनः-पुनः शरीर धारण करता रहता है तथा देवयान वह मार्ग है जिस पर चलकर जीव कर्म बन्धन से मुक्त होकर फिर जन्म धारण नहीं करता अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[1] यहां हम पाते हैं कि वेदों में पाप और पुण्य कर्मों का फल इस या आगे के जन्मों में भोगा जाना माना है तथा साथ ही एक ऐसे मार्ग का भी उल्लेख है जिस पर चलकर फिर जन्म-मरण का बन्धन समाप्त हो जाता है जो पाप-पुण्य से सर्वथा पृथक है। इसको यजुर्वेद एक अन्य स्थल पर और भी स्पष्ट करता है कि "कर्म करते हुए सौ वर्षों तक जीने की कामना करो परन्तु कर्म इस प्रकार करो कि वे तुम्हारे लिये बन्धनकारी न हों।"[2] अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिये वेद निष्काम कर्म करने का आदेश करते हैं। इस प्रकार गीता में प्रतिपादित निष्काम कर्म का मूल स्रोत भी हमें वेदों ही में मिल जाता है।

मोक्ष

वेदों में स्थान-स्थान पर यज्ञ करने और यज्ञ द्वारा धन, मान व प्रजा आदि सभी ऐश्वर्यों की प्राप्ति करने का आदेश मिलता है। इससे कतिपय आधुनिक वेदज्ञों को यह भ्रांति हो गई कि वेद के मानव का लक्ष्य धरती पर सरलपूर्ण

---

१. देखिये यजु० १९-१ पर दयानन्द भाष्य।

'अस्मिन् संसारे ... द्वौ मार्गौ स्तः एक पितृणां ज्ञानिनां, देवानां विदुषां च द्वितीयः ··· तयोरेकः पितृयानो, द्वितीयो देवयानश्चेति। अर्थात् पूर्वापर जन्मानि च धारयति सा पितृयानाख्या तथा यत्र मोक्षाख्यं पदं लब्ध्वा जन्ममरणाख्यात् संसाराद्विमुच्यते सा द्वितीया।'

(वही पृ० ५१६–५१७)

२. 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छ्त ँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।' यजु० ४०-२ ।।

जीवन की प्राप्ति तथा स्वर्ग में देवताओं के सान्निध्य में सुखोपभोग-मात्र है ।[१] उनके विचार से वैदिक मानव यज्ञों को स्वर्ग की प्राप्ति के लिये किया करते थे, जिससे वे स्वर्ग में पितरों के पास चले जायें तथा स्वर्ग में प्राप्त सभी भौतिक ऐश्वर्यों का व्याधिरहित बलिष्ठ व सुन्दर शरीर से भोग करें। इनके विचार में वेदों में कर्मों के दो रूप पाप व पुण्य हैं एवं फलस्वरूप कर्मों की दो ही गतियें, नरक व स्वर्ग हैं। और मुक्ति की धारणा, जिसमें जीवात्मा जीवन-मरण के चक्र से छूट कर अमरत्व को प्राप्त होता है तथा सुख-दुःख, पाप-पुण्य व भोग-त्याग सबसे छूट जाता है, वेदों के ही नहीं वरन् ब्राह्मणों के भी पश्चात् उपनिषदों में विकसित हुई है।

यहाँ पर भी महर्षि दयानन्द वेद के सम्बन्ध में हमारे सामने एक नवीन विचार रखते हैं, जो आधुनिक युग में सर्वथा मौलिक है तथा वेद-विद्या में वेद के धर्म व वेद के दर्शन में क्रान्ति पैदा करने वाला है। दयानन्द का कहना है कि वेद यज्ञ व उत्तम कर्मों द्वारा सर्व प्रकार के सुख ऐश्वर्यों का आदेश करता है, यह बिल्कुल ठीक है क्योंकि उन्नत जीवन व सभ्य समाज के लिये यह सब आवश्यक भी है लेकिन अभ्युदय की गति को वेद में अन्तिम नहीं कहा गया है। वरन् इन सबसे ऊपर उठ कर वेद उस अमृत-पद का निर्देश भी करता है जिसकी प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ से अर्जित किये गये समस्त ऐश्वर्यों का सर्वथा त्याग-पूर्वक भोग करना चाहिये और हम दयानन्द के इस मत की पुष्टि में वेदों में स्थल-स्थल पर अनेक ऐसे मन्त्र पाते हैं जिनमें परम निःश्रेयस के रूप में ब्रह्म की प्राप्ति का निर्देश किया गया है। जीवन की राह के सच्चे पथिक की वाणी में वेद कहता है "द्विजों की पवित्र वेदमाता की मैं स्तुति करता हूँ, यह मुझे आयु, प्राण (स्वास्थ्य), सन्तान, पशु, कीर्ति, धन तथा ब्रह्मज्ञान को देवे, जिससे मैं ब्रह्म लोक को प्राप्त होऊं।"[२]

१. देखिए—"वैदिक धर्म एवं दर्शनं" भा० २ पृ० ७२२ ले० ए० बी० कीथ, अनुवादक सूर्यकान्त।

२. 'स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् आयुः प्राणं प्रजा पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्म वर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्।' अथर्व० १९।७१।१

यह हम कह चुके हैं कि दयानन्द वेदों को मुख्यतया ब्रह्म-विद्या के ग्रन्थ मानते हैं, इससे उनके मत में ब्रह्म की प्राप्ति कराना चारों वेदों का मुख्य तात्पर्य है और यह युक्तिसंगत भी प्रतीत होता है क्योंकि मनुष्यों का सर्व प्रमुख कर्त्तव्य परम लक्ष्य की प्राप्ति है, जिसके लिये संसार में मनुष्य का अवतरण हुआ है और वेद, जोकि आदि ज्ञान के रूप में मनुष्यों को दिये गये, यदि मानव लक्ष्य को प्राप्त कराने की कला का व्याख्यान नहीं करते, तब इनका ईश्वरीय ज्ञान के रूप में स्वीकार करना एक भ्रम होगा। वेद के विषय में यह विचारधारा उपनिषद्-काल तक चलती रही। उपनिषद्-काल के लोप से साथ-साथ वेद के सम्बन्ध में इस मान्यता का लोप भी हो गया था कि वेद मुख्य रूप से ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग का प्रतिपादन करते हैं। दयानन्द ने सदियों से चली आ रही इस भूल को फिर से सुधारा और कहा कि वेद के अनुसार मानव के लिये ब्रह्म की प्राप्ति से बढ़कर और कोई प्राप्ति नहीं है तथा चारों वेद विशेष रूप से उसी की प्राप्ति कराने का प्रतिपादन कर रहे हैं।[1] और हमारा मत यह है कि वेदों में ब्रह्म-प्राप्ति के लिये आवश्यक ज्ञान-विज्ञान व गूढ़तम मानसिक विद्याओं का वर्णन अतिशय से भरा पड़ा है; बस आवश्यकता है उसे समझने की। बीसवीं शताब्दी के ऋषि महायोगी अरविन्द इस विषय में महर्षि दयानन्द से पूर्णरूप से सहमत हैं। वे लिखते हैं कि वेद के अध्ययन करने पर "हम यह पायेंगे कि सारा का सारा ऋग्वेद क्रियात्मक रूप से इस द्विविध विषय पर ही सतत् रूप से चक्कर काट रहा है—मनुष्य की अपने मन और शरीर में तैयारी और सत्य तथा निःश्रेयस की प्राप्ति और विकास के द्वारा अपने अन्दर देवत्व और अमरत्व की परिपूर्णता।"[2]

मुक्ति के साधन ज्ञान व कर्म—वेदों में ज्ञान को मुक्ति का मुख्य साधन बताया है। तथा उपनिषदों का यह सिद्धान्त, कि "विद्या द्वारा समस्त बन्धनकारी ग्रन्थियों को काट दिया जाता है" वेदों में यथावत् प्राप्त होता है। महर्षि दयानन्द एक वेद मंत्र के भाष्य में वेद के द्वारा प्रतिपादित ज्ञान मार्ग का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं कि 'जो मनुष्य विद्या व अविद्या के स्वरूप को साथ ही साथ

१. महर्षि दयानन्द कृत दयानन्द ग्रन्थ माला भा० २ पृ० ३१३।

२. श्री अरविन्द का 'वेद रहस्य' भा० १ पृ० १०२।

जानता है, वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तर के विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।"[१] हम देखते हैं कि उपरोक्त मन्त्र में दयानन्द वेद में ज्ञान-मार्ग को ही नहीं वरन् कर्म-मार्ग को भी साथ ही मानते हैं। वास्तव में बिना कर्म के ज्ञान की प्रतिष्ठा अधूरी है। ज्ञान और कर्म द्वारा प्राणी परमात्मा की उपासना से समस्त बन्धनों व हृदय की ग्रन्थियों को नष्ट कर मोक्ष को प्राप्त करता है। यजुर्वेद अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से मुमुक्षुओं को मुक्ति का मार्ग बताता हुआ द्रष्टा ऋषि की भाषा में कहता है, 'जो सबसे बड़ा, सबका प्रकाश करने वाला और अविद्या अन्धकार अर्थात् अज्ञानादि दोषों से अलग है उसी पुरुष को मैं परमेश्वर और इष्टदेव मानता हूं। उसको जाने बिना कोई मनुष्य यथावत् ज्ञानवान् नहीं हो सकता, क्योंकि उसी परमात्मा को जान के और प्राप्त होके जन्म-मरणादि क्लेशों के समुद्र समान दुःख से छूट के परमानन्द-स्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है। अन्यथा किसी प्रकार से मोक्ष सुख नहीं हो सकता।'[२]

इस विवेचना से हम यह भी देखते हैं कि वेदों में मुक्ति का जिस रूप से वर्णन किया गया है उसमें और उपनिषदों में वर्णित मुक्ति में कोई अन्तर नहीं है। वेद ब्रह्म-पद को ही परमपद मानते हैं। वेद कहता है "यही विष्णु का परमपद है जिसे मुक्त ज्ञानी पुरुष सदैव देखते हैं।"[३] जो विद्वान् वेदों में केवल स्वर्ग व नरक की कल्पना का प्रतिपादन करते हैं वे इससे भली-भाँति समझ सकते हैं कि उनकी ये कल्पनायें कितनी भ्रान्त हैं, और हम पाते हैं कि दयानन्द वेद के अपने गम्भीर व गहन अध्ययन के आधार पर वेदों में मानव-जीवन के परम लक्ष्य के रूप में, मुक्ति का सफलतापूर्वक प्रतिपादन करते हैं।

---

१. सत्यार्थ प्रकाश पृ० २३६।

२. 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥' यजु० ३१।१८ इस पर दयानन्द का भाष्य (द० ग्र० मा० भाग २ पृ० ४२१)।

३. 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।' ऋ० अष्टक १। अध्याय २। वर्ग ७। मं० ५।

मुक्ति से पुनरावृत्ति

इसके अतिरिक्त महर्षि दयानन्द मुक्ति के विषय में एक नया विचार हमारे सम्मुख रखते हैं, वह है मुक्ति से पुनरावृत्ति। दयानन्द का कथन है कि वेदों के अनुसार जीव की मुक्ति अनन्त काल के लिये नहीं होती वरन् मुक्ति की अवधि समाप्त कर जीवात्मा फिर जन्म-मरण के चक्र में आ जाता है। इसमें दयानन्द युक्ति देते हैं कि जिस कार्य का आरम्भ होता है उसका अन्त भी निश्चित है। मुक्ति का प्रारम्भ है अतः इस अवस्था का अन्त भी होना चाहिये। इस सम्बन्ध में दयानन्द ऋग्वेद के दो मन्त्र हमारे सामने रखते हैं। वेद प्रश्न करता है कि हम किसका नाम पवित्र जानें ? कौन नाशरहित, पदार्थों के मध्य में वर्तमान देव सदा प्रकाशस्वरूप है, जो हमको मुक्ति का सुख भुगाकर पुनः इस संसार में जन्म देता और माता-पिता के दर्शन कराता है।'[1] अगले ही मन्त्र में वेद उत्तर देता है कि 'हम इस स्वप्रकाशस्वरूप अनादि सदा मुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जानें, जो हमें मुक्ति में आनन्द भुगाकर पृथिवि में पुनः माता-पिता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता-पिता का दर्शन कराता है।'[2]

मुक्ति को प्राप्त कर जीव एक अवधि—चाहे वह कितनी ही लम्बी क्यों न हो—के बाद पुनः संसार में लौट आता है, दयानन्द का यह मत दार्शनिक जगत् में एकदम नया है। महर्षि के विचार से उपनिषद् व दर्शन ग्रन्थों में भी मुक्ति से पुनरावृत्ति का प्रतिपादन है। इस प्रश्न पर हम यहां पर विचार नहीं करेंगे, वरन् आगे मुक्ति विषय में इसको उठायेंगे।

---

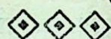
१. "कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च।" ।१।

२. "अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च।।" ऋ० मं १। सूक्त २४। मं० १-२।

इन दोनों मन्त्रों पर हमने दयानन्द का भाष्य उद्धृत किया है। देखिये सत्यार्थप्रकाश पृ० २४४-२४५।

२

दयानन्द और उपनिषद्



वेद-ब्राह्मण और उपनिषद्

वेद की आलंकारिक व प्रतीकात्मक भाषा अपने आप में एक पहेली है। तथा इसमें पाये जाने वाले अलंकार अनेक रहस्यपूर्ण निर्देशों से भरपूर हैं जो वेद के जिज्ञासु को अनेक प्रलोभनों में डाल देते हैं। इससे वह वेद को खोलने वाले वास्तविक पथ से भटक जाता है। जो विद्वान् वेद की इस अलंकारपूर्ण, निर्देशात्मक भाषा के प्रलोभन से पार हो जाता है वेद उसके लिये अपनी अमूल्य ज्ञान-निधि को खोल देता है।

वेद की भाषा को समझने के लिये केवल संस्कृत के ज्ञान से काम नहीं चलता। साधारण मस्तिष्क की तो वहाँ पहुँच ही नहीं हो सकती। वेद के सनातन ज्ञान को प्राप्त करने के लिये दो बातों की नितान्त आवश्यकता है; (१) संस्कृत भाषा के वैदिक रूप के ज्ञान की, तथा (२) समाधि की अवस्था की प्राप्ति की। भाषा व प्रतीकों की कठोर दीवार के पीछे छिपे वैदिक सत्यों को खोलने के लिये, बाद के ऋषियों ने इसी प्रणाली का प्रयोग किया। इस महान् प्रयास के दो मुख्य रूप हमारे सामने आये—प्रथम ब्राह्मण ग्रन्थ तथा दूसरे उपनिषद् ग्रंथ। यह दोनों ही ग्रंथ वेद के दो मुख्य विषय कर्म व ज्ञान का प्रतिपादन करते हैं।

ब्राह्मण ग्रंथ—ब्राह्मण ग्रन्थों में वैदिक कर्मकाण्ड की आध्यात्मिक व लौकिक दोनों ही प्रकार से व्याख्या एवं व्यवस्था की है। ब्राह्मण, वेद (संहिता भाग) के व्याख्यान मात्र हैं। महर्षि दयानन्द इन्हें वेदों में स्वीकार नहीं करते।

क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थ ऋषियों के द्वारा निर्मित हैं तथा वेद ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान है ।[1] ब्राह्मणों में वैदिक मन्त्रों की प्रतीकें धर-धर कर उनकी व्याख्या की गई है जैसे शतपथ ब्राह्मण में 'ईषेत्वोर्जेत्वा' की 'ईषेत्वोर्जेत्वेति' यह प्रतीक धर कर व्याख्या की गई है, ऐतरेय ब्राह्मण में ऋग्वेद के मन्त्र की 'अभित्वादेव सवितरिति' यह प्रतीक देकर व्याख्या की गई है। परन्तु ब्राह्मण ग्रंथों में ऋषियों ने वैदिक प्रतीकों को एक नये प्रतीकवाद से बताने की चेष्टा की है। यद्यपि यह वेद के अर्थों को खोलने का प्रयास है तथापि बाद के विद्वानों के लिये यह वेदों के रहस्यवाद से भी अधिक कठिन सिद्ध हुआ। इससे पश्चातवर्ती विद्वानों ने ब्राह्मण ग्रंथों की यज्ञों की आध्यात्मिक व्याख्या को तो दृष्टि से ओझल कर दिया और नये प्रतीकवाद से ढके लौकिक अर्थों को ले लिया। इससे ये ग्रन्थ केवल यज्ञ-याग सम्बन्धी ग्रन्थ समझे जाने लगे, जबकि हम देखते हैं कि इनमें दार्शनिक तत्त्व भी हैं।

उपनिषद् ग्रन्थ—उपनिषदों में ऋषियों ने ज्ञानकाण्ड को पकड़ा। उन्होंने वेदों में प्राप्त होने वाले आध्यात्मिक सूत्रों के रहस्यों का समाधि तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों द्वारा साक्षात्कार किया। उन्होंने वेद के प्रतीकों की आध्यात्मिक व्याख्या की। उपनिषद् के ऋषियों ने भाषा की अधिक परवाह नहीं की, अतः इनकी भाषा वेद व ब्राह्मणों से अधिक सरल है। इन्होंने भाषा के सामने ज्ञान पर अधिक बल दिया तथा वेद के परम तात्पर्य ब्रह्म को अपना सीधा लक्ष्य बनाया। उपनिषदों में ब्रह्म का व्याख्यान पाया जाता है।

ब्राह्मण और उपनिषद् वेद की संहिताओं के बाद में ऋषियों द्वारा बनाये गये ग्रंथ हैं। ये वेद के भाग नहीं हैं, जैसा कि कुछ विद्वान् मानते हैं। महर्षि दयानन्द उपनिषदों को भी वेद का भाग नहीं मानते।[2] परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं हैं कि दयानन्द इन्हें प्रमाण न मानते हों। हां दयानन्द ब्राह्मणों

---

१. देखिये ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० ६६। वेद संज्ञा विचार विषय।

२. 'मैं वेदों में एक ईशावास्य को छोड़कर अन्य उपनिषदों को (वेदों में) नहीं मानता किन्तु अन्य सब उपनिषद ब्राह्मण ग्रन्थों में हैं, वे ईश्वरोक्त नहीं।' (दयानन्द ग्रन्थमाला भाग २ पृ० ८५७)

व उपनिषदों को ऋषियों के वचन होने से परतः प्रमाण मानते हैं,[1] वेद के समान स्वतः प्रमाण नहीं।

क्या उपनिषदों में वेद के विरुद्ध क्रान्ति की गई है?—कुछ विद्वानों का विचार है कि उपनिषदों में वेदों के विरुद्ध क्रान्ति की गई है। वेद कर्मकाण्ड प्रधान ग्रन्थ हैं तथा उपनिषदें ज्ञान-प्रधान हैं। इनके मत में वेद की कर्मकाण्ड व यज्ञात्मक प्रणाली को उपनिषदों में न केवल उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया वरन् उसे व्यर्थ और शरारतभरी भी बताया है।[2] इसके अतिरिक्त उनका यह भी कहना है कि उपनिषदें वेदों को अपरा-विद्या के ग्रंथ बताती हैं तथा परा अर्थात् ब्रह्म विद्या का उनमें अभाव मानती हैं।[3]

स्वामी दयानन्द इन विचारों से बिल्कुल सहमत नहीं हैं। वेद, ब्राह्मण व उपनिषदों के मध्य विद्वत्-कल्पित द्वन्द के विषय में **महर्षि दयानन्द का अन्य विद्वानों से मुख्य मतभेद यह है कि दयानन्द न तो वेदों को केवल कर्मकाण्ड व यज्ञ की पुस्तक मानते हैं और न उनमें कल्पित केवल यज्ञों द्वारा मुक्ति के सिद्धान्त को ही।** यह हम पहिले ही कह आये हैं कि वेदों में कर्म और ज्ञान दोनों विषय उपलब्ध होते हैं तथा बाद में ब्राह्मण ग्रंथों व उपनिषदों ने इनमें से एक-एक को अपना मुख्य विषय बना लिया। ब्राह्मणों ने कर्म विषय का विस्तार किया और उपनिषदों ने ज्ञान का। सायण सरीखे भारतीय तथा

---

१. "वेद स्वतः प्रमाण हैं और ब्राह्मण परतः प्रमाण।" वही पृ० ८५८।

२. In these Upanishads the whole ritual and sacrificial system of the Veda is not only ignored, but directly rejected as useless, nay, as mischievous."

(The Vedanta Phil. by Max-Muller P. 16 Cal. 1955)

३. 'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्व वेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परायया तदक्षरमधिगम्यते।'

मु० उ० १–१–५।

(मुण्डकोपनिषद के इस मन्त्र से विद्वान यह मानते हैं कि उपनिषदें वेदों को अध्यात्म विद्या के ग्रन्थ नहीं मानतीं।)

सायण का अनुकरण करने वाले पश्चिमी विद्वानों ने वेद और उपनिषदों का जो आपस में विरोध प्रदर्शित किया है वह उनके वेद के विषय को सही-सही रूप में न समझने के कारण है तथा साथ ही वे औपनिषदिक ऋषियों की वेद के सम्बन्ध में श्रद्धा व आदर से पूरित भावना को भी नहीं समझ पाये।

परन्तु इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब वेदों में कर्म के साथ-साथ ज्ञान विषय भी है और वेद ज्ञान को कर्मकाण्ड से श्रेष्ठ भी मानते हैं (जैसा कि दयानन्द कहते हैं), तब उपनिषदों में यह कहकर कि 'यज्ञों की नाव भारी है'[1] वेदों की निन्दा क्यों की गई है? तथा वेदों को अपरा विद्या के ग्रंथ क्यों गिनाया गया है? इन दोनों प्रश्नों के समाधानार्थ हमारे विचार में उपनिषदों के उन मन्त्रों पर विचार करना अधिक ठीक होगा, जिनके आधार पर यह मिथ्या धारणायें बनी हैं। मुण्डकोपनिषद् १–२–७ में कहा गया है कि 'निश्चयपूर्वक इस प्रकार की यज्ञ रूप नौकायें (जो पार उतरने का साधन कही गई हैं) जिनमें बैठे सोलह ऋत्विक, यजमान व यजमान पत्नि सहित अठारह यज्ञ करने वाले अविवेकी पुरुष इनको श्रेय मानकर प्रसन्न होते हैं वे निश्चय-पूर्वक जरा और मृत्यु को पुनः पुनः प्राप्त होते हैं।[2] इस मन्त्र में केवल यज्ञों से मुक्ति प्राप्त करने वाले अविवेकी जनों के मत का खण्डन है। जिसका वर्णन इस उपनिषद् के वक्ता ऋषि ने पिछले तीन मन्त्रों (१-२-४, १-२-५ व १-२-६) में किया है। इस मंत्र में ऋषि ने उस मत की तुच्छता दिखाई है कि केवल यज्ञ करने से मुक्ति की प्राप्ति सम्भव नहीं है। वास्तव में उपनिषद् यज्ञ-कर्मों के विरुद्ध नहीं है वरन् अग्निहोत्र मात्र से मुक्ति प्राप्ति की आशा के विरुद्ध है। इसका स्पष्ट प्रमाण हमें मुण्डकोपनिषद् के (१-२-१, १-२-२ व १-२-३) मन्त्रों में मिल जाता है जिनमें ऋषि ने पुण्य कर्मों के साधनभूत अग्निहोत्रादि कर्मों का उल्लेख किया है।

अब यदि ऋषि को अग्निहोत्र सर्वथा त्याज्य होता तो वह यहां क्यों इसका

---

१. 'प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञ रूपा।' मु० १–२–७।

२. प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति।
मु० १–२–७।

वर्णन करता। इसके अतिरिक्त अन्य उपनिषदों में भी अग्निहोत्रादि यज्ञीय कर्मों की उपयोगिता को स्वीकार किया गया है। कठोपनिषद् में नचिकेता ने यम से द्वितीय वर के रूप में वैदिक अग्निहोत्र को मांगा था तथा यम ने नचिकेता के लिये उसका व्याख्यान किया। यदि वैदिक यज्ञ उपनिषदों को बिल्कुल ही मान्य न होते तब यम ने उसको हेय क्यों नहीं बताया। वास्तविकता क्या है, जब हम इस पर विचार करते हैं तब ईषोपनिषद् का मन्त्र हमारी सारी समस्या का समाधान कर देता है। मंत्र कहता है कि 'कर्म करते हुये सौ वर्ष तक जियो, परन्तु कर्म इस प्रकार करो कि वह तुम्हें लिप्त करने वाले न हों।'[1] इस मंत्र में सौ वर्ष तक जीवित रहकर निष्काम भाव से कर्म करने का आदेश है। सकाम भावना से किया गया कर्म सदैव बन्धनकारी होता है फिर चाहे वह वैदिक कर्मकाण्ड ही क्यों न हो। ब्रह्म की प्राप्ति के साधन के रूप में यज्ञों का खण्डन करने से उपनिषदों का तात्पर्य सकाम भावना से प्रेरित होकर किये गये यज्ञों से है। स्वामी दयानन्द उपनिषदों में यज्ञों के इसी निष्काम रूप को मानते हैं। उपनिषद् के एक मन्त्र का अर्थ करते हुये वे कहते हैं कि "जो बहुधा अविद्या में रमण करने वाले बाल-बुद्धि हम कृतार्थ हैं ऐसा मानते हैं जिसको केवल कर्मकाण्डी लोग राग से मोहित होकर नहीं जान और जना सकते, वे आतुर होकर जन्म-मरण रूप दुख में घिरे रहते हैं।'[2] अब, यज्ञों के द्वारा मुक्ति-प्राप्ति के विषय में, वेद क्या कहते हैं, इस पर भी विचार कर लिया जाय। जहां तक सकाम भावना से किये गये कर्म और स्वर्ग की भावना से किये गये यज्ञों का प्रश्न है, वेद इस सम्बन्ध में उपनिषदों से सहमत है। वेद कहता है "जो उस ब्रह्म को नहीं जानता वेद की ऋचा उसका क्या लाभ करेगी?"[3] इस स्थल पर वेद स्पष्ट रूप से कह रहा है कि केवल वेद पढ़ लेने मात्र से मुक्ति नहीं मिल सकती। वेद के अनुसार मुक्ति का एक ही मार्ग है और वह है ब्रह्म

१. "कुर्वन्नेहवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे"॥ ईषोपनिषद २।

२. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १२४।

३. "यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति।" (ऋ० मं० १, सूक्त १६४, मन्त्र ३९)

की प्राप्ति । ऋग्वेद स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर रहा है कि "ब्रह्म के जानने से ही मृत्यु से छुटकारा प्राप्त हो सकता है, इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग मृत्यु से छूटने का नहीं है।"[1] अर्थात् वेद निर्देश करता है कि मृत्यु से तभी छूटा जा सकता है जब कि सत्य ज्ञान को प्राप्त कर लिया जाये, इससे पूर्व नहीं, फिर चाहे कितने भी यज्ञ क्यों न किये जायें। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यज्ञों की मान्यता के विषय मे वेद और उपनिषदों में कोई मतभेद नहीं है।

इसके उपरांत अब हम इस दूसरे प्रश्न की, कि क्या उपनिषदें वेदों को अपरा विद्या के ग्रन्थ मानती हैं, समीक्षा करेंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुण्डकोपनिषद् १-१-५ **'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः'** दिखायी पड़ने में, चारों वेदों को अपरा विद्या के ग्रन्थ बता रहा है। परन्तु किसी ग्रन्थ के किसी विषय में वास्तविक अभिप्राय का उसके किसी एकाध वाक्य को देखने मात्र से पता नहीं चल सकता। इसके लिये हमें उस ग्रन्थ की मूल भावना को अपने विचार का केन्द्र बनाना चाहिये। इसी उपनिषद् के एक अन्य मन्त्र में चारों वेदों को ब्रह्म की वाणी बताया है[2] तथा एक अन्य मन्त्र में वेदों को इसी ब्रह्म से उत्पन्न हुआ कहा है।[3] अब जबकि मुण्डकोपनिषद् का ऋषि वेदों को साक्षात् ब्रह्म से उद्भूत मानता हो तब यह समझ में नहीं आता कि वह इन्हीं वेदों को अपरा विद्या के ग्रन्थ कैसे कह सकता है। तथ्य यह है कि वेदों में परा और अपरा दोनों ही विद्यायें विद्यमान हैं। परन्तु संसार में साधारण जन प्रेय अर्थात् अपरा विद्या से अधिक सम्बन्ध रखते हैं और फिर वेदों की भाषा भी कुछ ऐसी है, जो ऊपर से दीखने पर साधारण मस्तिष्क को प्रेयात्मक लगती है इसी से साधारण जन उन्हें अपरा विद्या से पूरित मानते हैं। यहां पर वेदों को अपरा विद्या कहने से ऋषि का केवल इतना ही तात्पर्य है कि साधारण जन

१. "तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽनाय।"
य. ३१-१८।

२. मु० २-१-४

३. "तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च। संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः।" मु० २-१-६ ॥

वेदों में अपरा विद्या को ही देखते हैं और जो परा विद्या है वह भी वेदों में ही पायी जाती है, वह वो है जिससे अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

इसके विपरीत विपक्षियों—पश्चिमी विद्वानों—का तर्क यह है कि उपनिषद् के उक्त मन्त्र की इस प्रकार की व्याख्या करना स्पष्ट ही अर्थों की खींचातानी है तथा वास्तव में वेदों में ब्रह्म-विद्या नहीं है और उपनिषदों के अनुसार वेद अपरा विद्या के ही ग्रन्थ हैं। इस आपत्ति के विरुद्ध दयानन्द हमारे सम्मुख एक और तर्क रखते हैं। उनका कहना है कि 'जो ब्रह्म-विद्या वेदों में न होती तो उपनिषद् के ऋषियों को इसका ज्ञान नहीं हो सकता था।'[१] दयानन्द का यह तर्क ठीक भी है क्योंकि ब्रह्म-विद्या अत्यन्त सूक्ष्म विद्या है और जिस रूप में यह उपनिषदों में पायी जाती है वह तो अत्यन्त परिष्कृत रूप में है। अतः यह मानना कि उपनिषद् के रचयिता ऋषियों ने इसे बिना किसी पूर्ववर्ती ज्ञान के स्वतन्त्र रूप से रच लिया, नितान्त असंगत है। यदि हम विकासवाद को लें, तो जिस प्रकार बिना बीज के अंकुर नहीं होता उसी प्रकार बिना बीजरूप ब्रह्मज्ञान के उपनिषदों का विस्तृत, स्पष्ट एवं परिष्कृत ब्रह्मज्ञान कैसे हो सकता था। इस विषय में श्री अरविन्द का कथन पूर्णरूप से दयानन्द के मत का समर्थन कर रहा है। वह कहते हैं 'ऐसे गम्भीर और चरम सीमा तक पहुँचे विचार, ऐसे सूक्ष्म और महाप्रयत्न द्वारा निर्मित अध्यात्म विद्या की पद्धति जैसा कि सारतः उपनिषदों में पायी जाती है किसी पूर्ववर्ती शून्य से नहीं निकल आयी।'[२] इसके लिये पूर्व विद्यमान आधार की आवश्यकता है, जिससे औपनिषदिक ऋषियों को प्रेरणा व विचार-सामग्री मिली है और इस आधार के रूप में हमारे पास वेद के ग्रन्थ हैं।

वेदों में ब्रह्म-विद्या अर्थात् परा-विद्या है या नहीं, इस विषय को अब हम दूसरे उपनिषदों में भी देखेंगे। कठोपनिषद् कहता है, "सारे वेद जिसे गाते हैं, योगी लोग जिसके लिये तप करते हैं, जिसकी प्राप्ति की कामना से मुमुक्षु ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं वह पद संक्षेप में कहता हूँ कि वह ब्रह्म है।"[३]

१. दयानन्द ग्रंथमाला, भाग२ पृ० ८६५।

२. वेद रहस्य, ले० श्री० अरविन्द, भा० १ पृ० ४।

३. "सर्वे वेदा यद् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्"॥ कठ० १-२-१५।

इस स्थल पर कठोपनिषद् बहुत ही स्पष्ट रूप से कह रहा है कि सारे वेद ब्रह्म का ही व्याख्यान कर रहे हैं। अतः हमारी समझ में नहीं आता कि वेदों को विशुद्ध अपरा-विद्या के ग्रन्थ कैसे कहा जा सकता है और यहाँ हमें महर्षि दयानन्द का ही मत अधिक युक्तियुक्त लगता है कि वेदों में परा और अपरा दोनों ही विद्यायें हैं परन्तु इनमें परा विद्या (ईश्वर) का व्याख्यान करना वेदों का मुख्य लक्ष्य है।[1]

दयानन्द की उपनिषदों के सम्बन्ध में इस विचार-सरणि से बाध्य होकर हम को यह मानना ही पड़ता है कि वेदों में जिस परम सत्ता का वर्णन 'सृष्टि का अध्यक्ष', 'देवों का देव' व अनेक स्थलों पर 'ब्रह्मादि' नामों से किया जाता है, वही परम तत्त्व उपनिषदों का ब्रह्म है। इसी को उपनिषदें 'सबका आत्मा', 'नित्यों का नित्य' इत्यादि नामों से पुकारती हैं। डा० पी० के० आचार्य सरीखे विद्वानों के लेखों में भी दयानन्द के इसी मत का प्रभाव प्रतीत होता है, जब वह कहते हैं कि 'पीछे के दार्शनिकों को उपनिषदों के सिद्धान्तों में वेदों का अन्त नहीं वरन् चरम तात्पर्य दिखाई पड़ा'।[2]

---

१. "अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति। विज्ञान कर्मोपासना ज्ञानकाण्ड भेदात्। ......अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्तीश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात्।" (दयानन्द ग्रंथमाला, भा० २ पृ० ३०२)

२. (i) 'उपनिषदों में औदार्य'' लेख। लेखक महामहोपाध्याय डा० पी० के० आचार्य, एम. ए., पी. एच. डी., डी. लिट. (कल्याण का उपनिषदांक जनवरी १९४९ पृ० ८७)

(ii) 'The chief reason why the Upanishad's are called the end of the Vedas is that they represent the central aim and meaning of the teaching of the Vedas'.
(The Principal Upanishads. P. 24, London 1953) By Dr. S. Radhakrishnan.

(iii) "सन्ति खलु उपनिषदो वेदमूला इति सर्वेषामेव निर्विवादमभिमतम्।" (संस्कृत साहित्य विमर्श पृ० १४८, ले० द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री, १९५९)।

दयानन्द और उपनिषद्-दर्शन

वैदिक दर्शन के महान् आचार्य शंकर, रामानुज, मध्व आदि ने उपनिषदों को अपनी विचारधारा का आधार बनाया है। शंकर, मध्व आदि ने मुख्य-मुख्य उपनिषदों पर भाष्य भी लिखे हैं। जिन आचार्यों ने इन पर भाष्य नहीं लिखे उन्होंने भी अपने दर्शन का प्रेरणा-स्रोत इन्हीं ग्रन्थों को बनाया। वैदिक दर्शन के आचार्यों में यह एक परिपाटी सी दिखाई पड़ती है कि वे या तो उपनिषदों पर भाष्य लिखते हैं अथवा अपने विचारों के समर्थन में उपनिषदों को आधार बनाते हैं। यद्यपि इन आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तों में भारी मतभेद हैं तथापि इनमें से हरएक अपने सिद्धांत को उपनिषदों का सही सिद्धान्त बताता है। शंकराचार्य के अनुसार उपनिषद् अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं तो रामानुज के विचार से इसमें विशिष्टाद्वैतवाद है, मध्व इन्हीं में द्वैतवाद का दर्शन करते हैं। इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में विचारों की इतनी विविधता का कोई न कोई कारण अवश्य है। विचार करने पर पता चलता है कि उपनिषदों में विभिन्न मतों का दर्शन कराने वाली श्रुतियां काफी मात्रा में मिलती हैं। कोई श्रुति स्पष्ट अद्वैतवाद का प्रतिपादन करती है तो कोई द्वैतवाद के पक्ष में है। कुछ श्रुतियें ऐसी भी हैं जो रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अनुकूल हैं। सम्भवतः इसी लिये मैक्समूलर महोदय ने उपनिषदों के विषय में यह धारणा बनायी कि इनमें नियमित व सुस्पष्ट रूप से कोई एक विचारधारा नहीं मिलती।[1] इनके विचार से भिन्न-भिन्न उपनिपदों का निर्माण विभिन्न कालों में अलग-अलग ऋषियों ने किया है अतः इनमें विचारों की भिन्नता का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

उपरोक्त विचारधारा में ऊपर से देखने पर बल तो प्रतीत होता है परन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर हमें इसमें एक बड़ी भारी कमी का पता चलता है। स्वामी दयानन्द के अनुसार उपनिषदों में वर्णित आध्यात्मिक ज्ञान साधारण विचारक्रिया का फल नहीं है वल्कि इसकी प्राप्ति ऋषियों ने, अपने गम्भीर पांडित्य एवं मनोयोग द्वारा समाधि की गहन अवस्था में की थी। 'अयमा-

1. See Vedant Philosophy. Max Muller, p. 20 & 24.

त्मा ब्रह्म"[१] इस उपनिषद् वाक्य को जिसका अर्थ है कि यह जो मेरे में व्यापक है वही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, समाधि-अवस्था से नीचे कोई इतनी स्पष्टता, दृढ़ता व निर्भीकता से नहीं कह सकता जैसा कि उपनिषद् का द्रष्टा ऋषि अपने तदात्मा से साक्षात् के आधार पर कहता है।[२] उपनिषदें, सुने हुये या बुद्धि के स्तर पर प्राप्त किये हुये ज्ञान को सदैव ही सत्य नहीं मानतीं तथास्पष्ट रूप से कहती हैं कि "यह आत्मा न तो पठन-पाठन से प्राप्त होता है न बुद्धि द्वारा जाना जा सकता है और न ही बहुत सुनने से।"[३] सत्य ज्ञान की प्राप्ति का कौन सा सही मार्ग है इस विषय में उपनिषदें हमें श्रवण, मनन व निदिध्यासन का मार्ग बताती हैं। परम सत्य को जानने के लिये सर्वप्रथम उन आचार्यों से जिन्होंने सत्य का साक्षात् किया है, इसके विषय में श्रद्धापूर्वक सुनना चाहिये, इसके अनन्तर उस श्रवण किए हुये ज्ञान पर बुद्धिपूर्वक मनन करना चाहिये पश्चात् निदिध्यासन करना चाहिये। इस प्रक्रिया में प्रथम स्थिति इन्द्रियों द्वारा ज्ञान की प्राप्ति की है, दूसरी अवस्था में जो कि पहले से सूक्ष्म है जिज्ञासु बुद्धि से श्रुत ज्ञान पर मनन करता है। परन्तु, उपनिषदें ज्ञान की प्राप्ति एवं उसकी सत्यता की परीक्षा को यहीं समाप्त नहीं कर देतीं, वरन् ये बुद्धि से भी सूक्ष्म समाधि की अवस्था में, विषय के साक्षात्कार को अन्तिम मानती हैं। समाधि की अवस्था बुद्धि को पार कर आन्तरिक ज्ञान की वह अवस्था है जहाँ द्रष्टा का अपने विषय से साक्षात् सम्बन्ध हो जाता है। यह एक ऐसी आध्यात्मिक अनु-

---

१. माण्डूक्योपनिषद् मन्त्र—२।

२. (i) सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६५।

(ii) "उन्होंने (उपनिषदों के ऋषियों ने) विलुप्त हुये या क्षीण हुये ज्ञान को ध्यानसमाधि तथा आध्यात्मिक अनुभूति के द्वारा पुनरुज्जीवित करने का यत्न किया।" श्री अरविन्द, वेद रहस्य, प्रथम भाग पृ० १७।

३. 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।' कठोपनिषद् २-२३।

भूति है जहां द्रष्टा के आत्मा के साथ परम सत्य का सीधा सम्बन्ध होता है। इस अवस्था में वाणी समाप्त हो जाती है और मन की शक्ति भी वहां ठप्प हो जाती है।[१]

उपरोक्त विवेचन से अब यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों में वर्णित परम तत्त्व के ज्ञान का आधार, विचार की साधारण प्रणाली नहीं, वरन् ध्यान की अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था समाधि है। समाधि अवस्था में ज्ञाता का वस्तु के स्वरूप से सीधा सम्बन्ध होता है। इससे समाधि अवस्था का ज्ञान निर्भ्रान्त होता है। अतः उपनिषदों में परस्पर विरोध देखने की प्रवृत्ति उचित नहीं है।

अब हमारे सामने फिर वही प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि उपनिषदें परम सत्य पर एक मत हैं, तब उनमें परस्पर विरोधी श्रुतियें क्यों मिलती हैं? तथा दूसरे, भिन्न-भिन्न आचार्य उनमें भिन्न-भिन्न मतों की स्थापना क्यों करते हैं? यह ठीक है कि भिन्न-भिन्न भाष्यकार अपने-अपने मतों की स्थापना इन्हीं उपनिषदों में करते हैं, परन्तु कोई भी भाष्यकार मुख्य ग्यारह उपनिषदों में विरोध को स्वीकार नहीं करता। आचार्य शंकर के अनुसार सारी मुख्य उपनिषदें अद्वैतवाद का प्रतिपादन करती हैं और मध्व के अनुसार ये सब द्वैतवादी हैं। तथ्य यह है कि उपनिषदों की आपस में विरोधी दीख पड़ने वाली श्रुतियों में वास्तविक विरोध नहीं है वरन् इनमें एक ही सत्य के विभिन्न पक्षों का वर्णन है। जैसे श्री शंकराचार्य द्वैत प्रतिपादक श्रुतियों को व्यावहारिक व पारमार्थिक अवस्था का भेद करने वाली बताते हैं तथा अद्वैतवादी श्रुतियों को निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली श्रुति। प्रतीत यह होता है कि पश्चिमी विद्वानों की यह आदत पड़ गई है कि वे ग्रन्थों में विरोध देखने का प्रयत्न करते हैं और यही नहीं बल्कि जहां उन्हें विरोध दिखायी पड़ता है उन्हें इससे प्रसन्नता होती है।[२] लेकिन ऋषि प्रणीत ग्रन्थों को योग-बुद्धि द्वारा ही सफलतापूर्वक समझा

१. 'यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।' तै० उपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली अनुवाक-४

2. "To us Upanishads have, of course, a totally different

जा सकता है, जिसका उनमें सर्वथा अभाव था।

क्या उपनिषदों में शंकर का अद्वैत है?—स्वामी शंकराचार्य अद्वैतवाद के प्रवर्तक थे। उनके विचार से उपनिषदें अद्वतवाद के ही ग्रंथ हैं। स्वामी शंकराचार्य के मतानुसार उपनिषदों ने एक ही ब्रह्म को सत्य बताया है जिसकी कोई व्याख्या नहीं की जा सकती क्योंकि ब्रह्म निर्गुण है। ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई तत्त्व अनादि नहीं है। ब्रह्म ही अपनी माया से अनेक प्रकार की सृष्टि रचता है। माया के विषय में उनका कहना है कि यह न सत् और न असत् क्योंकि ब्रह्म के समान इसकी सता न होने से यह सत् नहीं है और आकाश पुष्प के समान मिथ्या न होने से यह असत् भी नहीं। उनके विचार से माया सत्-असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय है अर्थात इतनी दुरुह है कि उसके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। ब्रह्म माया के द्वारा अनेक रूप में प्रतीत होता है।[1] वास्तव में ब्रह्म का परिणाम नहीं होता, क्योंकि ब्रह्म निराकार व निष्कलंक है, अतः इसमें परिणाम नहीं हो सकता। आचार्य शंकर विवर्तवाद के समर्थक हैं। विवर्तवाद के अनुसार कारण अपना स्वरूप तजे बिना कार्यरूप में दिखाई देता है। यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है अर्थात् शंकर के मतानुसार ब्रह्म में जगत् की प्रतीती होती है परन्तु इससे ब्रह्म के स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जैसे मृत्तिका के घटपटादि अनेक रूप हो जाते हैं परन्तु मृत्तिका वैसी ही रहती है।[2] विचार करने पर पता चलता है कि शंकराचार्य का अद्वैतवाद

---

interest. We watch in them the historical growth of philosophical, thought and are not offended, therefore, by the variety of their opinions. On the contrary, we expect to find variety, and are even pleased when we find independent thought and apparent contradictions between individual teachers, although the general tendeney of all is the same." The Vedanta Philosophy. P. 24. Max Muller. Ist Edition, 3rd reprint.

१. "इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते।' बृहदारण्यकोपनिषद् २।५।१९

२. "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वंमृन्मयं विज्ञातंस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"। (छा० उ० ६-१-४)

उपनिषदों में जगत् की सत्ता को स्वप्नवत् मिथ्या मानता है सत्य नहीं।

दूसरी तरफ, हमें उपनिषदों में ऐसी श्रुतियें भी दिखाई पड़ती हैं जो संसार के अस्तित्व व उसके कारण को सत्य मानती है।[१] स्वामी शंकराचार्य का मायावाद—जिस प्रकार से वह उसका वर्णन करते हैं, उपनिषदों में हमें कहीं दिखाई नहीं पड़ता। यही कारण है कि श्री रामानुजाचार्य ने अपने ग्रन्थों में मायावाद की तर्कपूर्ण आलोचना की है। वे वैदिक साहित्य में शंकराचार्य द्वारा आरोपित मायावाद को नितान्त असंगत बताते हैं। वे विशिष्टाद्वैतवाद को उपनिषदों का सही मत बताते हैं।

इन आचार्यों से भिन्न, महर्षि दयानन्द का औपनिषदिक दर्शन के बारे में एक अलग मत है। वे उपनिषदों को त्रैतवादी मानते हैं। इनके अनुसार इन ग्रन्थों में ब्रह्म, जीव व प्रकृति इन तीनों को अनादि माना गया है। स्वामी दयानन्द का कहना है कि उपनिषदों में शंकर के मायावाद का कहीं भी उल्लेख नहीं है। यह ठीक है कि इनमें कहीं-कहीं माया शब्द का उल्लेख आया है परन्तु जहां कहीं भी इस प्रकार का उल्लेख आया है वहां माया शब्द का तात्पर्य शंकर की माया से नहीं है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् कहता है कि "माया को प्रकृति जानो",[२] अर्थात् माया यहां त्रिगुणमयी प्रकृति के लिये प्रयुक्त हुआ है। उपनिषदें जगत् के मिथ्यात्व का वर्णन नहीं करतीं, और ना ही जगत् को ब्रह्म का विवर्त ही कहती हैं। परन्तु इसके विपरीत इनमें परिणामवाद का बार-बार जिक्र आता है। उपनिषदों में पायी जाने वाली इसी यथार्थवादी विचारधारा के अनुकूल सांख्य शास्त्र अपने सिद्धांत, कि प्रधान सृष्टि का मूल कारण हैं, को श्रुति सम्मत बताता है।[३] उपनिषदों में सृष्टि-रचना का वर्णन जिस रूप में किया गया है

---

१. "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।" श्वेताश्वेतरोपनिषद् १।९

२. 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयव भूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।' श्वेताश्वेतरोपनिषद ४-१०

३. 'श्रुतिरपि प्रधान कार्यत्वस्य।' सांख्य सूत्र ५।१२

वह विशुद्ध यथार्थवादी है, जगत् को मिथ्या अथवा स्वप्नवत् या भ्रम मानने वाला ऋषि कभी भी सृष्टि रचना का ऐसा यथार्थवादी भाषण नहीं करता। उपनिषदों में प्रकृति और जीव को भ्रम तो नहीं कहा गया, हां यह अवश्य कहा गया है कि ब्रह्म नित्यों का नित्य है,[1] अर्थात् जीव और प्रकृति, इन अनादि तत्त्वों का स्वामी अनादि ब्रह्म है। डा० राधाकृष्णन् का तो यह मत है कि उपनिषदों में प्राप्त होने वाले यथार्थवादी तत्त्वों को आगे चलकर सांख्य शास्त्र में और भी बल मिला।[2] इससे स्पष्ट है कि उपनिषदें मायावादी न होकर यथार्थवादी हैं।

स्वामी दयानन्द ने यद्यपि उपनिषदों पर कोई भाष्य नहीं लिखा तथापि इनके सम्बन्ध में आपका यह त्रैतवादी मत आपके द्वारा रचित ग्रन्थों में उद्धृत उपनिषदों के मन्त्रों की व्याख्या में स्पष्ट देखने को मिलता हैं। स्वामी जी अपने मत की पुष्टि में उपनिषदों के मन्त्रों को स्थान-स्थान पर उद्धृत करते हैं।

उपरोक्त विवेचन से अब यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों के विषय में दयानन्द का यथार्थवादी-त्रैतवाद अपने में बल रखता है। साथ ही यह भी पता चलता है कि यह कोई उनकी एकदम नई विचारधारा नहीं है, जिसे उच्छृङ्खल कहा जा सके, वरन् उससे पूर्व भी अनेक आचार्य इसे मानते थे, लेकिन कुछ भिन्न रूप में। दयानन्द के त्रैतवाद की उपनिषदों में प्राप्ति होती है या नहीं इसका हम आगे विवेचन करेंगे।

उपनिषदों में दयानन्द का त्रैतवाद-ब्रह्म, जीवात्मा व प्रकृति

उपनिषदों में शंकर मत की आलोचना—स्वामी दयानन्द उपनिषदों में त्रैतवाद के पोषक हैं। उनके विचार में मुख्य ग्यारह उपनिषदों में ब्रह्म-जीव-

---

१. 'नित्यो नित्यानाम् चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।' श्वेत० उ० ६-१३

2. "The realistic tendencies of the Upanishads receive emphasis in the Samkhya conception of the Universe." Indian Philosophy, Vol. 2, p. 250.—
Dr. S. Radhakrishnan.

प्रकृति इन तीनों के अनादित्व का वर्णन है। ब्रह्म को उपनिषदों में 'एकमेवाद्वितीयम्' के रूप में अद्विनीय कहा है। अद्वैतवादी आचार्य इस वाक्य को व्यावर्तक अर्थों में लेकर यह बताते हैं कि ब्रह्म अद्वितीय है अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।। शंकराचार्य इस पद का भाष्य करते हुए लिखते हैं कि जिस प्रकार मृत्तिका को घटादि में परिणत करने वाला निमित्त कारण कुम्हार देखा जाता है, उसी प्रकार सत् से भिन्न सत् का कोई अन्य सहकारी कारणरूप पदार्थ होता है, इस वाक्य में अद्वितीय शब्द से उसका प्रतिषेध किया गया है अर्थात् सत् से अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है, इसे श्रुति अद्वितीय शब्द से बताती है।[1]

उपरोक्त पद की आचार्य शंकर द्वारा की गयी इस व्याख्या को स्वामी दयानन्द स्वीकार नहीं करते। उनके विचार से विशेषण का कार्य केवल भेद करना मात्र ही नहीं होता वरन् विशेषण प्रवर्तक और प्रकाशक भी होता है। वह कहते हैं कि यहां पर व्यावर्तक धर्म से अद्वितीय विशेषण, ब्रह्म की अन्य तत्त्वों, जसे जीव व प्रकृति से अद्वितीयता अर्थात् पृथकता दिखाता है और प्रकाशक धर्म से ब्रह्म के एक होने का बोध कराता है।[2] परन्तु ब्रह्म के एक होने से उपनिषद् के ऋषि का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई तत्त्व है ही नहीं। यह ठीक है कि ब्रह्म के समान सामर्थ्य व शक्ति किसी अन्य में नहीं है, तथा साथ ही ब्रह्म से अधिक भी कोई नहीं है परन्तु ब्रह्म से न्यून जीव व प्रकृति का निषेध इस वाक्य में नहीं है। स्वामी दयानन्द और शंकराचार्य में यहां पर यही अन्तर है कि स्वामी दयानन्द अद्वितीय और अद्वैत शब्द से ब्रह्म

१. देखिये छा० उ० ६।२।१ पर शंकर भाष्य।

२. "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।" (छान्दोग्योपनिषद् ६।२।१) के इस वाक्य पर स्वामीजी कहते हैं 'इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म सदा एक है और जीव तथा प्रकृतिस्थ तत्त्व अनेक हैं। उनसे भिन्न कर ब्रह्म के एकत्व को सिद्ध करनेहारा अद्वैत का अद्वितीय विशेषण है।' सत्यार्थ प्रकाश पृ० १९८।

की सर्वशक्तिमत्ता व सर्वोत्तमता को मानते हैं जबकि जगद्गुरू शंकराचार्य इससे ब्रह्माद्वैतवाद की स्थापना करते हैं, तथा इस श्रुति वाक्य से ब्रह्म के अलावा अन्य सभी तत्त्वों की सत्ता का निषेध करते हैं। अपनी इस व्याख्या व मान्यता में स्वामी दयानन्द यहां पर श्री रामानुज व मध्व से मेल खाते हैं। दयानन्द कहते हैं कि "अद्वैत शब्द परमेश्वर का विशेषण है जैसे एक-एक मनुष्यादि जाति जगत् में अनेक व्याप्तियां हैं वैसा परमेश्वर नहीं। किन्तु वह तो सब प्रकार से एक मात्र ही है"।[1] तात्पर्य यह है कि दयानन्द के मत में उपनिषदों में परमेश्वर सर्वोच्च व सर्वशक्तिमान होने से अद्वितीय कहा गया है ब्रह्माद्वैत के रूप में नहीं हैं।

ब्रह्म समस्त पदार्थों से अति सूक्ष्म है तथा आकाश के समान सर्वत्र व्यापक है और समस्त पदार्थों में सबके अन्तरात्मा से समान रहता है। उपनिषद् स्पष्ट कहता है "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छा० ३।१४।१) अर्थात् ब्रह्म सर्वत्र ओत-प्रोत है। अद्वैतवादी इस पद का अर्थ करते हैं कि यह सारा जगत् ब्रह्म ही है। प्रायः अद्वैतवादी इस पद का 'नेहनानास्तिकिंचन' (क० २।१।११) को मिला देते हैं। वे कहते है "सर्वं खल्विदं ब्रह्म। नेह नानास्तिकिंचन" अर्थात् सब कुछ ब्रह्म ही हैं इसमें नानात्व कुछ भी नहीं है और जो इसमें बहुत्व को देखता है अर्थात् द्वैतवादी है वह बार-बार मृत्यु को प्राप्त होता है।[2] इन औपनिषदिक पदों के विषय में स्वामी दयानन्द कहते हैं कि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" व "नेह नानास्ति किंचन" यह दो वाक्य दो पृथक उपनिषदों के है। तथा इनको प्रकरणानुसार पढ़ने पर इनका अर्थ उस अर्थ से सर्वथा भिन्न होता है जैसा कि अद्वैतवादी करते हैं। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के साथ **'तज्जलानिति शान्त उपासीत'** पद है जिसका स्वामी दयानन्द इस प्रकार अर्थ करते हैं कि 'हे जीव तू (सर्वव्यापक) ब्रह्म की उपासना पर जिस ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति,

१. दयानन्द ग्रंथमाला, भाग २, पृ० ६०२।
२. 'मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति।' कठ० उ० २।१।११

स्थिति और जीवन होता है" ।[१] "नेह नानास्ति किंचन" यह पद कठोपनिषद् का है । स्वामी दयानन्द के अनुसार इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार होना चाहिये कि 'इस चेतनमात्र अखण्डैकरस ब्रह्म में नाना वस्तुओं का मेल नहीं है । परन्तु यहां पर भी छान्दोग्योपनिषद् ब्रह्म के 'एकमेवाद्वितीयम्' के समान ही कठोपनिषद् भी ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सत्ताओं के अस्तित्व का विरोध नहीं कर रहा वरन् यह बता रहा है कि अखण्डैकरस ब्रह्म में किसी अन्य वस्तु का मेल नहीं है । जैसे शुद्ध सोना वही होता है जिसमें किंचितमात्र भी किसी अन्य धातु का मेल न होता हो उसी प्रकार से ब्रह्म भी एकरस है । अर्थात् ब्रह्म में किसी अन्य वस्तु का मेल नहीं इससे वह सर्वत्र समानरूप होने से एकरस है । जीव व प्रकृति पृथक्-पृथक अपने-अपने स्वरूप में परमेश्वर के आधार से उसमें स्थित है इससे ब्रह्म की शुद्धता का बाध नहीं होता ।[२] इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी दयानन्द उपनिषदों के इन वाक्यों से सफलतापूर्वक त्रैतवाद की सिद्धि कर देते हैं ।

उपनिषदों में ब्रह्म को भोग प्रदान करने वाला कहा गया है, जबकि जीवात्मा को भोक्ता । मुण्डकोपनिषद् स्पष्ट कहता है "दो सुन्दर गतियुक्त पक्षी एक ही प्रकृतिरूपी वृक्ष पर स्थित हैं उनमें से एक प्रकृति के स्वादों का उपभोग

---

१. सत्यार्थ प्रकाश पृ, २१२.
इसी सम्बन्ध में 'वेदविरुद्धमतखण्डनम्' दयानन्द ग्रंथमाला भा० २ पृ० ८०९ का निम्नलिखित उद्धरण स्वामी जी के मत को और भी स्पष्ट करता है । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' पर स्वामी दयानन्द कहते हैं समाधि के संयम करने में विज्ञान के प्रकाश से जैसा ब्रह्मस्वरूप जाना जाता है उस समय क्रिया विद्वानों का अनुभव ही श्रुति का तात्पर्य है जैसे किसी ने कहा कि यह स्वर्ण है इसमें पीतल आदि धातु नहीं मिले हैं वैसे सच्चिदानन्दस्वरूप एकरस ब्रह्म के बीच में नाना वस्तुयें मिली नहीं कि यह सब ब्रह्म एक रस है ऐसा जानना चाहिये ।'

२. दयानन्द ग्रन्थमाला भाग २, पृ० ६०२ ।

करता है।"[१] इस मन्त्र के अर्थ में स्वामी जी लिखते हैं "इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है वह वृक्षरूप संसार में पाप-पुण्यरूप फलों को अच्छी प्रकार भोक्ता है और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को (अनशनन्) न भोक्ता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है।"[२] अगले मन्त्र में मुण्डक उपनिषद् और भी स्पष्ट कहता है कि "प्रकृति रूपी वृक्ष पर भोक्ता जीवात्मा निमग्न है, प्रकृति की आवरणात्मक शक्ति से मोह को प्राप्त हो रहा है। जब योगी शुद्ध होकर ईश्वर को अपने से भिन्न देखता है और इसकी विशाल अनन्त महिमा को देखता है तब शोक से रहित हो जाता है।[३] इन मन्त्रों में हम देखते हैं कि उपनिषद् स्पष्ट कह रहा है कि ब्रह्म जीवात्माओं के पाप-पुण्य रूप कर्मों के फलों का देने वाला है। जबकि जीवात्मा ब्रह्म से अन्य भोक्ता है तथा प्रकृतिरूपी वृक्ष का भोग करता है। श्री द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री का विचार है कि उपनिषदों में भोक्ता जीव भोग्या प्रकृति तथा सब पर शासन करने वाले ब्रह्म का व्याख्यान पाया जाता है। आपका मत है कि इनमें ब्रह्म सर्वज्ञ, विभु, सर्वशक्तिमान तथा सृष्टि का रचयिता, पालनकर्त्ता व संहरता है। जीवात्मा अल्प शक्तिवाला, अणु व परिच्छिन्न, कर्म में स्वतन्त्र परन्तु फलभोग में परतन्त्र है, तथा प्रकृति अचेतन, पराधीन, परिणामी एवं जगत् का उपादान कारण व नित्य है।[४] (शास्त्री जी पर स्वामी दयानन्द का पूर्ण प्रभाव मालूम पड़ता है।)

इसके अतिरिक्त हम यह देखते हैं कि अद्वैतवादी आचार्य, द्वैतभाव प्रतिपादित करने वाली श्रुतियों को व्यवहार की श्रुतियां कहते हैं परमार्थ की नहीं। क्योंकि

---

१. 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।' मु० उ० ३-१-१।

२. सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ २०६।

३. 'समाने वृक्षे पुरुषोनिमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमीति वीतशोकः'। (मु० ३-१-२। इन मन्त्रों पर आर्यमुनि देखिये।)

४. देखिये संस्कृत साहित्य विमर्श, पृष्ठ १५०।

उनके मत में परमार्थ में तो केवल अद्वैत है। लेकिन इस पर हम प्रश्न कर सकते हैं कि उपनिषदों में कहां पर पारमार्थिक व व्यावहारिक इन दो सत्ताओं के तात्त्विक भेद की बात कही गई है? क्या उपनिषद् सृष्टि-रचना का वर्णन नहीं करते? यदि करते हैं तब संसार को स्वप्नवत् मिथ्या क्यों माना जाय और व्यावहारिक व पारमार्थिक स्तरों को मानने का क्या आधार है? **व्यावहारिक स्तर पर अद्वैतवादी भी त्रैतवाद को ही मानते हैं। अद्वैतवादियों के व्यावहारिक स्तर पर भेद मानने से उपनिषदों में स्वामी दयानन्द की त्रैतवादी विचारधारा को ही बल मिलता है और हम कह सकते हैं कि उपनिषदों में त्रैतवाद के समर्थक मन्त्र हैं इसीलिये तो ब्रह्मवादी उन्हें व्यावहारिक स्तर का बताते हैं।** जो इस प्रकार के मन्त्र न होते तो क्यों व्यवहार की कल्पना करते। उपनिषदों में सृष्टि का वर्णन जितने यथार्थवादी ढंग से पाया जाता है उससे कोई भी अनुभव कर सकता है कि इनमें भ्रमवाद को तनिक भी स्थान नहीं है।[1]

ब्रह्म सृष्टि का रचने वाला है—स्वामी दयानन्द के अनुसार उपनिषदों में ब्रह्म को सृष्टि का रचयिता कहा गया है कि जिससे सारे भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर उसी में रहते हैं, पश्चात् प्रलयकाल में नष्ट होकर ब्रह्म के गर्भ में (अव्यक्तावस्था में) चले जाते हैं।[2] स्वामी जी उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म को सृष्टि का निमित्त कारण मानते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म प्रकृति से जो कि प्रारम्भ में अव्यक्तावस्था में थी, अनेक प्रकार की सृष्टि करता है, जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषद् भी कहता है कि प्रारम्भ में यह सब असत् अर्थात् अव्यक्त-

---

१. "This idea that the world is only Maya and illusion, a vision, a nothing was what Colebrooke meant when he said it was absent from the Upanishads, and the original Vedanta philosophy and so far he is right."

The Vedanta philosophy, P. 70, Max Muller.

२. **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। द् ब्रह्मेति।' तै० उ० भृगुवल्ली अनु० १।**

रूप असत् था उससे सत् अर्थात् व्यक्त हुआ और इसको अव्यक्त से ब्रह्म ने व्यक्त किया।[1] यहां पर औपनिषदिक ऋषि इस बात पर बल दे रहा है कि सृष्टि का उत्पन्न करने वाला ब्रह्म ही है। लेकिन ब्रह्म सृष्टि का उपादान वा अभिन्न-निमित्तोपादान कारण नहीं जैसा कि ब्रह्मवादी कहते हैं, वरन् ब्रह्म सृष्टि का निमित्त कारण है। उपनिषदों में सृष्टि का उपादान कारण प्रकृति को माना गया है।

सृष्टि ब्रह्म का विवर्त नहीं है—स्वामी दयानन्द परिणामवाद को मानते हैं, उपनिषदों में भी आपका यही विचार है। यदि इस बात को मान लिया जाता है कि उपनिषद् ग्रन्थों में विवर्तवाद नहीं बल्कि परिणामवाद है तब यह भी मानना आवश्यक हो जाएगा कि ब्रह्म के साथ-साथ प्रकृति भी अनादि पदार्थ है। स्वामी दयानन्द नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाले ब्रह्म को परिणामी नहीं मानते, क्योंकि इससे उसका स्वरूप विकृत हो जायगा। परिणामवाद के अनुसार उपादान कारण के गुण, कर्म व स्वभाव कार्य में वैसे ही आ जाते हैं। स्वामी जी का कहना है कि संसार जड़ है अतः इसका उपादान भी जड़ ही होना चाहिए और वह प्रकृति ही हो सकती है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् (४–५) का भाष्य करते हुये स्वामी दयानन्द कहते हैं "यह उपनिषद् का वचन है। प्रकृति, जीव और परमातमा तीनों अज अर्थात् जिनका जन्म कभी नहीं होता और न कभी ये जन्म लेते अर्थात् ये तीन सब जगत् के कारण हैं। इनका अन्य कोई कारण नहीं, इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फंसता है और उसमें परमात्मा न फंसता और न उसका भोग करता है।'[2]

उपनिषदों में यथार्थवादी विचारधारा कोई नई विचारधारा नहीं है और न ही उपनिषदों के विरुद्ध ही प्रतीत होती है। सांख्य शास्त्र का द्वैतवादी सिद्धान्त

---

१. 'असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानं स्वयमकुरुत।'
तै० उ० ब्रह्मानन्द वल्ली अनु० ७ मं० १।

२. 'अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वी प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्त भोगामजोन्यः।' इस मन्त्र पर दयानन्द-भाष्य के लिये देखो सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ २१०। श्वेताश्वेतरोपनिषद् ४-५।

भी उपनिषदों में वर्तमान बताया जाता है। सांख्य प्रधान को त्रिगुणात्मक मानता है। ठीक इसी प्रकार के मन्त्र उपनिषदों में भी प्राप्त होते हैं जिनमें प्रधान को त्रिगुणात्मक कहा गया है जैसे "एक अनादि रक्त, श्याम व श्वेत वर्ण वाली है।"[1] रक्त, श्याम व श्वेत वर्ण को क्रमशः रज, तम व सत्व लिया जा सकता है। आगे मन्त्र कहता है यह अत्यन्त मनोहारी अनेक प्रजा का सृजन करती है। सांख्य शास्त्र भी उपनिषदों में प्रकृति के अनादित्व को मानता है।[2] सांख्य का सत्कार्यवाद का सिद्धान्त भी उपनिषदों में यथावत् उपलब्ध होता है। छान्दोग्य उपनिषद् कार्य से कारण का वर्णन करते हुये कहता है "हे श्वेतकेतो! अन्नरूप पृथ्वी कार्य से जलरूप मूल कारण को तू जान। कार्यरूप जल से तेजोरूप मूल और तेजोरूप कार्य से सद्रूप कारण जो नित्य प्रकृति है उसको जान। यही सत्यस्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल घर और स्थिति का स्थान है और यह सब संसार सृष्टि से पूर्व असत् के समान प्रकृति में लीन होकर वर्तमान था।"[3] इस मन्त्र में कार्यकारणवाद की प्रक्रिया कुछ इस प्रकार है जिससे यह प्रतीत होता है कि सांख्यों का सत्कार्य का सिद्धान्त इसी मन्त्र पर आधारित है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों में यत्रतत्र अनेक और भी इस प्रकार के मन्त्र मिलते हैं जिनसे सांख्य विचारधारा की पुष्टि होती है। एक अन्य स्थल पर श्वेताश्वेतरोपनिषद् कहता है "जिस प्रकार मकड़ी अपना जाला बुन-कर स्वयं को जाले के पीछे आवृत कर लेती है उसी प्रकार देव ने प्रधानरूपी तन्तुओं से अपने को आवृत कर लिया है।"[4] उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट

---

१. "अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वी प्रजाः सृजमानां सरूपाः।"
श्वेताश्वेतरोपनिषद् उ० ४-५।

२. 'श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य।' साँ सूत्र ५–१२।

३. '[एवमेव खलु] सोम्यान्नेन शुगेंनापो मूलमन्विच्छद्भिः सोम्य शुगेंन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुगेंन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्यप्रतिष्ठाः।' छा० उ० ६-८-४।

४. 'यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत्।'
श्वेत० उ० ६-१०।

होता है कि उपनिषदों में कई मन्त्र ऐसे हैं जिनसे यह पता चलता है कि प्रकृति—जोकि बाद में सांख्यों का प्रधान बनी—ब्रह्म के साथ-साथ अनादि है। यही प्रकृति प्रलयावस्था में ब्रह्म के गर्भ में अव्यक्तावस्था में वर्तमान रहती है इसका सर्वथा अभाव नहीं होता।

उपनिषदों में ब्रह्म व जीव का भेद

दयानन्द त्रैतवादी हैं, आपके सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म व जीवात्मा दोनों अनादि तत्त्व हैं तथा तीसरा पदार्थ प्रकृति भी अनादि है। उनका यह सिद्धान्त दर्शन की भाषा में यथार्थवाद (Realism) कहा जा सकता है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है दयानन्द उपनिषदों के मन्त्रों का भी त्रैतवादी अर्थ करते हैं। आपका विचार है कि उपनिषदों में जीव को ब्रह्म से पृथक माना गया है। आपके अनुसार ये ग्रन्थ जीव को भी ब्रह्म के साथ ही अनादि मानते हैं। उपनिषद्-शास्त्रों में ब्रह्म व जीव के भेद का कथन करने वाली श्रुतियां अनेक स्थलों पर मिलती हैं। भोक्ता जीव अपने कर्मफलों को भोगने के लिये विवश है। जबकि परमात्मा कर्मफलों को जीव के लिये देता है। जीव कर्म करता तथा कर्मों के फलों को यथायोग्य ब्रह्म के शासन में भोक्ता है। परन्तु ब्रह्म कर्त्तापन के राग में नहीं पड़ता क्योंकि वह आप्तकाम है, उसके लिए कोई भी कार्य करने के लिये बाकी नहीं है। मुण्डकोपनिषद् कहता है कि "एक ही (प्रकृति-रूपी) वृक्ष पर (जीवात्मा व परमात्मारूपी) दो पक्षी बैठे हैं जिनमें से एक उस वृक्ष के फलों को खाता है अर्थात् जीवात्मा प्रकृति के भोगों को भोगता है और दूसरा परमात्मा प्रकृति के फलों को न खाता हुआ साक्षीरूप से देख रहा है।"[२] उपनिषद् के इस मन्त्र में स्पष्ट परमात्मा व जीवात्मा का भेद प्रदर्शित किया गया है।

स्वामी जी का यह मत मायावादी अद्वैतवाद के विरुद्ध है। अपने उपनिषद् भाष्य में शंकराचार्य जी स्थान-स्थान पर ब्रह्म व जीव की एकता का प्रतिपादन

१. 'ईश्वर नाम ब्रह्म का और ब्रह्म से भिन्न अनादि अनुत्पन्न और अमृत-स्वरूप जीव का नाम जीव है।' दयानन्द, सत्यप्रकाश १९७।

२. 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।' मुण्डकोपनिषद ३-१-१।

करते हैं। उनके मत से जीवात्मा ब्रह्म का प्रतिबिम्बमात्र है, जो अविद्या में पड़ता है अथवा अन्त: करणोपाधि से परिच्छिन्न ब्रह्म ही जीव है जैसे घटाकाश मठाकाश इत्यादि। शांकर मत में अविद्या वास्तव मे माया ही है। मायावाद के विचारक माया के स्वरूप को आज तक भी निश्चित नहीं कर पाये। इनके विचार से माया एक अद्भुत शक्ति है जो ब्रह्म पर अविद्यात्मक प्रभाव डालती है। स्वामी दयानन्द के विचारों के अनुसार शंकर के मायावाद में सबसे बड़ी कमी यही है कि इनके मत में माया अपना प्रभाव अविद्या के रूप में ब्रह्म पर डालती है तथा ब्रह्म जो शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वज्ञ आदि स्वभाव वाला है, अपना स्वभाव भूलकर अल्पज्ञ, पाप-पुण्य कर्मों का कर्त्ता एवं भोक्ता, अणु आदि अल्प स्वभावों वाला हो जाता है। संक्षेप में ब्रह्म अपने स्वरूप से च्युत हो जाता है। हमारे विचार से ब्रह्म व जीव के सम्बन्ध में इस प्रकार की मायावादी कल्पना उपनिषदों में कहीं भी नहीं है। हां, दूसरी ओर ऐसे मन्त्र तो बराबर मिलते हैं, जिनमें कहा गया है कि ब्रह्म अपने शान्त, शिव व अद्वैत (अद्वितीय) रूप में सदैव वर्तमान रहता है।[1]

इसके अतिरिक्त यदि हम दूसरे साधनों से भी देखें तो भी उपनिषदों में ब्रह्म व जीव का अद्वैत भाव सिद्ध नहीं होता। उपनिषदों में ब्रह्म की उपासना का आदेश दिया गया है। ब्रह्म केवल उपासना से ही प्राप्त हो सकता है अन्य किसी साधन से नहीं। परन्तु यदि ब्रह्म व जीव को एक ही मान लिया जाय तब कौन किसकी उपासना करेगा; क्या ब्रह्म-ब्रह्म ही की उपासना करे। ब्रह्म व जीव को पृथक माने बिना उपास्य-उपासक सम्बन्ध बन ही नहीं सकता। उपनिषदों में उपासना का परम लक्ष्य ब्रह्म बताया गया है जिसे जीवात्मा को प्राप्त करना चाहिये। इससे ब्रह्म का जीव से पृथक होना ही सिद्ध होता है।

तप व उपासना के द्वारा जो ऋषि परमात्मा के समीप तक पहुँच जाते हैं, उस स्थिति का वर्णन उपनिषद् ग्रंथों में अनेक स्थानों पर मिलता है। समाधि

१. 'शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।'

माण्डूक्योपनिषद्' ७।

की अवस्था में योगी के सम्मुख केवल उसका लक्ष्य होता है, संसार व उसका स्वयं का भाव समाप्त हो जाता है ।[1] समाधि की अवस्था इतनी गूढ़ होती है कि इसमें योगी के सामने केवलमात्र ज्ञान होता है। लेकिन इससे भी गहरी असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति होती है, इसमें द्रष्टा परमात्मा में इतना निमग्न हो जाता है कि वह स्वयं को बिल्कुल भूल जाता है तब उपनिषद् की भाषा में 'कौन किसको देखे' (कं केन पश्यति) और ऐसी अवस्था में ऋषि कह उठता है 'मैं ब्रह्म हूँ।' देखने पर यह उपनिषद् वाक्य अद्वैत समर्थक लगते हैं, परन्तु त्रैतवादी इनके अर्थ ब्रह्म व जीव के भेद में लगाते हैं। उनका कहना है कि सारे उपनिषद् कह रहे हैं कि ब्रह्म का ज्ञान कर लेने पर द्रष्टा के सारे संशय, कर्म व दुखों का नाश हो जाता है, वह सकलपमात्र से अपने सारे कामों को पूर्ण कर लेता है, उनको जानने के लिये और कुछ भी बाकी नहीं रह जाता, वह महान् व सर्वज्ञ हो जाता है, परन्तु ब्रह्म नहीं होता। क्योंकि परमात्मा परम ब्रह्म है "यो परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मु० उ० ३–२–९) अर्थात् जो परम ब्रह्म परमात्मा को जान लेता है वह ब्रह्म अर्थात् महान् हो जाता है। यही नहीं बल्कि इसको और भी स्पष्ट करता हुआ यही उपनिषद् आगे कहता है कि 'जब द्रष्टा ज्योतिरूप कर्त्ता ईश्वर को, परम पुरुष को और ज्ञान के आदि स्रोत को देख लेता है। तब वह विद्वान् पाप-पुण्य के बन्धन को झाड़ कर निर्मल हो भगवान की परम समता को प्राप्त होता है।'[2] इस मन्त्र से भी यही स्पष्ट होता है कि मुक्ति की अवस्था में जीवात्मा ब्रह्म नहीं हो जाता वरन् ब्रह्म के साथ परम साम्यता को प्राप्त होता है। दयानन्द कहते हैं कि जीव जब ब्रह्म के आनन्दआदि गुणों को अपने में धारण कर लेता है तब वह ब्रह्म के समान दिखाई पड़ने लगता है, जैसे एक लोहे का गोला अग्नि के गुणों को अपने में धारण कर अग्निवत् दिखाई पड़ने लगता है।

---

१. 'तदेवार्थ मात्र निर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधिः।'

योगदर्शन पा० ३, सू० ३।

२. 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति।' मु० उ० ३-१-३

इसके अतिरिक्त नव्य वेदान्ती (महर्षि, शंकर आदि को नव्य वेदान्ती मानते हैं) बृहदारण्यक उपनिषद् में आये वाक्य 'अहम् ब्रह्मास्मि'[१] का अर्थ 'मैं ब्रह्म हूँ' के रूप में करते हैं। इससे यह सिद्ध करते हैं कि जीवात्मा ब्रह्म ही है। महर्षि दयानन्द 'अहम् ब्रह्मास्मि' इस उपनिषद् वाक्य का अर्थ करते हुये कहते हैं कि यहां पर तात्स्थ्योपाधि है, जैसे कोई कहे कि 'मचाः क्रोशन्ति' अर्थात् मचान पुकारते हैं। लेकिन मचान तो जड़ है, इनमें पुकारने का सामर्थ्य नहीं होता, अतः इसका तात्पर्य हुआ कि मचान पर बैठे हुये मनुष्य पुकारते हैं। ठीक इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये। परन्तु इस पर वेदान्ती प्रश्न कर सकते हैं कि ब्रह्मस्थ तो सारे ही पदार्थ हैं पुनः जीव को ब्रह्मस्थ कहने में क्या विशेषता है? स्वामी दयानन्द इसके उत्तर में कहते हैं कि यह ठीक है कि सब पदार्थ ब्रह्मस्थ ही हैं तथापि ब्रह्म से जितनी अधिक साधर्म्यता जीव की हैं उतनी किसी की नहीं इससे जीव ब्रह्म के अधिक निकटस्थ है। जीव मुक्ति में ब्रह्मज्ञानी होता है तथा ब्रह्म के साक्षात् सम्बन्ध में रहता है। ऐसी अवस्था में स्थित जीव ही कहता है 'अहम् ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ अर्थात् मैं ब्रह्म में स्थित हूँ। आगे दयानन्द कहते हैं इससे जीव और ब्रह्म एक नहीं। जैसे कोई किसी से कहे कि मैं और यह एक हैं अर्थात् अविरोधी हैं, वैसे जो जीव समाधिस्थ परमेश्वर में प्रेमबद्ध होकर निमग्न होता है वह कह सकता है कि मैं और ब्रह्म एक अर्थात् अविरोधी एक आकाशास्थ हैं। जो जीव परमेश्वर के गुण, कर्म व स्वभाव के अनुकूल अपने गुण, कर्म व स्वभाव करता है वही साधर्म्य से ब्रह्म के साथ एकता कह सकता है।[२] यहाँ पर स्वामी दयानन्द स्पष्ट हैं कि उपनिषदों का ज्ञान ऋषियों द्वारा समाधि अवस्था की साक्षात् अनुभूतियों द्वारा किया गया है। इससे उपनिषदों के गूढ़ वाक्यों का रहस्य समाधि अवस्था में ही खुल सकता है। इसी माण्डूक्योपनिषद् का वाक्य 'अयमात्मा ब्रह्म' (मण्डूक्योपनिषद् २) है। यहां पर स्वामी जी अयमात्मा से जीवात्मा का ग्रहण नहीं करते जैसा कि अद्वैत वेदान्ती करते हैं। परन्तु आपका कहना है कि 'अयमात्मा' शब्द

---

१. बृह० उ० १–४–१०।

२. सत्यार्थप्रकाश पृ० १६३।

ब्रह्मात्मा के लिए प्रयोग किया गया है। आगे स्वामी जी लिखते हैं "समाधि अवस्था में जब योगी को परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है तब वह कह सकता है कि जो मेरे में व्यापक है वही ब्रह्म सर्वज्ञ व्यापक है।"[1] स्वामी जी का आशय यह है कि समाधि की गहरी अवस्था में जब योगी ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, उस समय की स्थिति के विषय में वह कहता है कि जिस आत्मा को (आत्मा शब्द से 'योऽतति व्याप्नोति स आत्मा' के अनुसार ब्रह्मात्मा का अर्थ है। उपनिषदों में आत्मा शब्द प्रायः ब्रह्म के लिये प्रयोग किया जाता है।) मैं प्रत्यक्ष कह रहा हूँ, वह ब्रह्म है। नवीन वेदान्ती (अद्वैतवादी) एक अन्य उपनिषद् वाक्य 'तत्त्वमसि' (छा० प्र० ६ ख०८ म०-७) पद की व्याख्या में 'तू वह है' से 'तू ब्रह्म है' का अर्थ लेकर यह सिद्ध करते हैं कि जीव ब्रह्म ही है। दयानन्द यहां ब्रह्मवादी से पूछते हैं कि तुम यहां तत् शब्द से ब्रह्म की अनुवृत्ति कहां से लाये? दयानन्द तत् का अर्थ निम्न प्रकार लेते हैं। मन्त्र इस प्रकार है "स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। छा० उ० ६-८-७। इसका अर्थ है "जो वह अत्यन्त सूक्ष्म और इस सब जगत् और जीव का आत्मा है। वही सत्यस्वरूप और अपना आत्मा आप ही है। हे श्वेतकेतो प्रिय पुत्र! (तदात्मकस्तदन्तर्यामी त्वमसि) उस परमात्मा अन्तर्यामी से तू युक्त है।"[2] इस प्रकार दयानन्द इस पद से भी ब्रह्म व जीव के एकत्व को स्वीकार न कर उसका भेद ही दर्शाते हैं।

उपनिषदों में जीवात्मा का परिमाण अणु तथा परमात्मा को विभु वर्णित किया गया है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् जीवात्मा के वर्णन में कहता है कि "बाल के अग्रभाग के सौ भाग करो, उनमें से एक के फिर सौ भाग करो। इस प्रकार जो सूक्ष्म टुकड़ा हो उसके समान आत्मा है।"[3] अर्थात् जीवात्मा का स्वरूप परमाणु के समान है। परन्तु ब्रह्म का स्वरूप उपनिषदों में सर्वत्र ही विभु कहा गया है।

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० १९३। २. वही, पृ० १९४।

३. 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।' (श्वेत० उ० ५-९)

उपनिषदों में ब्रह्म व जीव का भेद हमें और भी अनेक स्थलों पर मिलता है। ब्रह्म अत्यन्त सूक्ष्म है इससे वह समस्त पदार्थों में ओत-प्रोत है। जीव से भी अति सूक्ष्म होने से ब्रह्म जीव में भी व्यापक भाव से रहता है। अपने में व्यापक ब्रह्म का जीवात्मा तप के बल से साक्षात् करता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में इस प्रकार का संवाद आता है, जिनमें याज्ञवल्क्य कहते हैं "जो परमेश्वर आत्मा अर्थात् जीव में स्थित है परन्तु जीवात्मा से भिन्न है, जिसको मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता, जिस परमात्मा का जीवात्मा शरीर है, जीवात्मा के अन्दर रहकर जो नियम संचालन करता है वही अविनाशी तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा अर्थात् तेरे भीतर व्यापक है।"[१] इस मन्त्र में ब्रह्म को जीव के अन्दर व्यापक तथा पृथक कहा गया है। श्री रामानुजाचार्य ब्रह्म व जीव में शरीरी-शरीर सम्बन्ध को मानते हैं, उनके मत का आधार उपनिषद् का यही मन्त्र है। यदि इसमें रामानुजाचार्य जी के शरीरी-शरीर भाव की अभिव्यक्ति है तब और भी स्पष्ट रूप से इसमें क्यों नहीं दयानन्द के ब्रह्म-जीव भेदवाद का प्रतिपादन है। दयानन्द व रामानुज में केवल इतना भेद है कि रामानुज ब्रह्म में स्वगत भेद को मानते हैं जबकि दयानन्द अखण्ड एकरस ब्रह्म में कोई भेद मानने को तैयार नहीं हैं।

उपरोक्त विचार विवेचन से पता चलता है कि दयानन्द के मतानुसार ब्रह्म व जीव एक दूसरे से पृथक है परन्तु ब्रह्म जीवात्मा में व्यापक है और परमाण

---

१. 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्। आत्मनोन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (स्वामी दयानन्द ने यह मन्त्र बृहदारण्यक के हवाले से सत्यार्थप्रकाश पृ० १९४ में दिया है। परन्तु खोज करने पर निर्दिष्ट स्थल पर नहीं मिला। लेकिन यह मन्त्र यजुर्वेदीय माध्यन्दिनी शाखा के शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त हुआ। प्रचलित बृहदारण्यकोपनिषद् काण्व शाखा के शतपथ ब्राह्मण का है। यह ध्यान रहे कि बृहदारण्यकोपनिषद् शतपथ ब्राह्मण का ही एक भाग है। मन्त्र के लिये देखो शतपथ ब्राह्मण १४-६-७।

(अच्युताश्रम संस्करण ख० २ पृ० १४ पर)

२, तद् यत्तत् सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ। (बृ० उ० ५-५-२।)

के समान जीवात्मा ब्रह्म में स्थित है या हम यों कहें कि ब्रह्म व जीव एक दूसरे में प्रतिष्ठित है। उपनिषद् दयानन्द के इस विचार की पुष्टि करता हुआ स्पष्ट उल्लेख करता है कि "जो आदित्य (सूर्य में) और जो दाहिने नेत्र में पुरुष है वह एक दूसरे में प्रतिष्ठित हैं। ब्रह्म सर्वत्र व्यापक होने से सूर्य में भी है और पुरुष अर्थात् जीवात्मा में भी और ये दोनों एक दूसरे में स्थित हैं, कठोपनिषद् का ऋषि कहता है कि अपने में व्यापक परम ब्रह्म को योगी अपने हृदय की गहनतम गुहा में स्पष्ट अपने से पृथक छाया व सूर्य की तरह देखते हैं।"[1] अर्थात् जीवात्मा ब्रह्म के सम्मुख ऐसा प्रतीत होता है जैसे सूर्य के प्रकाश में छाया। इस मन्त्र पर स्वामी जी लिखते हैं "गुहां प्रविष्टौ सुकृतस्य लोके" इत्यादि उपनिषद् के वचनों से जीव और परमात्मा भिन्न है, वैसा उपनिषदों में बहुत ठिकाने दिखाया है।"[2]

उपरोक्त विवेचन से अब स्पष्ट हो गया है कि महर्षि दयानन्द का त्रैतवाद कि ईश्वर, जीव व प्रकृति तीनों अनादि हैं — उपनिषदों में यथावत् प्राप्त होता है। यह कुछ अंश तक सत्य है कि इनमें अभेदवादी श्रुतियें भी पायी जाती हैं परन्तु दयानन्द के अनुसार ये उपासना की गहन अवस्था की श्रुतियें हैं, जिनमें जीवात्मा ईश्वर के आनन्दादि गुणों को धारण कर परमात्मा के साथ तादात्म्य भाव से रहता है। दूसरी ओर जो भेदपरक श्रुतियें हैं, वे स्पष्ठ दयानन्द के मत की पुष्टि करती हैं। उपनिषदों में भेदपरक श्रुतियों के मुकाबले अभेदपरक श्रुतियां बहुत कम संख्या में हैं। परन्तु इन अभेदपरक श्रुतियों से भी अद्वैतवाद की सिद्धि किसी प्रकार नहीं होती। किसी शास्त्र का वास्तविक मत, उसमें प्राप्त एक या दो वाक्यों को उससे अलग कर प्राप्त नहीं हो सकता। उसके लिये तो सारे ही शास्त्र को देखना होगा। उपनिषदों की प्रवृति स्पष्ट ही त्रैतवाद की ओर है। यह प्रवृति उपनिषदों के एक या दो मंत्रों से नहीं वरन् सारे ही शास्त्र से प्राप्त होती है। दयानन्द स्पष्ट कहते हैं कि इनमें ब्रह्म को नित्यों का नित्य कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म के अतिरिक्त

---

१. 'छायाऽऽतपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः।'
क० उ० ३–१

२. सत्यार्थप्रकाश पृ० ३०६।

सब कुछ अनित्य नहीं वरन् और भी कोई सत्ता नित्य है जिस पर ब्रह्म शासन करता है। यह सत्ता क्या है? यह हमें मुण्डक स्पष्ट बताता है, "एक (अजा) अनादि सत्व, रज व तम वाली प्रकृति है जो अपने में से बहुत प्रकार की प्रजा को पैदा करती है, एक (अजः) अनादि जीवात्मा है जो प्रकृति से उत्पन्न पदार्थों का भोग करता है तथा एक (अजः) नित्य परमात्मा है जो इन भोगों का भोग नहीं करता।"[1] अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त जीवात्मा व प्रकृति दो नित्य पदार्थ और भी हैं। इन श्रुतियों से दयानन्द के त्रैतवाद की पुष्टि होती है।

उपनिषदों में ज्ञान, कर्म व उपासना

विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ ई० उ० ११॥

'जो मनुष्य विद्या व अविद्या को साथ ही जानता है व अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तर कर के विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।"[2]

स्वामी दयानन्द उपनिषद् ग्रन्थों में ब्रह्म-प्राप्ति के लिये ज्ञान, कर्म व उपासना तीनों के समुच्चय को प्रतिपादित करते हैं। उपनिषद जीवन-विद्या के सर्वोच्च ग्रन्थ हैं फिर इनमें जीवन के किसी भी अंग की उपेक्षा कैसे की जा सकती है। कर्म और उपासनारहित ज्ञान केवल बुद्धि का कौशल है, जिसके लिये उपनिषदें स्पष्ट ही कहती हैं, "यह आत्मा बहुत पठन-पाठन से प्राप्त नहीं होता, न यह बुद्धि से जाना जाता है और न वह शास्त्रों के सुनने से। (वरन्) परमात्मा जिसका वरण करता है उसी के द्वारा यह प्राप्त किया जाता है। उस (साधक) के लिये (यह) अपने स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है।"[3] जो साधक श्रद्धापूर्वक

---

१. अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमाना सरूपाः।
अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥
श्वेत० उ० ४-५॥

२. स० प्र०, पृ० २३६।

३. 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुँ स्वाम्।'
कठ० उ० १-२-२३॥

परमात्मा का वरण करते हैं उनके लिए यह दुर्बोध नहीं है। उपरोक्त मंत्र के सम्बन्धित अर्थ में दयानन्द ब्रह्म-प्राप्ति में पवित्र ज्ञान व पवित्र उपासना पर बल देते हैं।"[1]

स्वामी शंकराचार्य जी उपनिषदों में मुमुक्षु के लिये कर्म-मार्ग को वर्जित बताते हैं। वह कहते हैं कि उपनिषदों में "ज्ञान व कर्म का विरोध पर्वत के समान अविचल है"[2] स्वामी जी आगे कहते हैं कि "ईशावास्यमिदं—इस मंत्र के द्वारा सम्पूर्ण एषणाओं के त्यागपूर्वक ज्ञाननिष्ठा का वर्णन किया है, यही वेद (उपनिषद्) का प्रथम अर्थ है। तथा जो अज्ञानी और जीवित रहने की इच्छा वाले हैं उनके लिये ज्ञाननिष्ठा सम्भव न होने पर "कुर्वन्नेवेह कर्माणि"... इत्यादि मंत्र से कर्म निष्ठा कही है। यह वेद का दूसरा अर्थ है।"[3] शंकराचार्य का कहना है कि इनमें सन्यास मार्ग ही उत्कृष्ट है क्योंकि कर्म मार्ग निःश्रेयस का देने वाला नहीं है। उनके अनुसार श्रुति उपदेश करती है, "जीवन या मरण का लोभ न करे, वन को चला जाये और फिर वहां से न लौटे।"[4] स्वामी जी का कहना है कि इन वाक्यों से श्रुति में सन्यास का ही विधान है। लेकिन इसके विपरीत स्वामी दयानन्द 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि...' से कहते है कि "परमेश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्य सौ वर्ष पर्यन्त अर्थात् जब तक जीवे तब तक कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे, आलसी कभी न बैठे।"[5] परन्तु कर्म सकाम भावना से न करे वरन् यथार्थता को जानकर कर्मफल

---

१. पवित्र कर्म, पवित्रोपासना और पवित्र ज्ञान ही से मुक्ति और अपवित्र मिथ्या भाषणादि कर्म पाषाण मूर्त्यादि की उपासना और मिथ्या ज्ञान से बन्ध होता है।" स० प्र० पृ० २३७।

२. 'ज्ञान कर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्पयं यथोक्तं न स्मरसि किम् ?' ईशोपनिषद, मं० २ पर शंकरभाष्य।

३. ईशोपनिषद् शाँकर भाष्य मं० ८ के आगे। उपनिषद् भाष्य सानुवाद खण्ड १ पृ० २०-३१, गीता प्रेस गोरखपुर।

४. वही पृ० १८।

५. सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ १८३।

का त्याग ही करे। ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों में ही फल की भावना का त्याग सम्भव है क्योंकि इससे कर्मफल की तुच्छता तथा उसके बन्ध का हेतु होने का ज्ञान हो जाता है। उपनिषदों में कहीं भी कर्म छोड़ने का आदेश नहीं किया गया है बल्कि कर्म करने का आदेश तो पाया जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में पाँच प्रकार की उपासना (अधिलोक, अधिज्योतिष् अधिविज्ञ, अधिप्रज्ञ, अध्यात्म) का व्याख्यान किया गया है कि 'जो धीर पुरुष इन उपासनाओं को जान कर यथावत् व्यवहार में लाता है वह सब प्रकार के सुख ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेता है।।'[1] यदि उपनिषदों को कर्म करना अभिप्रेत न होता तो स्पष्ट घोषणा कर देते कि कर्मों को छोड़ देना चाहिये और कहीं वन में बैठकर बिना दैनिक कर्म किये तप करना चाहिये लेकिन यह बात नहीं है। उपनिषदें व्यावहारिक जीवन के विरुद्ध नहीं हैं तथा उसे जीवन की वास्तविकता जानकर उसमें रहने का निषेध नहीं करते। याज्ञवल्क्य स्वयं तत्त्वदर्शी महर्षि थे परन्तु गृहस्थावस्था में ही रहते थे। डा० राधाकृष्णन् भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि उपनिषदों में संसार के त्याग की बात नहीं कही गई है।[2]

ब्रह्म-प्राप्ति में कर्म व ज्ञान के साथ-साथ उपनिषदें उपासना को भी प्रमुख अंग मानती हैं। ज्ञान बुद्धि से ही प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु ब्रह्म में चित्त का स्थिर करना केवल बुद्धि का विषय नहीं है। यह तब तक सम्भव नहीं होता, जब तक साधक परमात्मा के सम्मुख अनन्य भक्ति से पूर्ण आत्मसमर्पण नहीं कर देता। बुद्धि के कौशल और चित्त को परमात्मा में स्थिर रखने में बड़ा अन्तर है। चित्त के शुद्ध होने पर ही चित्त में ध्यान की शक्ति प्राप्त होती है जिससे चित्त निरन्तर शुद्धि की ओर प्रवृत होता है। शुद्ध चित्त ही आध्यात्मिक ज्ञान का अधिकारी होता है। अशुद्ध मन विद्वान पुरुषों को

---

१. 'इतिसा महासंहिता य एवमेता महासंहिता व्याख्याता वेद। संधीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेनान्नद्येन सुवर्गेण लोकेन।' तैति० उ० १-३-४।

२. "The general impression that the upanishads require world denial is not quite correct." The Principal Upanishads p. 106., by Dr. S. Radhakrishnan.

भी दुष्ट अश्व के के समान पथ से हटा देता है।[1] बुद्धि की पहुँच विद्या के क्षेत्र में अधिक गहरी नहीं है। केवल बुद्धि-कौशल से आत्मा प्राप्त नहीं होती। कठोपनिषद् कहता है कि 'यह आत्मा प्रवचन से प्राप्त नहीं होता, ना ही बुद्धि से और ना ही अधिक सुनने से।'[2] श्रुत ज्ञान का साक्षात् कैसे हो इसके लिये उपनिषदें उपासना का मार्ग बताती हैं।

इन ग्रन्थों में अत्यन्त ही हृदयस्पर्शी भाषा में श्रद्धापूर्वक भक्ति का विवरण मिलता है यथा मुण्डकोपनिषद् का ऋषि पूर्ण तन्मयता से ब्रह्मरूपी लक्ष्य को प्राप्त करने का आदेश देता है "प्रणव (ओ३म्) को धनुष बनाओ, आत्मा को तीर के समान मानों ब्रह्म को लक्ष्य समझकर आलस्य छोड़कर पूर्ण तन्मयता से ब्रह्मरूपी लक्ष्य को भेदो।"[3] यही नहीं बल्कि श्वेताश्वेतरोपनिषद् में उपासक भगवान से विनती करता है, "हे परमात्मन् हमारी बुद्धि को तत्त्व की प्राप्ति के लिये अपने रूप में लगाइये।"[4]

उपनिषदें ज्ञान, कर्म व भक्ति के समुच्चय के विषय में अत्यन्त स्पष्ट हैं कि इन तीनों के सम्यक् पालन से ही रहस्यमय अध्यात्म की प्राप्ति हो सकती है। मुण्डकोपनिषद् श्रद्धा की महिमा को इस प्रकार कहता है, "जो विद्वान् लोग वनों में शान्त भिक्षावृत्ति का आचरण करते हुए तप और श्रद्धा से परमात्मा की उपासना करते हैं वे सूर्य-मार्ग (प्राणमार्ग) में प्रवेश कर पर-ब्रह्म को

---

१. 'दुष्टाश्व युक्तमिव वाहमेन विद्वान्मानो धारयेताप्रमत्तः।'
(श्वेतः उ० २-६)

२. "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहूना श्रुतेन।"
कठ० १-२-२३।

३. 'प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्। (मु० उ० २-२-४)
'यदोकांरः तस्माद्विद्वानेतेनैवा यतनेनैकतरमन्वेति' (प्र० उ० ५-२)

४. 'युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः। अग्नेज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत।' (श्वेत० उ० २-१)

प्राप्त होते हैं।"[१] प्रश्नोपनिषद् में पाँचवे प्रश्न में महर्षि पिप्लाद तीन प्रकार की उपासना पृथक्-पृथक् बताकर कहते हैं "जो ज्ञान, कर्म व भक्तिपूर्वक ओंकार की उपासना करता है वह उस परमात्मा को प्राप्त कर लेता है जहां जरा, अशान्ति व मृत्यु नहीं होती।"[२]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि महर्षि दयानन्द का उपनिषदों में ज्ञान, कर्म व भक्ति का समुच्चय ही सही अर्थों में औपनिषदिक उपासना का रूप है।

———

१. 'तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा।'
(मु० उ० १-२-११)

२. 'ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते। तमोंकारेणै-वायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति' (प्र० उ० ५७-)

३

स्वामी दयानन्द व षड्दर्शन



षड्दर्शन समन्वय

उपनिषदों में ज्ञान की जिस प्रक्रिया का श्रीगणेश हुआ था उसको दर्शनों ने एक दूसरे स्तर पर रखा है। औपनिषदिक साहित्य में हमें गम्भीर ज्ञान मिलता है जोकि ऋषियों द्वारा समाधि अवस्था में प्राप्त किया गया था। इन ग्रंथों में तर्क का आश्रय नहीं लिया गया था वरन् जैसा ऋषियों की अनुभूति हुई वैसा ही उन्होंने कहीं काव्य और कहीं अर्धकाव्य में व्यक्त कर दी। उपनिषदों के इसी ज्ञान को वैदिक षड्दर्शनों में वर्णित किया गया है। दर्शन-निर्माता ऋषियों का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि वे वैदिक तत्त्वज्ञान को तर्क का सुदृढ़ आधार देना चाहते थे। इस प्रकार का प्रयास यों तो सभी दर्शनों में दिखलाई पड़ता है परन्तु अधिक सुस्पष्ट व सीधे रूप में सांख्य व वेदान्त दर्शनों में मिलता है।

वैदिक दर्शन संख्या में छः हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा व उत्तर मीमांसा। उत्तर मीमांसा को ही ब्रह्मसूत्र तथा वेदान्त दर्शन भी कहते हैं। न्याय शास्त्र के रचयिता महर्षि गौतम, वैशेषिक के महर्षि कणाद, साँख्य के महर्षि कपिल, योग दर्शन के पतञ्जलि मुनि, पूर्व मीमांसा के जैमिनी तथा ब्रह्मसूत्र के रचयिता महर्षि बादरायण हैं। ये सभी दर्शन आस्तिक दर्शन कहलाते हैं। परम्परा के अनुसार जो दर्शन वेदों को स्वतः प्रमाण मानते हैं वे आस्तिक दर्शन कहलाते हैं तथा जो वेद की निन्दा करते हैं वह नास्तिक हैं।[1] उपरोक्त छओ दर्शन वेदों को स्वतः प्रमाण मानते हैं अतः यह आस्तिक हैं तथा

१. 'नास्तिको वेदनिन्दकः।' मनु० २-११।

बौद्ध, जैन व चारवाक दर्शन वेदों का उपहास व उनकी निन्दा करते हैं अतः नास्तिक कहलाते हैं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा व ब्रह्मसूत्र यह सभी दर्शन सूत्ररूप में रचे गये हैं। सूत्र का तात्पर्य ऐसे अल्पाक्षर वाक्यों से है जिनमें विषय साररूप में परन्तु स्पष्ट तौर पर बताया जाता है।[१] सूत्र के द्वारा, दर्शन का रचयिता ऋषि, थोड़े शब्दों में विषय का निर्देश मात्र कर देता है, परन्तु इसका रहस्य जानने के लिये काफी विचार और परिश्रम की आवश्यकता होती है। दर्शन सूत्ररूप में क्यों लिखे गये हैं? ऐसा प्रतीत होता है, प्रथम तो प्राचीन काल में छापेखाने के अभाव में ग्रन्थों को कण्ठस्थ करने की प्रथा थी। स्मृति को सरल बनाने तथा सुरक्षित रखने के लिये सूत्र-पद्धति को अधिक उत्तम समझा गया। दूसरे, सूत्ररूप में दार्शनिक रहस्यों को हृदयांगम करना सरल हो जाता है क्योंकि सूत्रों में उस विषय के सभी प्रमुख विचार आ जाते हैं।

परन्तु दूसरी ओर शास्त्रों का सूत्ररूप में लिखने की प्रथा ने काफी हानि भी की है; प्रथम तो इनसे इन ग्रंथों के वास्तविक अर्थ अत्यन्त गूढ़ हो गये हैं जिससे इन्हें समझने में काफी कठिनाई होती है। दूसरे, सूत्रों में पूर्वपक्ष व सिद्धान्तपक्ष का भेद नहीं किया गया है इससे इनके सूत्रों में पूर्वापर संदर्भ बनाना कठिन हो जाता है। सूत्र-पद्धति की इन्हीं कठिनाइयों के कारण, विभिन्न भाष्यकार एक ही ग्रन्थ में वर्णित सूत्रों के अलग-अलग अर्थ करते हैं। कोई किसी सूत्र को पूर्वपक्ष का बताता है तो दूसरा भाष्यकार उसे सिद्धान्तपक्ष का बताता है। षड्दर्शनों की इसी दुर्बोधता के कारण अनेक प्रसिद्ध भारतीय व पश्चिमी विचारकों का यह विचार बना कि इन छहों दर्शनों में आपस में विरोध है; यथा वैशेषिक के परमाणुवाद व असत्कार्यवाद का सांख्य के गुणवाद व सत्कार्यवाद से विरोध है, सांख्य नास्तिक दर्शन है, मीमाँसा केवल कर्मशास्त्र है तथा वेदान्त मायारूपी ग्रन्थ, इत्यादि इत्यादि। यह विचारधारा मध्य युग से चली आ रही है। श्री शंकराचार्य जी ने दर्शनों में विरोध की इस भावना को

१. अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

वेदान्त दर्शन पर किये अपने भाष्य में विषद् रूप में लिखा है जो बाद में व्यापक रूप में भारत तथा भारत मे बाहर प्रचलित हुई। दर्शनों में विरोध के सिद्धान्त को श्री रामानुजाचार्य भी मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह विचार रामानुजाचार्य ने शंकराचार्य से लिया है, क्योंकि जिन सूत्रों में शंकराचार्य दर्शनों में विरोध का प्रतिपादन जिस रूप में करते हैं, ठीक उसी रूप में उन्ही सूत्रों में रामानुजाचार्य भी करते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में स्वामी दयानन्द ने वैदिक दर्शनों को एक ऐसे आधार पर रखा जो सदियों से आई परम्परागत विचारधारा के विरुद्ध था। दयानन्द की दृढ़ मान्यता है कि षड्-दर्शनों में आपस में विरोध नहीं है बल्कि इनमें से प्रत्येक सत्य के भिन्न-भिन्न पहलुओं की व्याख्या करता है।[1] स्वामी जी की इस विचारधारा का आधार यह है कि प्रथम, छहों दर्शन वेद को स्वतः प्रमाण मानते हैं अतः यह वेद की केन्द्रीय विचारधारा के विपरीत नहीं जा सकते।[2] दूसरे इनके रचयिता ऋषिगण हैं जिनका दृष्टिकोण निभ्रान्त व स्पष्ट होता है। ऋषि उसी को कहा जाता है जिसने अपने विषय का हस्तामलकवत् साक्षात् किया हो और बिना किसी पक्षपात की भावना के सत्य का प्रतिपादन किया हो। स्वामी दयानन्द कहते हैं कि 'दर्शनशास्त्र जो कि वेदों के उपाँग कहे जाते हैं ऐसे ही ऋषियों के बनाये हुए हैं।'[3] स्वामी जी का यह स्पष्ट मत है कि इन शास्त्रों में आपस में कोई विरोध नहीं है। उनका कहना है कि न्याय के परमाणुवाद तथा साँख्य के गुणवाद में कोई विरोध नहीं है, सांख्य नास्तिक दर्शन नहीं है बल्कि आस्तिक है, वेदान्त अद्वैतवादी दर्शन नहीं है बल्कि इस दर्शन में ब्रह्म व जीव का भेद कहा है और प्रकृति सर्वथा एक पृथक् पदार्थ है। हम देखते हैं कि स्वामी जी षड्दर्शनों को एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण से देखते हैं। वैदिक षड्दर्शनों में समन्वय को पुष्ट करना निःसन्देह बड़ा कठिन कार्य है जो गम्भीर विचार व गहरे अध्ययन की अपेक्षा रखता है। लेकिन इस विषय में

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, २२२।
२. संस्कृत साहित्य विमर्श, पृ० २५५, पं० द्विजेन्द्र नाथ शास्त्री।
३. "मीमाँसादि छः वेदों के उपांग···इत्यादि सब ऋषि मुनि के किये ग्रन्थ हैं।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ६६।

दयानन्द का दृष्टिकोण सर्वथा एक नवीन विचार है जो विद्वानों के लिये मनन का विषय है। यद्यपि प्राचीन काल में षड्दर्शनों में समन्वय की झलक प्रतीत होती है। परन्तु मध्य युग में वह धूमिल हो गई थी। आधुनिक काल में ऋषि दयानन्द ने इस विचारधारा को पुनः अनुप्राणित किया है। यह हम आगे देखेंगे कि इस दृष्टिकोण में पर्याप्त वल है, जिसे असिद्ध करना सरल काम नहीं है। षड्दर्शनों में आपसी विरोध नहीं है यह प्रवृति दयानन्द के बाद आज अनेक विद्वानों में भी पाई जाती हैं।[1]

दयानन्द षड्दर्शनों में एक समन्वयित दार्शनिक विचारधारा को मानते हैं। समन्वयित विचारधारा से उनका तात्पर्य अक्षरशः समानता से नहीं है। वैदिक दर्शन सत्य तक पहुँचने के लिये, विचार स्वतन्त्रता को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्त्व मानता है। दयानन्द का षड्दर्शनों में समन्वय से तात्पर्य है कि यह छओं दर्शन एक ही सत्य का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से वर्णन करते हैं। तात्त्विक दृष्टि से इनके मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों में आपस में कोई मतभेद नहीं है। प्रतीत होने वाला भेद केवल विषय की भिन्नता एवं वर्णन की भिन्न-भिन्न प्रणालियों के कारण है। प्रत्येक दर्शन का अपना अलग विषय व अलग प्रणाली है। इसमें हो सकता है कि दिखाई पडने वाला विरोध प्रणालीमात्र का विरोध हो जिसे विचार करने पर आसानी से दूर किया जा सकता है। दिखाई पड़ने वाले विरोध का का कारण भिन्न-भिन्न दर्शनों की अपनी-अपनी पृथक् शब्दावली भी हो सकती है। जैसे न्याय व वैशेषिक शास्त्र आत्मा शब्द से ही परमात्मा का ग्रहण करते हैं। यथा 'विभावान्महानाकाशस्तथा चात्मा।' वैशेषिक ७-१-२२। अर्थात् व्यापक होने से आकाश और परमात्मा महत् परिणामयुक्त

---

१. (i) The Sacred book of Hindus, Vol. VI Vaishasik Sutra; Introduction P. VIII, Edited by Major Vasu.
(ii) संस्कृत साहित्य विमर्श, पं० द्विजेन्द्र नाथ शास्त्री, पृ० २५६।
(iil) पातंजल योग प्रदीप, ले० ओमानन्द तीर्थ, पृ० १०।
(iv) Max Muller refers Vijyan Bhiksu. Indian Philosophy Vol. 1 P. 80 Six Systems.

हैं। यहां पर आत्मा शब्द परमात्मा के लिये आया है, जिसे जीव के लिये भी प्रयुक्त किया जा सकता है। इसी प्रकार सांख्य पुरुष शब्द से जीव व ब्रह्म दोनों का ग्रहण करता है। लेकिन यदि सब स्थानों पर प्रकरण को देखे बिना न्याय-वैशेषिक के आत्मा शब्द का तथा सांख्य के पुरुष शब्द का सब स्थानों में जीवात्मा में प्रयोग करें तब ये तीनों शास्त्र नास्तिक शास्त्र दिखाई पड़ने लगते है।[1] दयानन्द कहते हैं कि "वैशेषिक और न्याय भी आत्मा शब्द से अनीश्वर-वादी नहीं, क्योंकि सर्वत्रत्वादि धर्मयुक्त और 'अतति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा' जो सर्वत्र व्यापक और सर्वज्ञादि धर्मयुक्त सब जीवों का आत्मा है उसको मीमांसा, वैशेषिक और न्याय ईश्वर मानते हैं" (सत्यार्थप्रकाश पृ० १८८)। और इस प्रकार शब्दावली के इस रहस्य को न समझने पर ही विद्वानों को इन शास्त्रों का वेदान्त व योग से विरोध दिखाई पड़ता है। परन्तु दयानन्द की उपरोक्त विधि से शास्त्रों को सावधानीपूर्वक पढ़ने पर छहों शास्त्रों में समान सिद्धान्तों का पता चल जाता है।

शास्त्रों में साधारण विरोध, जो कि मूलभूत सिद्धान्तों पर प्रभाव नहीं डालते, माने जा सकते हैं। उदाहरण के रूप में वेदान्त में इस विषय पर कि मुक्ति में मन का आत्मा से संग रहता है या नहीं, बादरायण अपने से अतिरिक्त अन्य आचार्यों बादरि व जैमिनी के परस्पर विरुद्ध मतों का हवाला देते हैं। परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि बादरि व जैमिनी में विरोध था और इनमें से एक भ्रान्त था क्योंकि अगले ही सूत्र में बादरायण कहते हैं कि हम दोनों को ही ठीक मानते हैं।[2] इसी प्रकार सांख्यों के गुणवाद व वैशेषिक के गुण में भेद हैं जिससे विचारक इनमें विरोध ढूंढते हैं परन्तु यह तो स्वयं सांख्य शास्त्र कह रहा है कि इस शास्त्र में वैशेषिकों के समान पदार्थ-भेद नहीं किया है।[3] अत: सांख्य के गुणों को वैशेषिक के गुण की परिभाषा की दृष्टि से समझना हमारी दृष्टि में भूल होगी।

---

१. शंकराचार्य वेदान्त सूत्रों के भाष्य में सांख्य के साथ-साथ वैशेषिक व न्याय को भी नास्तिक दर्शन मानते हैं। देखिये वेदान्त २-२-१२, शंकराचार्य।

२. वेदान्त सूत्र, ४-४-१०, ११ व १४।

३. देखिये, सांख्य सूत्र, ६-३८ व ३९ तथा इन पर तुलसीराम स्वामी का भाष्य।

स्वामी दयानन्द छहों वैदिक दर्शनों में मौलिक समन्वय को देखते हैं उसके समन्वय का मुख्य आधार त्रैतवाद है। उनका कहना है कि षड्वैदिक दर्शन ईश्वर (ब्रह्म) जीव व प्रकृति को अनादि मानते हैं। फिर इनमें यदि इस बात पर मतभेद हो कि प्रमाण कितने हैं, अभाव भी एक पदार्थ है या नहीं अथवा मुक्ति के लिये कौन-सा मार्ग उत्तम है ज्ञान का, कर्म का या उपासना का अथवा तीनों के समन्वय का, इससे उनकी एकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह तो वैदिक धर्म में विचार स्वातन्त्र्य का परिणाम है कि ऋषि स्वतन्त्रतापूर्वक सिद्धान्तों का निरीक्षण करता है और उनको सत्य पाने पर सम्पादन करता है। यह तो उनकी सत्यता है कि जो भी वे सत्य पाते थे निर्भय होकर कह देते थे। इसमें भेद व आपसी विरोध की बात नहीं है, वरन् उनका आदि स्रोत एक (वेद) है, विचार प्रक्रिया समान है तथा मूलभूत सिद्धान्त एक हैं। श्री नन्दलाल सिन्हा इन दर्शनों में विरोध देखने वालों को उत्तर देते हुए, मैक्समूलर के हवाले से, विज्ञान भिक्षु के इस विचार को लिखते हैं कि ये दर्शन एक समान स्रोत से निकले हैं।[१]

उपरोक्त विवेचन से यही प्रतीत होता है कि वैदिक षड्दर्शनों के विषय में मध्यकाल के पश्चात् स्वामी दयानन्द का समन्वयात्मक दृष्टिकोण दर्शन शास्त्र में एक नवीन विचारधारा है। इसकी पूर्ण पुष्टि के लिये गम्भीर अध्ययन व काफी खोज की आवश्यकता है। लेकिन प्रतीत यह होता है कि स्वामी जी के विचारों में तथ्य है। आर्यमुनि व तुलसीराम स्वामी प्रभृति विद्वानों ने छहों दर्शनों पर भाष्य लिखे हैं, जिनमें उनका दृष्टिकोण स्वामी दयानन्द के अनुकूल

---

1. And to those who think that these systems are at daggers drawn with one another, the reply may be given once for all in the felicitious language of Max Muller, "The longer I have studied the various systems ··· that there is behind the variety of the six systems a common fund·········.
(Introduction P, VIII of the Sacred books of Hindu Series Vaisheshika Sutras, Vol. VI).

है। इसके अलावा श्री ओमानन्द तीर्थ ने पातंजल-योग-प्रदीप व द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री ने संस्कृत साहित्य विमर्श नामी अपने ग्रन्थों में भी षड्दर्शन समन्वय दिखाने की चेष्टा की है। इन विद्वानों पर स्वामी दयानन्द का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है।

षड्दर्शन में प्रकृति

दयानन्द का समन्वयात्मक दृष्टिकोण

सत्कार्यवाद व असत्कार्यवाद—सांख्य दर्शन का विचार है कि संसार की सारी वस्तुओं का कोई न कोई कारण अवश्य है और उस कारण का भी कोई कारण होगा, इस प्रकार कार्य से कारण की खोज करते हुए हमें एक ऐसे तत्त्व को मानना पड़ता है कि जो सब पदार्थों का आदि कारण है परन्तु किसी का कार्य नहीं। इसी तत्त्व को सांख्यों ने प्रकृति कहा है तथा संसार के समस्त जड़ पदार्थ इसी के विकार हैं। इसके अतिरिक्त उनका यह भी कहना है कारण में कार्य अव्यक्तावस्था में विद्यमान रहता है। यही व्यक्त होने पर कार्य कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि सांख्यों के अनुसार कार्य किसी पूर्ववर्ती शून्य से उत्पन्न नहीं होता वरन् अपने कारण में शक्तिरूप से पहले से ही विद्यमान रहता है, जिसका विकास या व्यक्त होना कार्य कहा जाता है। सांख्य दर्शन में इस सिद्धांत को सत्कार्यवाद की संज्ञा दी गई है। सांख्यों का सारा दर्शन इसी सिद्धान्त पर आधारित है। इसी से उन्होंने प्रकृति के अनादित्व का प्रतिपादन किया है कि समस्त जड़ पदार्थों का कोई न कोई आदि कारण अवश्य है जिसमें ये सृष्टि से पूर्व ही अव्यक्तावस्था में विद्यमान थे। यह तत्त्व सांख्यों के मत में (जड़-सृष्टि पक्ष में) प्रकृति है। हम देखते हैं कि सत्कार्यवाद के नियम से प्रकृति अनादि तत्त्व सिद्ध होता है। साँख्यों का यह मत उपनिषदों में अनेक स्थलों पर यथावत् विद्यमान मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् कहता हैं 'हे श्वेतकेतो ! अन्नरूप पृथ्वी कार्य से जलरूप मूल कारण को तू जान। कार्यरूप जल से तेजोरूप मूल और तेजोरूप कार्य से सद्रूप कारण जो नित्य प्रकृति है उसको जान। यही सत्य स्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल घर और स्थिति स्थान है।"[1]

---

१. '(एकमेव खलु) सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छा··· सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।' छा० उ०, ६-८-४।

(इस मन्त्र पर स्वामी दयानन्द के विचार, देखिये स० प्रकाश, पृ० २११) २४२

न्याय-वैशेषिक भी प्रकृति की सत्ता को मानते है परन्तु वे सांख्यों की तरह सत्कार्यवाद के सिद्धांत को नहीं मानते बल्कि असत्कार्यवाद के पोषक है। असत्कार्य-वाद के अनुसार कारण में कार्य पूर्व ही विद्यमान नहीं होता वरन् बीज का उपमर्दन कर एक नये पदार्थ अंकुर की उत्पत्ति होती है, अर्थात् एक नया पदार्थ पैदा होता है जो पहले न था। सत्कार्यवाद के विरुद्ध कुछ भाष्यकारों का तर्क है कि यदि बीज में अंकुर पहले ही विद्यमान होता तब उसकी उत्पत्ति कहना व्यर्थ है, क्योंकि उत्पत्ति से पूर्व जो पदार्थ नहीं होते उन्हीं की उत्पत्ति कही व सुनी जाती है अतः बीज में अंकुर उत्पत्ति से पूर्व नहीं होता। नैयायिकों के इस तर्क पर सांख्य भाष्यकार उत्तर देते हैं कि हम उत्पत्ति से पूर्व कारण में कार्य की विद्यमानता अव्यक्तावस्था में मानते हैं। इनके मत में उत्पत्ति का अर्थ होता है जो अव्यक्त था उसका व्यक्त होना। सांख्य विद्वानों का आगे कहना है कि यदि कार्य को पूर्व ही अपने कारण में शक्तिरूप में विद्यमान न माना जायेगा तो अभाव से भाव की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। इससे स्वयं नैयायिकों का प्रकृति व उपादान कारण का सिद्धान्त खतरे में पड़ जायेगा। क्योंकि यदि अभाव से भाव को उत्पत्ति मानी जाये तो उपादान कारण की क्या आवश्यकता है, क्योंकि शून्य से सब पदार्थों की उत्पत्ति मान ली जा सकती है।

इस स्थल पर हमें इन शास्त्रों के भाष्यकारों व टीकाकारों के आपसी विवाद में नहीं पड़ना है, क्योंकि इस विवाद में फंसकर हम सूत्रों के वास्तविक अभिप्राय से दूर हट जायेंगे। सत्कार्यवाद व असत्कार्यवाद का यह आपसी विवाद सदियों पुराना प्रतीत होता है। परन्तु दयानन्द का दृष्टिकोण इस विवाद के विपरीत है। उनके अनुसार इन शास्त्रों में कोई विरोध नहीं है। ऐसा हो सकता है कि इन शास्त्रों के रचयिता ऋषियों ने इस प्रकार के विवाद की कल्पना भी न की हो और यह विवाद विद्वानों की मानसिक कसरत मात्र हो। अतः वास्त-विकता तक पहुँचने के लिये हमें यह उचित ही प्रतीत होता है कि इस विषय पर मूल ग्रन्थों की शरण ली जाय और दयानन्द की यही मौलिकता है कि वे सिद्धांत निर्णय के लिये सीधे मूल ग्रन्थ की शरण लेते हैं तथा उस पर रचे भाष्य टीका आदियों पर विचार नहीं करते, क्योंकि उनके विचार में टीकाकार निर्भ्रान्त नहीं हैं।

न्याय शास्त्र में सूत्र आता है 'अभावाद् भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' (न्याय० ४-१-१४) अर्थात् '(बीज का) नाश हुए बिना (अंकुर की) उत्पत्ति न होने से अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है।' इस सूत्र से सूत्रकार स्पष्ट असत्-कार्यवाद का प्रतिपादन करते दिखाई देते हैं। परन्तु स्वामी दयानन्द इस सूत्र को न्याय शास्त्र में पूर्वपक्षी का सूत्र बताते हैं और इसके उत्तर में कहते हैं, 'जो बीज का उपमर्दन करता है वह प्रथम ही बीज में था जो न होता तो उत्पन्न कभी न होता'।[1] इससे यह पता चलता है कि उपरोक्त सूत्र से स्वामी दयानन्द न्याय में असत्कार्यवाद को उस रूप में नहीं मानते जिस रूप में अन्य विद्वान मानते हैं। इस पर यह कहा जा सकता है कि यहां दयानन्द सूत्र को अपने पक्ष-पोषण के लिए पूर्वपक्षी का प्रश्न बता रहे हैं। इसके उत्तर में हमारा कहना है कि ऐसा नहीं है, क्योंकि यह विचार केवल स्वामी दयानन्द का ही नहीं वरन् न्याय-शास्त्र के प्रामाणिक व प्रसिद्ध भाष्यकार वात्स्यायन मुनि भी इसे पूर्वपक्षी का ही सूत्र मानते हैं। श्री गंगानाथ झा, स्वामी तुलसीराम तथा संस्कृत कालिज कलकत्ता के प्रिंसिपल महामहोपध्याय सतीश चन्द्र विद्याभूषण का भी यही विचार है।[2] यही नहीं परन्तु स्वयं न्यायशास्त्र अभाव से भाव की उत्पत्ति को असंगत मानता हुआ उपरोक्त सूत्र के उत्तर में अगले ही सूत्र में कहता है 'व्याघाताद् प्रयोग।' न्याय ४-१-१५। अर्थात् "The reasoning put forward is unsound, as it involves self contradiction." (Vatsyayan Bhasya, Translated by Ganga Nath Jha) इसी सूत्र का अर्थ सतीश चन्द्र विद्याभूषण इस प्रकार करते हैं—"It is we reply, not so, because

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २१६।

2. (i) See-Gautam's Nyaya Sutras 4-1-14 (In the Vatsyayan Bhasya) by Ganga Nath Jha.
(ii) Sutra 4-1-14 Translated by Mahmahopadhyaya Satish Chandra Vidhyabhushan, The Sacred Book of Hindus. Voi. VIII, Nyaya Satras of Gautam.

such an expression inconsistent as it is connot be employed."[१] इससे यही प्रतीत होता है कि न्यायशास्त्र अभाव से भाव की उत्पत्ति के सिद्धांत को नहीं मानता। एक अन्य स्थल पर न्याय शास्त्र अवयवों में अवयवी की विद्यमानता को स्वीकार करता है।[२] हमारे इस विचार को डा० राधाकृष्णन से भी बल मिलता है जहां वह कहते हैं कि 'नैयायिक यह तो मानता है कि पूर्व (द्रव्य पदार्थ) के पूर्ण विनाश से नवीन पदार्थ की उत्पत्ति असम्भव है परन्तु इसे खुलकर कहने को तैयार नहीं होता। इससे यही मालूम पड़ता है कि न्यायशास्त्र के अनुसार द्रव्य अपनी पूर्वावस्था का परित्याग मात्र करता है।[३] इस प्रकार स्वयं न्यायसूत्रों व अनेक विद्वानों द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि न्याय-दर्शन का असत्कार्यवाद से यह तात्पर्य नहीं है कि कार्य सर्वथा एक नवीन वस्तु है तथा उत्पत्ति से पूर्व कारण में उसका सर्वथा अभाव था।

वैशेषिक दर्शन न्यायशास्त्र का समानतन्त्र है अतः अभाव से भाव की उत्पत्ति के रूप में असत्कार्यवाद का आरोप उस शास्त्र में भी लगाया जाता है। आरोपकर्त्ता वैशेषिक दर्शन के सूत्र **'क्रियागुणव्यपदेशाऽभावात् प्रागऽसत्'**।[४] का अर्थ करते हुए कहता है कि क्रिया व गुण का अभाव पाये जाने से (कार्य का उत्पत्ति से पूर्व) अभाव था। इससे एक बार फिर यह संशय हो जाता है कि कहीं वैशेषिक असत्कार्यवाद (अभाव से भाव की उत्पत्ति) का प्रतिपादन तो नहीं कर रहा। परन्तु वैशेषिक के अन्य सिद्धांतों व उसको मूल भावना तथा सूत्रों को

---

1. Idid-4-1-15.

२. **'तदाश्रयत्वादऽपृथग्ग्रहणम्'**। **न्याय सू० ४-२-२८।**

3. The Naiyayika concedes that a complete destruction of the previous substances will make thc formation of the new impossible. It follows that the substance only relinquishes its former condition though the Naiyayaka is not inclined to accept it openly." Indian Philosophy, Vol. 2, P. 97,

—Dr. S. Radha Krishnan.

४. **वैशेषिक सूत्र ९–१–१।**

पूर्वापर संदर्भ से देखने पर इसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इस स्थल पर, क्रिया व गुण के अभाव में कार्य का अपने कारण में अभाव मानने से, वैशेषिक का तात्पर्य यह है कि जब वस्तु की उत्पत्ति ही नहीं हुई तब उसके कार्य व गुणों का अभाव होगा। यहाँ पर शास्त्रकार यह स्पष्ट कह रहे हैं कि पृथिवी आदि द्रव्य उत्पत्ति से पूर्व असत् थे क्योंकि उस समय पृथिवी आदि द्रव्यों के कार्यों व गुणों का अभाव था। उदाहरणार्थ घट से पूर्व घट के क्रिया व गुण नहीं थे परन्तु मृत्तिका थी, मृत्तिका के क्रिया व गुण थे। मृत्तिका से घट की उत्पत्ति हुई अर्थात् मृत्तिका का नाम-रूप बदलने पर घट नाम का नया पदार्थ बना जो वास्तव में मृत्तिका का ही विकार है। अत; घट मृत्तिका में था ही परन्तु व्यक्त होने से नया बना माना गया और घटरूप से उनकी प्रसिद्धि हुई। कारण में कार्य समवाय रूप से है ऐसा वैशेषिक भी मानता है।[१]

उपरोक्त विवेचन से यही प्रतीत होता है कि असत्कार्यवाद में भी कारण से ही कार्य की उत्पत्ति मानी गई है, बिना कारण के नहीं। परन्तु न्याय-वैशेषिक द्वारा कार्य का कारण में असत् कहने का तात्पर्य कारणावस्था में कायरूप का अभाव होने से है। न्याय मंजरी का रचयिता कहता है कि हम (नैयायिक) यह नहीं मानते कि कोई भी वस्तु, जिसका अभाव है, पैदा हो जायेगी बल्कि हमारा कहना है कि जो पैदा होता है उसका अभाव था,[२] अर्थात् उस रूप में उसका अभाव था। इससे सत्कार्यवाद व असत्कार्यवाद में विरोध नहीं उत्पन्न होता बल्कि यह तो अपने-अपने प्रतिपादन की प्रणाली है। दोनों ही कारण से कार्य की उत्पत्ति मानते हैं तथा कारण के अभाव में कार्य का अभाव मानते हैं।[३] और यह भी मानते हैं कि कारण के गुण कार्य के गुण में आ जाते हैं।[४]

---

१. 'कारणमिति द्रव्ये, कार्य समवायात्'। वैशेषिक सूत्र १०-२-१।

२. A History of Indian Philosophy ;
S, N. Dass Gupta, V. I. p. 320.

३. 'कारणाऽभावात् कार्याऽभावः।' वैशेषिक सूत्र १-२-१।

४. 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः।' वैशेषिक सूत्र २-१-२४।

दोनों ही शास्त्र प्रकृति तत्त्व को अनादि कारण मानते हैं। इस प्रकार इस विवेचन के निष्कर्षस्वरूप हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सत्कार्यवाद व असत्कार्यवाद में कोई विरोध नहीं है और स्वामी दयानन्द इस विषय में युक्ति-युक्त ही प्रतीत होते हैं।

वैशेषिक का परमाणुवाद तथा सांख्यों का गुणवाद—वैशेषिक परमाणु-वादी हैं तथा साँख्य गुणवादी हैं। वैशेषिक यह मानते हैं कि परमाणु प्रकृति का सूक्ष्मतम अंश है, इसका आगे विभाग सम्भव नहीं है। प्रत्येक तत्त्व के पृथक-पृथक परमाणु होते हैं जो आपस में न्यूनाधिक मिलकर अन्य पदार्थों की उत्पत्ति करते हैं। यही परमाणु आपस में संयोग कर द्वयणुक व त्रसरेणु बनाते हैं जिनसे महत् पदार्थों की उत्पत्ति होती ह। न्याय-वैशेषिक ने प्रकृति में परमाणु की सूक्ष्मता तक ही विचार किया तथा समस्त जगत में परमाणुओं की ही कला का उन्होंने दर्शन भी किया। पश्चिमी आधिभौतिक शास्त्रियों में डाल्टन ने जो परमाणुवाद की विचारधारा रखी वह बहुत हद तक वैशेषिक शास्त्र से मिलती है।

लेकिन सांख्य, प्रकृति के स्वरूप का वर्णन तीन गुणों सत्व, रज व तम के रूप में करता है। इनका कहना है कि प्रकृति सत्व, रज व तम की बनी है। अव्यक्तावस्था में प्रकृति के यह तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं। साम्यावस्था भंग होने पर ये तीनों गुण न्यूनाधिक अवस्था में होते हुये समस्त सृष्टि का निर्माण करते हैं। इसे सांख्य ने प्रकृति की व्यक्तावस्था अथवा विकार कहा है। इस मत का न्याय-वैशेषिक के परमाणुवाद से स्पष्ट विरोध प्रतीत होता है। परन्तु समन्वय की प्रवृत्ति के लिये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इनके विरोध को दूर करें।

स्वामी दयानन्द समन्वयवादी हैं। उनकी दृष्टि में वैशेषिक के परमाणुवाद व सांख्य के प्रकृति (गुणवाद) के सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं है। दयानन्द के विचारानुसार वैदिक-षड्दर्शन सृष्टि उत्पत्ति के छः भिन्न-भिन्न पहलुओं पर अलग-अलग विचार करते हैं, जैसे मीमांसा शास्त्र सृष्टि उत्पत्ति में कर्म-चेष्टा का, वैशेषिक में काल का, न्याय में उपादान कारण का, साँख्य में तत्त्वों

के मेल का तथा वेदान्त में सृष्टि बनाने वाले अर्थात् ब्रह्म का विचार किया गया है।[१] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द वैशेषिक के परमाणुवाद तथा साँख्य के गुणवाद में विरोध नहीं मानते। अतः अब हम यह देखेंगे कि स्वामी दयानन्द का यह विचार इन दोनों शास्त्रों में किस प्रकार मिलता है।

स्वामी दयानन्द के विचार से यह प्रतीत होता है कि वे सांख्यों की सत्व, रज व तम की साम्यवस्था रूप प्रकृति को नैयायिकों के परमाणुओं से अधिक सूक्ष्म मानते थे। जब प्रकृति की साम्यावस्था भंग हो जाती है तब अवयव रूप परम सूक्ष्म पृथक-पृथक तत्त्व परमाणु उत्पन्न होते हैं। स्वामी जी कहते हैं "अनादि नित्य स्वरूप सत्व, रजस और तमोगुणों की एकावस्था रूप प्रकृति से उत्पन्न जो परमसूक्ष्म पृथक-पृथक तत्वावयव (संस्कृत में तत्त्व परमाणूनां शब्द आया है जिसमें परमाणु शब्द स्पष्ट है अतः हिन्दी में भी अवयव का अर्थ परमाणु ही लेना चाहिए) विद्यमान हैं उन्हीं का प्रथम ही जो संयोग का आरम्भ है, संयोग विशेषों से अवस्थान्तर दूसरी अवस्था को सूक्ष्म स्थूल-स्थूल बनते बनाते विचित्र रूप बनी है इसी से यह संसर्ग (संयोग) होने से सृष्टि कहलाती है।"[२] अर्थात् सर्वप्रथम सत्व, रज व तमोगुण की साम्यावस्था थी यह सांख्यों की प्रकृति है। इसमें जब क्षोभ उत्पन्न हुआ उससे विकार आरम्भ हुआ। प्रकृति का सबसे पहला विकार महत् था जिसे विश्वबुद्धि या प्रकृति में सर्वत्र व्यापक विश्वान्तकरण कह सकते हैं। तत्पश्चात् अहंकार की उत्पत्ति हुई।

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २२२-२२३।

२. 'नित्यायाः सत्वरजस्तमसां साम्यावस्थायाः प्रकृतेरुत्पन्नानां पृथक्वर्तमानानां तत्त्व परमाणूनां प्रथमः संयोगारम्भः संयोग विशेषादवस्थान्तरस्य स्थूलाकार प्राप्तिः सृष्टिरुच्यते'। (सत्यार्थप्रकाश पृ० २२३) यह वाक्य स्वामी जी ने किस ग्रंथ से लिया है इसका हवाला सत्यार्थप्रकाश में नहीं दिया है। यदि हम इसे स्वामी जी का अपना ही मान लें तब भी कोई आपत्ति नहीं आती। हाँ यदि परिश्रम करने पर उस ग्रंथ का पता चल गया जिसका यह पद है तब यह और भी पुष्ट हो जायेगा कि प्राचीन भाष्यकार व विद्वान् वैशेषिक के परमाणु व सांख्य के गुणों में विरोध नहीं मानते थे।

अहंकार प्रकृति का दूसरा विकार है। अहंकार से प्रकृति में पृथकता का भाव उत्पन्न हुआ। श्री लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक इसी अवस्था में परमाणुओं की उत्पत्ति मानते हैं।[1] लेकिन दास गुप्ता परमाणुओं की उत्पत्ति तन्मात्राओं के पश्चात् मानते हैं।[2] यहाँ पर यह विवाद हमारे लिए मुख्य नहीं है कि परमाणु किस अवस्था में उत्पन्न हुये। तात्पर्य केवल यह है सर्वप्रथम सत्व, रज व तम की प्रकृति थी पश्चात् तन्मात्राओं से पहले अथवा तन्मात्राओं के रूप में परमाणु उत्पन्न हुए। परमाणुओं की उत्पत्ति के पश्चात् की सृष्टि-उत्पत्ति सांख्यों ने लगभग न्याय-वैशेषिक के अनुसार मानी है। इससे यही प्रतीत होता है कि इस विषय में सांख्यकार ने न्याय से अधिक सूक्ष्म विचार किया है। न्याय-वैशेषिक प्रकृति की परमाणु की अवस्था तक रहे जबकि सांख्य प्रकृति की उससे भी सूक्ष्म अवस्था सत्व, रज व तम तक पहुंच गया। इससे इनका आपस में विरोध नहीं है। विरोध तो एक ही विषय पर दो विरोधी मत होने से होता है, लेकिन यहाँ पर विषय की स्थूलता व सूक्ष्मता का प्रश्न है। इस विषय पर स्वामी ओमानन्द भी स्वामी दयानन्द की ही पुष्टि करते हैं। वह कहते हैं 'जहाँ से न्याय-वैशेषिक ने स्थूल सृष्टि का क्रम दिखाया है वहीं से सांख्य मूल जड़तत्व की खोज में सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम सृष्टि के क्रम की ओर गया है। जिस जड़तत्त्व के अन्तर्गत विभु और अणु दोनों प्रकार के जड़ पदार्थ हैं वह सबसे प्रथम जड़तत्त्व तीन गुण हैं सत्य, रजस और तमस।"[3] इस विषय में स्वयं सांख्यकार का मत भी यही है कि परमाणु बाद में गुणों से उत्पन्न होते हैं। **'नाणु नित्यता तत्कार्यत्वश्रुते'**। सां० सू० ५-८७। अर्थात् अणु नित्य नहीं है क्योंकि उसका कार्यत्व श्रुति में कहा गया है।

कुछ आर्य विद्वानों का कहना है कि गुण अपने गुणों से पृथक नहीं रह

---

१. गीता रहस्य पृ० १७५।

२. The five classes of atoms are generated from the tanmatras as follows...". History of India Phil. V. I. p. 252.
S. N. Dass Gupta.

३. पातंजल योग प्रदीप, पृ० ६८, ओमानन्द तीर्थ

सकते अतः सत्व, रजस व तमस इन तीनों गुणों का आधार होना चाहिये और वह परमाणु तीन प्रकार के हैं, कुछ सतोगुणी जो हल्के व प्रकाशयुक्त हैं, कुछ रजोगुणी जो क्रियाशील हैं तथा कुछ तमोगुणी जो अत्यन्त भारी व गति-रहित हैं। इन विद्वानों का यह मत विभ्रांतिपूर्ण है क्योंकि सांख्य स्वयं कह रहा है (**'नाणु नित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः'** । सांख्य ५·८७) अर्थात् अणु नित्य नहीं है क्योंकि यह कार्य है ऐसा श्रुति कहती हैं। सांख्य शास्त्र में पदार्थों का विभाजन वैशेषिक के अनुसार नहीं किया गया।[1] अतएव वैशेषिक के गुण के समान सांख्य के सत्वादि गुण नहीं समझने चाहियें। वैशेषिक में गुण शब्द का ग्रहण गुण-गुणी के अर्थ में किया है जबकि सांख्य गुणों को स्वयं प्रकृति मानता है। जैसा कि साँख्य शास्त्र स्पष्ट कह रहा है कि "सत्वादि धर्म नहीं है तद्रूप होने से"[2], अर्थात् सत्वादि स्वयं प्रकृति हैं न कि किसी के धर्म। सांख्य सूत्रों के प्रसिद्ध भाष्यकार विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि सत्वादि द्रव्य हैं वैशेषिक के गुण नहीं, क्योंकि संयोग-विभाग-युक्त हैं।[3] इसलिए सांख्य के गुण परमाणुओं के धर्म नहीं बल्कि परमाणुओं के आदि कारण हैं।

अब यदि परमाणुओं को स्वामी दयानन्द के अनुसार कार्य माना जाय तब यह प्रश्न उठता है कि परमाणुओं की अवस्था को प्रकृति नाम कैसे दिया गया जबकि प्रकृति तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम है। हम समझते हैं कि द्रव्य की परमाणुओं की अवस्था भी प्रकृति कही जा सकती है, क्योंकि उस अवस्था से ही जगत के स्थूलाकार का निर्माण होता है, इससे वह संसारोत्पत्ति में कारण है। सांख्य ने प्रकृति से विकृति तक तीन विभाग किये हैं। (१) प्रकृति—तीनों गुणों की साम्यावस्था, (२) प्रकृति-विकृति—इसमें महतत्व, अहंकार व पंचतंमात्रायें आती हैं (३) विकृति—मन सहित ग्यारह इन्द्रियां व पंच महा-

---

१. सां० सू० ६–३८ इस पर तुलसीराम भाष्य।

२. सांख्य सूत्र ६–३९।

३. 'सत्त्वादीनि द्रव्याणि, न वैशेषिका गुणाः, संयोग विभागत्वात्'। विज्ञान भिक्षु। तुलसीराम द्वारा अपने सांख्य दर्शन पर भाष्य में उद्धृत, पृ० २८।

भूत ।[1] अब यदि परमाणुओं को तन्मात्राओं की अवस्था में भी उत्पन्न मानें तब भी वह प्रकृति-विकृति अवस्था में आ जाते हैं। जिससे उस अवस्था को प्रकृति कहा जा सकता है। इससे न्याय-वैशेषिकों का द्रव्य की परमाणु की अवस्था को प्रकृति कहना कोई अनुचित नहीं प्रतीत होता ।

उपरोक्त विवेचन में स्वामी दयानन्द का यह विचार कि परमाणु गुणों के कार्य हैं और गुण प्रकृति की अत्यन्त सूक्ष्मावस्था है, काफी प्रबल प्रतीत होता है। और इस प्रकार इन दो शास्त्रों का प्रकृति का क्या स्वरूप है, इस विषय पर मतभेद प्रायः समाप्त हो जाता है।

ब्रह्मसूत्रों (वेदान्त दर्शन) में प्रकृति की विद्यमानता—षड्-वैदिक दर्शनों में वेदान्त दर्शन का अपना महत्व है। इसमें विशेष रूप से ब्रह्म का वर्णन पाया जाता है। कतिपय वैदिक दार्शनिकों का यह विचार है कि वेदान्त अद्वैतवादी दर्शन है तथा इसमें प्रकृति की सत्ता को ब्रह्म से पृथक नहीं माना गया है। इससे इसमें विद्वान शंकर के मायावाद का ही दर्शन करते हैं। शंकराचार्य जी के मतानुसार ब्रह्मसूत्र प्रकृति को ब्रह्म की मायारूपी शक्ति मानते हैं। अतः अद्वैतवाद, ब्रह्मसूत्रों में, जगत् के मिथ्यात्व का ही प्रतिपादन करता है। दूसरी ओर रामानुजाचार्य जी इसी दर्शन में विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन करते हैं। रामानुज संसार की यथार्थता तो स्वीकार करते हैं परन्तु प्रकृति को ब्रह्म का ही भाग मानते हैं। रामानुज ब्रह्म में प्रकृति को स्वगत भेद के अनुसार मानते हैं, अर्थात् इनके मत में, वास्तव में, प्रकृति ब्रह्म का ही अंश है।

वेदान्त में प्रकृति की विद्यमानता पर स्वामी दयानन्द के विचार उपरोक्त दोनों विद्वानों से भिन्न हैं। वे ब्रह्मसूत्रों में प्रकृति को ब्रह्म से पृथक अनादि तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं।[2] स्वामी दयानन्द से पहिले भी ब्रह्मसूत्र को यथार्थवादी मानने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। ब्रह्मसूत्र के प्रतिष्ठित प्राचीन

१. 'मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति विकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः', ।। सा० कारिका—३।
२. 'सृष्टि का···निमित्त कारण जो परमेश्वर है उसकी व्याख्या वेदान्त शास्त्र में है।' सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ६८।

भाष्यकारों में महर्षि बोधायन का भाष्य यथार्थवादी भाष्य था। स्वामी दयानन्द ने बोधायन मुनि द्वारा रचित वेदान्त भाष्य को प्रामाणिक माना है।[1] अतः यह भाष्य निश्चयपूर्वक ही ब्रह्मसूत्र का यथार्थवादी भाष्य रहा होगा।[2]

महर्षि दयानन्द ने ब्रह्मसूत्र पर कोई विधिवत् भाष्य नहीं लिखा है। परन्तु उनका यह मत उनके द्वारा स्थल-स्थल पर ब्रह्मसूत्रों के प्रमाण देने से प्राप्त होता है। इसलिये दयानन्द के मत की पुष्टि के लिए हम सीधे ब्रह्मसूत्रों पर ही विचार करेंगे।

वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) को मूलरूप में देखने पर पता चलता है कि यह शास्त्र संसार को मायारूप नहीं मानता। वरन् इसमें तो संसार को स्वप्नवत् मानने वालों के मत का खण्डन किया गया है। महर्षि बादरायण एक स्थल पर जाग्रत के पदार्थों की स्वप्न के पदार्थों से तुलना करते हुए कहते हैं कि जाग्रत स्वप्न के समान मिथ्या नहीं हो सकता क्योंकि स्वप्न के पदार्थों में और जाग्रत के पदार्थों में वैधर्म्यता है[3] अर्थात् स्वप्न के पदार्थों का जागरण काल में अभाव पाया जाता है परन्तु जाग्रत की उपलब्धि नष्ट नहीं होती। वह अवस्थान्तर व कालान्तर में बनी ही रहती है। अतः जागरण के पदार्थों का स्वप्न से दृष्टान्त देना सर्वथा असंगत है। एक अन्य सूत्र में सूत्रकार, स्वप्नावस्था में पदार्थों का स्वरूप स्पष्ट न होने के कारण, इसे मायामात्र मानता है।[3] उपरोक्त दो प्रसंगों से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मसूत्र के रचियता जाग्रत के संसार को न तो

---

१. प्रयत्न करने पर भी बोधायन मुनि का ब्रह्मसूत्र पर भाष्य नहीं मिल सका। परन्तु इस पर सन्देह नहीं किया जा सकता कि बोधायन मुनि ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा है, क्योंकि बोधायन मुनि को ब्रह्म-सूत्र—भाष्यकार के रूप में, रामानुज ने अपने वेदान्त दर्शन पर श्री भाष्य की भूमिका में, स्मरण किया है. 'भागवद् बोधायनम् कृतम् विस्तीर्ण ब्रह्मसूत्र वृत्तिं पूर्वाचार्यः।

२. 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्'। वे० सू०, २-२-२९।

३. 'मायामात्रं तु कात्स्न्येनाऽनभिव्यक्त स्वरूपत्वात्।' वे० सु०, ३-२-३।

स्वप्न के समान मानते हैं और न मायामात्र। ब्रह्मसूत्र में प्रकृति को जगत् का का उपादान कारण कहा गया है। 'पटवच्च' (सू० २—१—१९) इस सूत्र में शास्त्रकार संसार को बनने से पहिले अपने कारणरूप प्रकृति में वर्तमान मानता है। जिस प्रकार कपड़ा लिपटा हुआ हो तथा खोलने पर फैल जाता है उसी प्रकार उत्पत्ति से पूर्व संसार अपने मूल कारण प्रकृति में लीन रहता है, उत्पत्ति अवस्था में व्यक्त हो जाता है। यहाँ पर **वेदान्त दर्शन सांख्यों के सत्कार्यवाद के अनुसार ही परिणामवाद का प्रतिपादन कर रहा है।** इसके अतिरिक्त वेदान्त ब्रह्म को जगत् का निमित कारण मानता है। शास्त्र कहता है कि '(प्रकृति) परमात्मा के आधीन होने से ही सार्थक है' **तदधीनत्वादर्थवत्**। (वे. सू. १-४-३) अर्थात् प्रकृति अव्यक्तावस्था में परमेश्वर के आधीन रहती है तथा व्यक्तावस्था में भी उसके निर्देशन में कार्य करती है तभी प्रकृति की सार्थकता है अन्यथा नहीं। इससे प्रतीत होता है कि शास्त्रकार प्रागवस्था में भी प्रकृति की सत्ता को मानता है, सर्वथा अभाव नहीं। शंकराचार्य जी ने भी इस सूत्र के भाष्य में प्रागवस्था में प्रकृति की विद्यमानता को स्वीकार किया है तथा कहा है कि प्रागवस्था में प्रकृति को न मानने पर परमात्मा का जगत्कर्त्ता होना असिद्ध हो जायेगा, अतः प्रागवस्था में प्रकृति परमेश्वर के आधीन थी।[1] परन्तु शंकराचार्य जी यहां पर सत्ता भेद का प्रसंग उपस्थित कर देते हैं कि इन सूत्रों में व्यावहारिक सत्ता का वर्णन है। व्यावहारिक दृष्टि से ही ईश्वर में कर्तृत्व आदि होते हैं अतः सूत्रों में जहां-जहाँ सृष्टि उत्पत्ति आदि का वर्णन है वह सब व्यावहारिक स्तर का बोध कराने वाले सूत्र हैं। लेकिन इस पर हम पूछ सकते हैं कि सूत्रों में कहां स्तर-भेद की बात कही गयी है? वास्तविकता यह है कि वेदान्त दर्शन में जगत की वास्तविकता का वर्णन इतने अधिक व स्पष्ट रूप से किया गया है कि शंकराचार्य जी को अद्वैतवाद की सिद्धि के लिये लाचार होकर स्तर-भेद की कल्पना का शास्त्रों पर आरोप करना ही पड़ता है।

---

१. **'परमेश्वराधीनात्वियमस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्युगम्यते, न स्वतन्त्रा। सा चाऽवश्यमभ्युपगन्तव्या। अर्थवती हिसा। न हि तया विना परमेश्वरस्य सृष्ट्रत्वं सिध्यति।' शांकर भाष्य, वे० सू० १—४—३ पर से।**

वास्तव में वेदान्त सूत्र न तो शंकराचार्य जी के मायावाद को मानते हैं और न स्तर-भेद को वरन् बादरायण स्पष्ट कह रहे हैं कि 'प्रतिज्ञा व दृष्टान्त के बाधक न होने से प्रकृति है।'[1] वेदान्त दर्शन मायावादी नहीं है यह स्वामी दयानन्द के अतिरिक्त अन्य विद्वान भी अब स्वीकार करने लगे हैं। स्वामी ओमानन्द अपनी पुस्तक 'पातंजल योग प्रदीप' में कहते हैं कि ब्रह्मसूत्र परिणामवादी है, अर्थात् कार्यकारण के सम्बन्ध में सूत्रकार परिणामवादी है विवर्तवादी नहीं।[2] आपके अनुसार **'आत्मकृतेः परिणामात्'** (वे० सू० १-४-२६) में सूत्रकार स्पष्ट ही परिणामवाद की ओर निर्देश कर रहा है। वास्तव में ब्रह्मसूत्रों में मायावाद का आरोप नवीन वेदान्तियों का है। आपका कहना है "कि बादरायण के मूल सूत्रों पर साम्प्रदायिक पक्षपात से रहित होकर स्वतन्त्र विचार से दृष्टि डालने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अन्य सब दर्शनकारों (न्याय-वैशेषिक सांख्य व योग) के सदृश उनमें भी सांख्य और योग के द्वैत सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया है।"[3]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदान्त प्रकृति तत्त्व का प्रतिपादन करता है और मायावाद की झलक इस शास्त्र में नहीं है। स्वामी दयानन्द का विचार कि वेदान्त दर्शन में सृष्टि का निमित्त कारण ईश्वर है और उपादान कारण अनादि प्रकृति है, तर्कपूर्ण है व सूत्रों के वास्तविक तात्पर्य के साथ पूर्णरूप से मेल खाता है।

वेदान्त दर्शन में ब्रह्म-जीव में भेद

यह तो हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि वेदान्त दर्शन पर स्वामी शंकराचार्य का ब्रह्माद्वैतवादी भाष्य वेदान्त का सही-सही प्रतिनिधित्व नहीं करता। वास्तव में यह बादरायण के दर्शन के स्थान पर गौडपाद के दर्शन का ही प्रतिपादन करता है। इस विषय में भारतीय दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान श्री सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता का यह विचार है कि शंकर व गौड़पाद से पूर्व किसी भी

१: **'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्।'** वे० सू०, १-४-२३।

२. **पातंजल योग प्रदीप पृ० २१, ओमानन्द।**

३. **वही, पृ० २२।**

आचार्य ने उपनिषदों के अतिरिक्त वेदान्त दर्शन का अद्वैतवादी भाष्य नहीं किया,[1] स्वामी दयानन्द के यथार्थवादी विचारों की ही पुष्टि करता है। शांकर-मत से वेदान्त में ब्रह्म के अतिरिक्त सब माया है। जीव भी अविद्या की उपाधि से संयुक्त, ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

वेदान्त दर्शन में जीव का क्या स्वरूप है ? क्या जीवात्मा ब्रह्म का ही रूप मात्र है ? इत्यादि प्रश्न एक यथार्थवादी के लिये अत्यन्त महत्व के हैं। इन प्रश्नों के विषय में महर्षि दयानन्द एक दम स्पष्ट हैं। वे वेदान्त दर्शन में जीवात्मा को ब्रह्म से पृथक मानते हैं और शंकराचार्य जी के ब्रह्म-जीव एकवाद का खण्डन करते हैं। दयानन्द अपने मत को अनेक वेदान्त सूत्रों से पुष्ट करते हैं। सत्यार्थ प्रकाश में एक स्थान पर **"नेतरोऽनुपपत्तेः"**। वे० सू० १-१-१६। का अर्थ लिखते हुए स्वामी दयानन्द कहते हैं "ब्रह्म से इतर जीव सृष्टिकर्त्ता नहीं है, क्योंकि इस अल्प, अल्पज्ञ सामर्थ्य वाले जीव में सृष्टि कर्तृत्व नहीं घट सकता। इससे जीव, ब्रह्म नहीं है।"[2] इस सूत्र के भाष्य में शंकर स्वामी भी यही अर्थ करते हैं। परन्तु आप यहां पर अविद्या को ले आते हैं कि जीव अविद्योपाधि से कल्पित है, अतः ब्रह्म से पृथक प्रतीत होता है। यही नहीं बल्कि अन्य कई सूत्रों के भाष्य में जहां भी शास्त्र में ब्रह्म व जीव का भेद कहा गया है, शंकर स्वामी वहां उसे अविद्याजन्य उपाधि से उसकी व्याख्या करते हैं।[3] यदि हम इसी उपाधिवाद को मान लें तब तो वेदान्त दर्शन ब्रह्माद्वैतवादी हो सकता है। लेकिन

---

1. "I do not know of any Hindu writer previous to Gaudapada who attempted to give an exposition of the monistic doctrine (apart from Upanishads) either by writing a commentary as did Sankara or by writing an independent work as did Gaudapada." A History of India Philosophy, V. I., P. 422.
2. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३०६।
3. 'इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा नेतरः इत्तर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थं'। (वे० सू० १ — १ — १६ पर शंकर भाष्य)

प्रश्न उठता है कि ब्रह्मसूत्रों में मायावाद कहां है ? व्यावहारिक व पारमार्थिक सत्ता का भेद कहाँ कहा गया है ? और यदि हम शास्त्र की मूल भावना और वास्तविक अभिप्राय की चिन्ता छोड़कर स्वच्छन्दता से उपाधिवाद व मायावाद का आरोप शास्त्र में करते रहेंगे, तब यह कार्य क्या, ब्रह्म सूत्रों के वास्तविक अभिप्राय को तोड़-मरोड़कर अन्य रूप दिखा देना नहीं होगा ? ब्रह्मसूत्रों पर शंकर से अधिक स्पष्ट रामानुज हैं, जो शास्त्र के अभिप्राय के शंकर से अधिक निकट प्रतीत होते हैं। रामानुजाचार्य अंश-अंशी भाव से ब्रह्म व जीव में भेद मानते हैं। उनके मत में जीव मायोपाधि से नहीं होता वरन् शाश्वत और नित्य है। ब्रह्म जीव से भी अति सूक्ष्म होने से जीव में व्यापक है इससे जीव ब्रह्म के शरीरवत् है। यही ब्रह्म व जीव का शरीरी-शरीर सम्बन्ध है। रामानुज के मत में जीवात्मा अनादि और अनेक हैं। यद्यपि इनमें स्वरूप में समानता है परन्तु संख्या भेद से अनेक हैं।[1]

स्वामी दयानन्द निम्नलिखित दस वेदान्त सूत्रों पर भाष्य करते हुए जीव व ब्रह्म की पृथकता पर बल देते हैं--

१. नेतरोऽनुपपत्तेः। १—१—१६
२. भेदव्यपदेशाच्च। १—१—१७
३. विशेषण भेद व्यपदेशाभ्यां च नेतरौ। १—२—२२
४. अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति। १—१—१६

---

1. "Since thus the plurality of the eternal individual self rest on goed authority, those who have an insight into the true nature of selfs will discern without different characterstics distinguishing the individual Selfs, altnough all Selfs are alike in so far as having intelligence for their essential nature." Sacred Book of the East Series, Vol. XLVIII, "Vedanta Sutras" 2-3-43, commented by Ramanuja, Translated by Thibaut.

५. अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् । १—१—२०

६. भेदव्यपदेशाच्चान्यः । १ — १ — २१

७. गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् । १—२—११

८. अनुपपत्तेस्तु न शारीरः । १—२—३

९. अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् । १—२—१८

१०. शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते । १—२—२०

स्वामी दयानन्द कहते हैं उपरोक्त सूत्रों में ब्रह्म व जीव में भेद है। स्वामी दयानन्द इन सूत्रों पर लिखते हैं[1]—

(१) "ब्रह्म से इतर जीव सृष्टिकर्त्ता नहीं है, क्योंकि इस अल्प अल्पज्ञ सामर्थ्य वाले जीव में सृष्टि कर्तृत्व नहीं घट सकता। इससे जीव ब्रह्म नहीं।"

(२) 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति', यह उपनिषद् का वचन है जीव और ब्रह्म भिन्न हैं। क्योंकि इन दोनों का भेद प्रतिपादन किया है। जो ऐसा न होता तो रस अर्थात् आनन्द स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होकर जीव आनन्दस्वरूप होता है यह प्राप्ति विषय ब्रह्म और प्राप्त होने वाला जीव का निरूपण नहीं घट सकता इस लिए जीव और ब्रह्म एक नहीं।"

(३) दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरोह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥ मु० उ० २.१.२

'दिव्य, शुद्ध मूर्त्तिमत्वरहित, सबमें पूर्ण बाहर भीतर निरन्तर व्यापक, अज, जन्म-मरण शरीर धारणादि रहित, श्वास, प्रश्वास, शरीर और मन के सम्बन्ध से रहित, प्रकाशस्वरूप इत्यादि, परमात्मा के विशेषण और अक्षर नाश-रहित, प्रकृति से परे अर्थात् सूक्ष्म जीव उससे भी परमेश्वर परे अर्थात् ब्रह्म सूक्ष्म है। प्रकृति और जीवों से ब्रह्म का भेद प्रतिपादन रूप हेतुओं से प्रकृति और जीवों से ब्रह्म भिन्न है।'

(४) "इसी सर्वव्यापक ब्रह्म में जीव का योग व जीव में ब्रह्म का योग प्रतिपादन करने से जीव व ब्रह्म भिन्न है। क्योंकि योग भिन्न पदार्थों का हुआ करता है।"

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३०६ पर इनका भाष्य देखिये।

(५) "बस ब्रह्म के अर्न्तयामी आदि धर्म कथन किए हैं और जीव के भीतर व्यापक होने से व्याप्य जीव व्यापक ब्रह्म से भिन्न है। क्योंकि व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध भी भेद में संगठित होता है।"

(६) "जैसे परमात्मा जीव से भिन्नस्वरूप है वैसे इन्द्रिय अन्तःकरण पृथिवी आदि भूत, दिशा, वायु, सूर्य आदि दिव्य गुणों के योग से देवतावाच्य विद्वानों से भी परमात्मा भिन्न है ।"

(७) 'गुहां प्रविष्टौ सुकृतस्य लोके' इत्यादि उपनिषदों के वचनों से जीव और परमात्मा भिन्न हैं । वैसे ही उपनिषदों में बहुत जगह दिखलाया है ।'

(८) "शरीरे भवः शारीरः' शरीरधारी जीव ब्रह्म नहीं है क्योकि ब्रह्म के गुण, कर्म स्वभाव जीव में नहीं घटते ।"

(९) (अधिदेव) सब दिव्य मन आदि, इन्द्रिय आदि पदार्थों (अधिभूत) पृथिव्यादि, भूत (अध्यात्म) सब जीवों में परमात्मा अर्न्तयामी रूप से स्थित हैं, क्योंकि उसी परमात्मा के व्यापकत्वादि धर्म सर्वत्र उपनिषदों में व्याख्यात् हैं ।"

(१०) "शरीरधारी जीव ब्रह्म नहीं है, क्योंकि ब्रह्म से जीव का भेद स्वरूप से सिद्ध है ।"

उपरोक्त वेदान्त सूत्रों के भाष्य में स्वामी दयानन्द ने जिस आधार पर ब्रह्म व जीव के भेद का प्रतिपादन किया है, उसमें मुख्य युक्ति इस प्रकार है कि वेदान्त दर्शन में जीव को सृष्टिकर्त्ता न मानकर ब्रह्म को ही सृष्टिकर्त्ता माना है । इससे इनमें भेद है । एक सर्वशक्तिसम्पन्न है दूसरा अल्प सामर्थ्ययुक्त है । फिर सूत्र परमात्मा व जीव का योग अर्थात् सम्पर्क बताते हैं । यह भी भेद के बिना सम्भव नहीं । उपास्य-उपासक भाव भी भेद में ही बन सकता है । इसके अतिरिक्त सूत्र, जीव को शरीर धारण करने योग्य व परमात्मा को अशरीरी कहते हैं । 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् । वे १-२-११ । में परमात्मा व जीवात्मा का मिलन हृदय में कहा है । मिलन भी भिन्नता के बिना सम्भव नहीं । यही नहीं बल्कि सूत्रकार कहता है कि परमात्मा व जीव के विशेषणों का श्रुति में भेद कहा गया है, इसलिए भी ब्रह्म व जीव में भेद है (विशेषण भेद व्यपदेशाभ्यां च नेतरौ । वे० १-२-२२ ।)

इन सूत्रों को छोड़कर वेदान्त दर्शन के और अनेक सूत्र दयानन्द के मत की पुष्टि करते हैं। जैसे परमात्मा को जीवात्मा से महान् कहा गया है,[१] जीवात्मा में कर्मफल भोग प्रसक्ति है परमात्मा में नहीं[२] तथा जीवात्मा अणु है,[३] (इस सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य जी भी जीव को अणु ही मानते हैं परन्तु अद्वैत मत की पुष्टि के लिये यहां उपाधि के सिद्धान्त को लागू कर देते हैं।) वेदान्त दर्शन के चौथे अध्याय के चतुर्थपाद में ब्रह्म व जीव का भेद और भी स्पष्ट दिखायी देता है। जब कि बादरायण यह प्रश्न उठाते हैं कि मुक्ति में जीवात्मा के साथ मन रहता है या नहीं ? सूत्रकार कहते हैं कि बादरि मुक्ति में साधनों के अभाव को मानते हैं[४] परन्तु जैमिनि मुक्ति में मन के साधनों को जीवात्मा के साथ कहते हैं।[५] इस पर बादरायण अपना मत प्रदर्शित करते हैं कि हम दोनों को अर्थात् मुक्ति में जीवात्मा के साथ साधनों के अभाव व भाव दोनों को मानते हैं।[६] यहां पर मुख्य बात यह है कि यदि ब्रह्म व जीव एक ही हैं तब मुक्ति मे जीव के रहने और उसके साथ मन आदि साधनों के रहने का क्या तात्पर्य ? तब तो मुक्ति में जीव को ब्रह्म होकर ब्रह्म में लीन हो जाना चाहिए, लेकिन बादरायण मुक्ति में जीव का ब्रह्म में लय नहीं मानते। यदि मानते तो मुक्ति में साधनों का भाव न बतलाते। इससे प्रतीत होता है कि बादरायण ब्रह्म व जीव के भेद को मानते हैं और साथ ही अगले सूत्र में स्पष्ट कहते हैं कि मुक्त पुरुष अन्य अनेक सामर्थ्यों को प्राप्त कर सकता है, परन्तु सृष्टि निर्माण नहीं कर सकता।[७] यदि जीव ब्रह्म ही होता तब मुक्ति में ब्रह्म में लीन होकर ब्रह्मरूप हो जाता और फिर सृष्टि निर्माण कर सकने में क्या दोष है जब कि वह स्वयं ब्रह्म है। सृष्टि

१. 'अधिकन्तु भेदनिर्देशात्'। वे० सू० २—१—२२
२. वेदान्त सूत्र १—२—२०, १—२—२२
३. 'नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्।' वे० सू० २—३—२१। इस सूत्र के भाष्य में रामानुज भी जीव को अणु मानते हैं।
४. 'अभावं बादरिराह ह्येवम्'। वे० सू० ४—४—१०
५. 'भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्।' वे० सू० ४—४—११
६. 'द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः'। वे० सू० ४—४—१२
७. 'नेतरोऽनुपपत्तेः। वे० सू० १—१—१६

निर्माण कर सकने में क्या दोष है जब कि वह स्वयं ब्रह्म है। सृष्टि-निर्माण करने में असमर्थता इस बात का द्योतक है कि जीव ब्रह्म से पृथक है क्योंकि सृष्टि निर्माण का कार्य केवल ब्रह्म का है।

वेदान्त दर्शन में ब्रह्म-जीव भेदवाद की दयानन्द की विचारधारा युक्ति-युक्त प्रतीत होती है। स्वामी जी ने इन सूत्रों पर अधिक नहीं लिखा तो भी यह हमें एक नया दृष्टिकोण देते हैं जिसके आधार पर सारे ही वेदान्त दर्शन का यथार्थवादी (त्रैतवादी) दृष्टि से सफलतापूर्वक भाष्य किया जा सकता है।

सांख्य में ईश्वरवाद

वैदिक षड्-दर्शनों में सांख्य दर्शन का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इस दर्शन के रचयिता महर्षि कपिल अत्यन्त विद्वान पुरुष थे। महर्षि कपिल का वैदिक साहित्य में बड़ा मान है। परन्तु, दार्शनिक जगत में सदियों से सांख्य दर्शन को अनीश्वरवादी माना जाता रहा है। विद्वानों का विचार है कि सांख्य शास्त्र चेतन पुरुष व जड़ प्रधान, इन तत्त्वों को ही अनादि मानता है तथा इन्हीं दोनों तत्त्वों के मेल से सृष्टि की रचना होती है। सृष्टि से पूर्व प्रकृति अपनी अव्यक्तावस्था में सत्व, रज व तम की साम्यावस्था में होती है। अव्यक्त प्रकृति के, पुरुष के सन्निध्य में आने से प्रकृति की साम्यावस्था भंग हो जाती है और तब सृष्टि-निर्माण का कार्य प्रकृति के निश्चित नियमों पर स्वयं ही प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार इन विद्वानों के अनुसार सांख्य को सृष्टि-रचना के लिये ईश्वर को मानने की कोई आवश्यकता नहीं थी, अतः कपिलाचार्य ने अपने शास्त्र में ईश्वर को कोई स्थान नहीं दिया। इससे यह विद्वान सांख्य को अनीश्वरवादी दर्शन मानते हैं। परन्तु इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि सांख्य ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता तो वह वैदिक (आस्तिक) दर्शनों में क्यों गिना जाता है? इसका उत्तर विद्वान इस प्रकार देते हैं कि वैदिक दर्शनों में आस्तिक व नास्तिक का अर्थ ईश्वर को मानने या न मानने से नहीं है, वरन् यहां पर वेद को स्वतः प्रमाण मानने वाले ग्रन्थ आस्तिक तथा वेद की निन्दा करने वाले ग्रन्थ नास्तिक कहलाते हैं, जैसा कि मनु कहते है **'नास्तिको वेद निन्दकः'**। (मनु० २-११) और क्योंकि सांख्य शास्त्र वेदों को स्वतः प्रमाण मानता है,

इससे सांख्य दर्शन आस्तिक दर्शन है । परन्तु हमें इन विद्वानों का यह तर्क कुछ जंचा नहीं कि केवल वेदों को स्वत: प्रमाण मानने पर कोई दर्शन आस्तिक हो जायेगा फिर चाहे वह ईश्वर को माने या न माने । हमारे विचार से, वेदों को स्वत: प्रमाण मानने वाला शास्त्र कभी भी अनीश्वरवादी हो ही नहीं सकता, क्योंकि चारों वेदों में स्थल-स्थल पर ईश्वर का व्याख्यान पाया जाता है । अत: वेद को स्वत: प्रमाण मानने वाले सांख्य को उन स्थलों को मानना ही पड़ेगा । फिर समझ में नहीं आता कि सांख्य अनीश्वरवादी कैसे है । कहीं विद्वान किसी भ्रान्ति के कारण तो सांख्य पर नास्तिकता का आरोप नहीं लगा रहे ?

सांख्य दर्शन अनीश्वरवादी है या नहीं, इस विषय पर दयानन्द अत्यन्त स्पष्ट हैं । उनका कहना है कि सांख्य ईश्वरवादी शास्त्र है तथा कपिलाचार्य पर अनीश्वरवाद का आरोप मिथ्या है ।[1] दयानन्द के अनुसार सांख्य में ईश्वर का वर्णन, जगत के निमित्त कारण, कर्मफल प्रदाता, वेदों के आदिस्रोत के रूप में पाया जाता है । सांख्य के विषय में दयानन्द की यह घोषणा बड़ी साहसपूर्ण है । अत: हमें इसके औचित्य को देखने का प्रयास आवश्यक प्रतीत होता है ।

साँख्य दर्शन ईश्वरवादी ग्रन्थ है, दयानन्द के इस दावे को हम यहाँ दो प्रकार से देखेंगे—(१) सांख्य शास्त्र के अतिरिक्त दूसरे वैदिक शास्त्रों से तथा (२) स्वयं सांख्य शास्त्र में पाये जाने वाले ईश्वरवादी तत्त्वों से ।

(१) दूसरे वैदिक शास्त्रों की सांख्य के विषय में सम्मति–वैदिक साहित्य में साँख्य शास्त्र का अपना विशिष्ट महत्व है । इस शास्त्र में सन्निहित ज्ञान के कारण दार्शनिक साहित्य में इस शास्त्र व इसके रचयिता महर्षि कपिल की बड़ी प्रशंसा की गयी है । श्वेताश्वेतरोपनिषद् में महर्षि कपिल को परमात्मा द्वारा ज्ञान दिया जाना बताया है। उपनिषद् कहता है **'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति,'**[2] अर्थात् (जो) परमात्मा पहिले उत्पन्न हुये कपिल मुनि को ज्ञान से भर देता है । इस स्थल पर इसका स्पष्ट संकेत है कि महर्षि कपिल ब्रह्मज्ञानी थे और यह ज्ञान उन्हें स्वयं परमात्मा ने दिया था । इसके अतिरिक्त महाभारत

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १८८ ।

२. श्वेत उ०, ५–२

में कपिल को ब्रह्मा के सात मानस पुत्रों--सनत्कुमार, सनक, सनन्दन, सनत्सुजात, सन, सनातन व कपिल – में बताया है। शा० पर्व० ३४०-६७। इन्हें जन्म से ही ज्ञान था। कपिल सांख्य शास्त्र का प्राचीन आर्य राजाओं के मध्य बड़ा सन्मान था। महाराजा जनक स्वयं एक ब्रह्मज्ञानी थे। महाभारत में जिक्र आता है कि कपिल के शिष्य आसुरि के चेले पंचशिख ने जनक जी को सांख्य शास्त्र का उपदेश किया था। (शा० प० २१८)। और भीष्म ने सांख्यों के ज्ञान की योग्यता को स्वीकार करते हुये कहा था कि सृष्टि उत्पत्ति में सांख्यों ने जो ज्ञान दिया वही पुराण, इतिहास आदि में पाया जाता है। यहीं नहीं वरन् यहां तक कहा गया है कि **'ज्ञानं च लोके यदि हास्ति किंचित् सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन्'** । (म० शा० प० १०१, १०६) अर्थात् संसार में जो भी ज्ञान है वह सब सांख्यों से ही प्राप्त होता है। इसीलिये हम देखते हैं कि समस्त प्राचीन वैदिक दर्शन साहित्य कपिल के ज्ञान की उपयोगिता को स्वीकर करता है तथा महर्षि कपिल के अगाद ज्ञान के कारण ही कपिल को परमर्षि की उपाधि दी गयी है,— **'सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते'** । महाभा० १२-३४६-६५।

उपरोक्त वर्णन के अतिरिक्त गीता में भी महर्षि कपिल को सर्वोच्च सिद्ध माना गया है। योगिराज कृष्ण परम सिद्ध पुरुष थे। वे ब्रह्मज्ञानी थे। हिन्दु शास्त्रों में तो उन्हे भगवान् अर्थात् स्वयं ब्रह्म कहा गया है। गीता के अ० १०-२६ में कृष्ण अपनी विभूतियों को बताते हुए कहते हैं **'सिद्धानां कपिलो मुनिः'** अर्थात् सिद्धों में मैं कपिल मुनि है। प्रश्न उठता है कि यदि कपिल अनीश्वरवादी होते तो श्रीकृष्ण अपनी तुलना कपिल मुनि से क्यों करते ? क्या औषनिषदिक ऋषियों में कोई भी नास्तिक कहे जाने वाले कपिल मुनि से श्रेष्ठ न था जिससे श्री कृष्ण अपनी तुलना कर सकते ? कपिल मुनि जन्म से ही अतिशय धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य को प्राप्त हुये पुरुष थे, अतः श्री कृष्ण ने सिद्ध पुरुषों में अपनी समानता का कपिल मुनि को ही चुना। इससे यही पता चलता है कि कपिल मुनि अनीश्वरवादी न थे वरन् वैदिक महर्षियों की श्रेणी में अग्रणी थे। यही नहीं वरन् महाभारत, गीता व उपनिषदों के अतिरिक्त और भी जितना वैदिक साहित्य है, हमारे विचार में तो, इसमें कहीं भी सांख्य का अनीश्वरवादी

होना नहीं पाया जाता। डा० राधाकृष्णन् ने सांख्य के दो प्रसिद्ध आचार्य आसुरि व पंचशिख को स्पष्ट ही ईश्वरवादी बताया है।[1]

सांख्य को अनीश्वरवादी समझने की प्रवृत्ति का कारण—संस्कृत साहित्य का अवलोकन करने से पता चलता है कि सांख्य शास्त्र को नास्तिक समझने की प्रवृत्ति मध्यकाल से चली है। इस प्रवृत्ति के चलने में दो मुख्य कारण थे,' (१) ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका तथा (२) शंकराचार्य द्वारा अपने ग्रन्थों में सांख्य की नास्तिक कहकर आलोचना करना।

(i) **ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका**—सांख्यकारिका की रचना ईश्वर कृष्ण ने की थी। इस शास्त्र की रचना कुछ इस प्रकार की गयी है कि पाठकों को यह अनुभव होने लगता है कि सांख्यों के मतानुसार सृष्टि की रचना बिना ईश्वर के भी हो सकती है।[2] विद्वान पुरुष कारिकाओं को सांख्य सूत्रों से अधिक प्राचीन मानते हैं अतः उन्हें ही सांख्य सिद्धान्त का प्रधान स्रोत मानकर सांख्यों को नास्तिक कह देते है। परन्तु हमारी दृष्टि में यह उनकी भूल है।

सांख्य शास्त्र के आदि वक्ता महर्षि कपिल थे, कपिल के शिष्य आसुरि थे। इनके बाद पंचशिख, जैगषव्याचार्य, विन्ध्यवासी (रूद्रिल), पाराशर, व्यास, ईश्वर कृष्ण तथा विज्ञान भिक्षु हुये हैं। सांख्य साहित्य में आता है कि महर्षि कपिल ने सांख्य सिद्धान्त का उपदेश आसुरि को किया था। यही उपदेश रूपी ज्ञान भविष्य में सांख्य सिद्धान्त कहलाया। यह सूत्र रूप में था। आसुरि मुनि ने इस ज्ञान को पंचशिखाचार्य को दिया। कहा जाता हैं कि पंचशिखाचार्य नेइस शास्त्र का विस्तार किया। बाद में वार्षगण्याचार्य ने **षष्टितन्त्र** नामक ग्रन्थ लिखा। इसमें साठ प्रधान विषयों की व्याख्या है। इस षष्टितन्त्र के आधार पर ही ईश्वर कृष्ण आर्य ने सांख्यसप्तति अर्थात् **सांख्यकारिका** की रचना की। यहां हम यह पाते हैं कि ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका सांख्य साहित्य में बहुत बाद में जाकर बनी।

---

1. "Both Asuri and Panchsikha adhere to a theistic Samkhya and believe in supremacy of Brahman."
Dr. S. Radha Krishanan, I. P.' V. 2P. 253

२. देखिये 'गीतारहस्य' ले० बा० ग० तिलक, पृ० १६२ (पादटिप्पणी)।

इससे पूर्व कम से कम दो ग्रन्थ **सांख्यसूत्र** तथा **षष्टितन्त्र** की रचना हो चुकी थी। विज्ञान भिक्षु की सांख्यकारिका सांख्य सूत्रों के बाद की है। कौमुदी प्रभा के लेखक स्वप्नेश्वर साँख्यप्रवचन सूत्रों को पंचशिखाचार्य के दताते है जिनका ज्ञान पंचशिखाचार्य को परम्परा से कपिल से हुग्रा था। भागवत में एक स्थल पर ग्राता है कि सांख्य दर्शन का एक बड़ा भाग काल के गाल में नष्ट हो गया है तथा हमारे पास तक उसका थोड़ा भाग ही ग्राया है।[1] विज्ञान भिक्षु ने इन सूत्रों पर सांख्यप्रवचनभाष्य की रचना की है। ग्रपने भाष्य की भूमिका में विज्ञान भिक्षु कहता है कि सांख्य शास्त्र का एक बड़ा भाग काल ने नष्ट कर दिया है तथा जो एक कला ग्रर्थात् संक्षिप्त रूप बचा है उसे मैं ग्रपने भाष्य में पूरा करूंगा।[2] कतिपय विद्वानों का विचार है कि सांख्यकारिका वर्तमान साँख्यप्रवचनसूत्र से पहिले की है। इसमें उनका तर्क यह है कि शंकराचार्य ने ग्रपने ग्रन्थों में इन सूत्रों का कोई जिक्र ही नहीं किया तथा सांख्यकारिका के टीकाकार वाचस्पति मिश्र को इनका पता भी न था ग्रतः यह सूत्र कपिलोक्त नहीं है। इन विद्वानों के ग्रनुसार इनकी रचना में वहुत कुछ विज्ञान भिक्षु का हाथ है। हमारे विचार से यह मत ठीक नहीं है क्योंकि विज्ञान भिक्षु से लगभग एक शताब्दी पूर्व (पन्द्रहवी शताब्दी में) ग्रनिरुद्ध ने इसी साँख्य-प्रवचन-सूत्र पर साँख्यवृत्तिसूत्र नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इससे प्रतीत होता है कि सांख्यसूत्र विज्ञान भिक्षु से पूर्व के हैं ग्रौर जैसा कि उनके शिष्य भावगणेश ने ग्रपने ग्रंथ तत्त्वयाथार्थ्यदीपन में स्थान-स्थान पर कहा है, विज्ञान भिक्षु ने इन पर भाष्य की रचना की है।

जहां तक सांख्यकारिका का प्रश्न है, यह इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इसकी रचना ग्रपने से पूर्व उपस्थित सांख्यशास्त्र को स्पष्ट करने के लिये हुई है, ग्रतः यह ग्रन्थ सांख्य सूत्र से प्राचीन नहीं हो सकता। यहां पर यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि सांख्यकारिका सूत्रों से बाद की है तब सांख्यमत के रूप

१. भागवत, १–३–१०।

२. 'कालार्क भक्षितं सांख्यशास्त्रं ज्ञानसुधाकरम्। कलावशिष्टं भूयोऽपि पूरयिष्ये वचोऽमृतैः॥ सा० प्र० भा० भू० ५।

में सांख्यकारिका की प्रसिद्धि व लोकप्रियता सांख्य सूत्रों से अधिक क्यों है? हमारे विचार से इसका कारण यह है कि सांख्यसूत्र समझने में कठिन तथा दुरूह हैं। इसके विपरीत सांख्यकारिका पद्यरूप में होने से सरल व सुबोधगम्य है, अतः विद्वानों ने अपने को सांख्यकारिका तक ही सीमित रक्खा।

(ii) **सांख्य की शंकर चार्य जी द्वारा आलोचना**—शंकराचार्य जी का मायावाद सांख्यों के यथार्थवाद से एकदम विपरीत है। शंकर प्रकृति को माया मानते थे जब कि सांख्य प्रकृति को सत्य मानता है। वैदिक षड्-दर्शनों में शंकर स्वामी के मायावाद को सबसे अधिक खतरा सांख्यों के यथार्थवाद से था, अतः उन्होंने सांख्यों को अपनी आलोचना का मुख्य लक्ष्य बनाया। इसमें शंकर स्वामी को सबसे अधिक सहायता सांख्यकारिका से मिली। हम पहिले ही कह आये हैं कि ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका ऊपर से देखने पर अनीश्वरवादी प्रतीत होती है। शंकर स्वामी का सांख्यों के सिद्धान्त के विरुद्ध सबसे मुख्य तर्क यही है कि सांख्य अनीश्वरवादी हैं। वास्तव में, शंकर स्वामी ने सांख्य-कारिका के ईश्वर के प्रति उदासीन भाव का लाभ उठाया और इसका प्रयोग सांख्यों को अनीश्वरवादी सिद्ध करने में किया। शंकराचार्य जी ने अपने ग्रन्थों में कहीं भी सांख्य सूत्रों का उल्लेख नहीं किया। शंकराचार्य के बाद के भाष्यकारों में फिर तो सांख्य को अनीश्वरवादी मानने की प्रवृत्ति ही चल गयी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्वानों ने अपने-अपने सिद्धान्तों को बचाने के लिये अच्छे खासे ईश्वरवादी सांख्यदर्शन को अनीश्वरवादी बना दिया। इस प्रवृत्ति का सबसे प्रबल विरोध सोलहवीं शताब्दि में विज्ञान भिक्षु ने किया। उन्होंने साँख्यकारिका के स्थान पर सांख्य सूत्र को प्रामाणिक माना तथा उन पर **सांख्य प्रवचनभाष्य** नाम से भाष्य लिखा। यह भाष्य ईश्वरवादी है। आधुनिक युग में स्वामी दयानन्द ने पुनः सांख्य को एक ईश्वरवादी शास्त्र के रूप में स्वीकार किया हैं। दयानन्द, वर्तमान काल में उपलब्ध होने वाले सांख्य-प्रवचन-सूत्र को कपि-लोक्त मानते हैं तथा इन पर भागुरिमुनिकृत भाष्य को प्रमाणिक मानते हैं।[1] निश्चय ही यह भाष्य ईश्वरवादी रहा होगा।

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ६६

(२) **सांख्य दर्शन के ईश्वरवादी होने में सांख्य सूत्रों से प्रमाण**—उपरोक्त विवेचन के बाद अब हम स्वयं सांख्य-सूत्रों में से सांख्य दर्शन के ईश्वरवादी होने के प्रमाण प्रस्तुत करेंगे।

कतिपय विद्वानों का आक्षेप है कि सांख्य-दर्शन ने स्वयं ईश्वर की असिद्धि को 'ईश्वरासिद्धे'[1] सूत्र से स्वीकार किया है। दयानन्द जी के विचार से उपरोक्त सांख्यसूत्र में ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया गया है।[2] वरन् यह कहा गया है कि ईश्वर सामान्य प्रत्यक्ष से नहीं जाना जाता और न ही ईश्वर जगत् का उपादान कारण ही है अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती। एक अन्य स्थल पर महर्षि कपिल पुरुष व प्रकृति के द्वारा संसार-चक्र की नित्यता का (सृष्टि-प्रलय-क्रम में) व्याख्यान करते हुए विषय का उपसंहार करके कहते हैं, इन दोनों से एक पृथक और भी है,[3] जो इन दोनों से भिन्न स्वरूप वाला है। प्रकृति व पुरुष से पृथक वह तत्त्व क्या है इसको सोचने के लिये अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं वरन् उससे अगले ही सूत्रों में उसका वर्णन मिलता है कि वह नित्यमुक्त स्वभाव वाला साक्षीमात्र है।[4] यह लक्षण पुरुष व प्रकृति के अतिरिक्त परमात्मा का ही हो सकता है।

सांख्य दर्शन ईश्वर को निमित्त कारण मानता है, स्वामी दयानन्द का यह विचार भी निराधार नहीं है। सांख्य में प्रकृति को पराधीन कहा है। परन्तु पराधीनता का तात्पर्य यह नहीं कि प्रकृति अनादि नहीं है। सांख्यों की प्रकृति अनादि है और किसी शक्ति के वश में है।[5] वह शक्ति, जिसके वश में प्रकृति है,

---

१. सांख्यसूत्र, १–९२

२. 'यहां ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है और न जगत् का उपादान कारण है।' सत्यार्थ प्र०, पृ० १८७।

३. 'व्यावृत्तोभयरूपः'। सां० सू०, १–१६०

४. (i) 'साक्षात्सम्बन्धात् साक्षित्वम्'। सां० सू० १-१६१

(ii) 'नित्यमुक्तत्वम्'। सां० सू० १-१६२

५. 'अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात्।' सां० सू० ३-५५

सांख्य सूत्रों में उसको सर्वज्ञ व सर्वकर्त्ता के रूप में कहा है[१] और यह स्पष्ट ही है कि सर्वज्ञ व सब का निर्माणकर्त्ता केवल ईश्वर ही हो सकता है। सांख्यकार कहता है कि इस प्रकार के (सर्वज्ञ और सृष्टि-रचना करने वाले) ईश्वर को हम मानते है,[२] अर्थात् सांख्यों का परमात्मा सृष्टि रचने वाला है। ईश्वर सृष्टि के आरम्भ में साम्यावस्था में स्थित प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करता है जिससे सृष्टि-उत्पत्ति का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। सांख्य का ईश्वर न तो विशिष्टाद्वैत के ईश्वर के समान है और न अद्वैत के समान सृष्टि का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ही है। इस शास्त्र में ईश्वर संसार का निमित्त कारण है, जो पूर्व ही विद्यमान प्रधान से संसार का निर्माण करता है।

इसके अतिरिक्त सांख्य सूत्रों में अन्य स्थलों पर भी ईश्वर का प्रतिपादन पाया जाता है। सांख्य शास्त्र कर्मफल के सिद्धांत को मानता है, लेकिन कर्मफल का सिद्धांत सफलतापूर्वक तभी माना जा सकता है जब कि हम किसी ऐसी शक्ति को भी माने जो कर्मफल प्रदान करने वाली हो। कर्म अपना फल स्वयं नहीं दे सकते क्योंकि कर्म जड़ है। प्रायः कर्मों का फल वर्षों पश्चात् भी देखने में आता है। इससे यह प्रतीत होता है कि कर्म स्वयं फल को उत्पन्न नहीं करते। महर्षि कपिल भी कहते हैं कि "ईश्वर कर्मफलों का देने वाला है। केवल कर्म स्वयं फल को पैदा नहीं करते।"[३] साँख्य ईश्वर को कर्मफल प्रदाता मानता है।

सांख्य दर्शन मोक्ष में पुरुष को स्थिति ब्रह्म में मानता है। साँख्यकार का कथन है कि समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में पुरुष की अवस्था ब्रह्म-रूप हो जाती है, अर्थात् पुरुष ब्रह्म में सम्पन्न हो जाता है।[४] बुद्धि सत्य के साथ तादात्म्य हो जाने से जीव अपने को शरीर का अधिष्ठाता समझने लगता है। यदि यह तादात्म्य न रहे तब उसका अधिष्ठातापन भी समाप्त हो जाय। परन्तु प्रश्न उठता है कि बुद्धिसत्व के साथ तादात्म्य तो समाधि, सुषुप्ति व मोक्ष में भी बना रहता है। उस समय वह अपने को शरीर का अधिष्ठाता क्यों नहीं

१. 'स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता।' सां० सू० ३-५६
२. 'ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा।' सां० सू० ३-५७
३. 'न ईश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः।' सां० सू० ५-२।
४. 'समाधि सुषुप्ति मोक्षेषु ब्रह्मरूपता।' सां० सू० ५-११६।

समझता ? इस पर कहते हैं समाधि, सुषुप्ति व मोक्ष में जीव अपने में ब्रह्म के आनन्दादि गुणों को धारण कर लेता है । सुषुप्ति में तमोगुण के प्रभाव से जीव परमात्मा की सत्ता में सम्पन्न होने पर भी अज्ञान से मूर्छित रहता है । समाधि और मोक्ष में वह उस आनन्द का साक्षात् अनुभव करता है ।[1] इस अवस्था में जीवात्मा परमात्मा से सम्बन्ध की घनिष्ठता के कारण बुद्धिसत्व से उत्पन्न अधिष्ठातृत्व को भूल जाता है ।

इसके अतिरिक्त सांख्य वेदों की उत्पत्ति स्वयं परमात्मा की शक्ति से मानता है । वेदों की स्वतः प्रामाणिकता के प्रश्न पर सांख्य के निर्माता कहते हैं कि वेद परमात्मा की शक्ति से उद्भूत हुए हैं अतः स्वतः प्रमाण हैं ।[2] स्वतः प्रमाण का तात्पर्य उस प्रमाण से है जिसकी प्रामाणिकता अपने आप में है, जैसे दीपक के प्रकाश को खोजने के लिये अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं है । सत्य स्वयं सत्य है । ऐसा निभ्रान्त ज्ञान सर्वज्ञ परमात्मा के अतिरिक्त अन्य का हो भी कैसे सकता है । वेद शास्त्र इसी प्रकार का निभ्रान्त ज्ञान होने से स्वतः प्रमाण हैं । इसके अतिरिक्त वेदों में स्थल-स्थल पर ईश्वर का व्याख्यान किया गया है । ईश्वर का व्याख्यान करना वेदों का मुख्य तात्पर्य है । इससे वेद को स्वतः प्रमाण मानने पर सांख्य इन स्थलों को कैसे अस्वीकार कर सकता है ? हमारे विचार से तो सारे सांख्य शास्त्र में कहीं भी ऐसा स्थल नहीं है जहां ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार किया गया है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सांख्य सूत्रों में ईश्वर का प्रतिपादन जगत् के निमित्त कारण, जीव व प्रकृति से भिन्न कर्मफल प्रदाता के रूप में किया गया है । यही नहीं वरन् इस शास्त्र में जीवात्मा का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म-प्राप्ति बताया है । ईश्वर की सिद्धि में दिये न्याय शास्त्र के प्रायः सारे प्रमाण हमें सांख्य में मिलते हैं । ब्रह्मसूत्र में भी ब्रह्म को सृष्टि का कारण व वेदों का उत्पत्ति स्थान माना है । स्वामी दयानन्द ने सांख्य शास्त्र में ईश्वरवादी विचारों का दिग्दर्शन

---

१. मुक्ति में बुद्धिसत्व का रहना वेदान्त भी मानता है । वे० सू० ४-४-१०, ११, १२ ।

२. 'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम ।' सा० ५-५१ ।

कराकर, सांख्य को फिर से सही ग्रर्थों में वैदिक दर्शनों की कोटि में लाकर खड़ा कर दिया है। मध्य युग से चली ग्रा रही सांख्य को नास्तिक समझने की प्रवृत्ति[1] को दयानन्द ने निर्मूल सिद्ध कर दिया है जिसका परिणाम यह रहेगा कि सांख्य पर लगाये गये यह ग्राक्षेप, कि जड़ प्रधान व निष्क्रिय पुरुष सृष्टि-रचना नहीं कर सकते, तथ्यहीन हो जायेंगे ग्रौर फिर सांख्य बिना किसी कठिनाई के वैदिक शास्त्र माना जा सकता है।

---

१. प्रतीत वह होता है कि मध्य युग से पहिले सांख्य ईश्वरवादी शास्त्र रहा होगा परन्तु उस काल का कोई भाष्य ग्राज प्राप्त नहीं है लेकिन इस पर ईश्वरवादी भाष्य ग्रवश्य लिखे गये होंगे। महर्षि दयानन्द स्वरचित सत्यार्थ प्रकाश में सांख्य पर भागुरि मुनि के भाष्य को प्रामाणिक कहते हैं। यह भाष्य ग्राज उपलब्ध नहीं है परन्तु यह ग्रवश्य ही ईश्वरवादी भाष्य रहा होगा। (लेखक)



ईश्वर



स्वामी दयानन्द ईश्वर को मानते थे इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं किया जा सकता। वे मूर्तिपूजा तथा अनेक देवी-देवताओं की उपासना को नहीं मानते थे इससे यह भ्रम पैदा हो गया कि दयानन्द नास्तिक हैं। परन्तु ऐसा नहीं है। स्वामी जी को ईश्वर के अस्तित्व पर कभी सन्देह भी नहीं हुआ। उनके लिये ईश्वर परमसत्ता है, जिसके न कोई बराबर है और न जिससे कोई अधिक। जो संसार का रचयिता, नियामक व पालनकर्त्ता है तथा समस्त सृष्टि का एक ही स्वामी है। ईश्वर अनन्त शक्तिसम्पन्न है, सर्वज्ञ है और संसार में जीवों के कर्मों का फल देने वाला है। स्थान-स्थान पर दयानन्द उसी एक परमात्मा का उपदेश करते हैं, जिसको जानकर जीव संसार के जन्म-मरणरूपी चक्र से छूटकर मुक्ति का आनन्द प्राप्त करता है। दयानन्द के अनुसार परमात्मा के अनेक नाम हैं जो उसके गुणों के वाचक हैं। ईश्वर के विषय में स्वामी जी न्यायादि षड्-शास्त्रों में ईश्वर विषयक प्राप्त विचारों का आदर करते हैं और विद्वानों की दृष्टि में इनमें पाये जाने वाले आपसी विरोधों का अपने दर्शन में सफलतापूर्वक समन्वय करने की चेष्टा करते हैं। उनका विचार है कि उपासना व योगाभ्यास से जीवात्मा ईश्वर की प्राप्ति कर सकता है।

ईश्वर-सिद्धि में प्रमाण

ईश्वर की सिद्धि में क्या प्रमाण हैं? यह विषय दर्शन साहित्य में अत्यन्त विवादास्पद है। प्रायः एक दार्शनिक द्वारा किये गये प्रमाण ही कुछ बदलकर दूसरों द्वारा दिये जाते हैं। दार्शनिक चाहे पश्चिम में हों या पूर्व में, प्राय, सभी

एक ही प्रकार के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। उनमें भेद केवल प्रणाली का है कि वे किस प्रकार अपने विचारों का प्रतिपादन करते हैं।

ईश्वर-सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण—भौतिकवादियों व चारवाकों का कथन है कि ईश्वर का इन्द्रियों द्वारा ज्ञान नहीं होता अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती तथा प्रत्यक्ष के अभाव में अनुमान प्रमाण भी सार्थक नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष का ज्ञान ही अनुमान है। निःसन्देह ईश्वर का भौतिक पदार्थों के समान इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं होता, इससे सभी विद्वान ईश्वर की सिद्धि में शब्द व अनुमान का ही प्रमाण मानते हैं। परन्तु दयानन्द ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये प्रत्यक्ष को भी स्वीकार किया है।

प्रश्न—आप ईश्वर-ईश्वर कहते हो परन्तु उसकी सिद्धि किस प्रकार करते हो ?

(दयानन्द) उत्तर—सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से।[1]

'इन्द्रियार्थ संन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्'। न्याय सू० १-४। स्वामी दयानन्द ईश्वर की सिद्धि में इस न्यायसूत्र से कहते हैं। "जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, प्राण और मन का शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख, दुख, सत्यासत्य विषयों के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं परन्तु वह निर्भ्रम हो। अब विचारना चाहिये कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है गुणी का नहीं। जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथ्वी है उसका आतमयुक्त मन से प्रत्यक्ष किया जा सकता है वैसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना विशेष आदि ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है और जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता है या चोरी आदि बुरी या परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है उस समय जीव की इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाती है, उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशंकता और आनन्दोत्साह

१. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ-१७६।

उठता है वह जीवात्मा की ओर से नहीं किन्तु परमात्मा की ओर से है। और जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है उसको उसी समय दोनों (जीव व परमात्मा) प्रत्यक्ष होते हैं" । स्वामी जी आगे कहते हैं कि "जब परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है तो अनुमानादि से परमेश्वर का ज्ञान होने में क्या सन्देह है ? क्योंकि कार्य को देखकर कारण का अनुमान होता (ही) है" ।[1]

हम देखते हैं कि यहाँ पर स्वामी दयानन्द सर्वप्रसिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा भी ईश्वर की सिद्धि करते हैं । आपका अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष में हमें गुणी का नहीं बल्कि गुणों का प्रत्यक्ष होता है जिसके आधार पर हम गुणी की विद्यमानता का अनुमान लगा लेते हैं । इसी प्रकार संसार की रचना, सृष्टि के सुनिश्चित नियम, सत्य, शुभ व अनन्त आदि विचारों से इनके आधाररूप परमात्मा को मानना ही पड़ता है क्योंकि ये गुण किसी अन्य पदार्थ में नहीं हो सकते । संत ऐनस्लिम ने भी ईश्वर की सिद्धि में कुछ इसी प्रकार का तर्क दिया था कि पूर्णता का विचार किसी ऐसी सत्ता की सिद्धि करता है जो अपने में पूर्ण है । यद्यपि यहां ऐनस्लिम ने ईश्वर को प्रत्यक्ष के आधार पर नहीं माना तथापि पूर्णता ईश्वर का गुण है अतः पूर्णता से पूर्ण पुरुष का बोध होता है । स्वामी दयानन्द का प्रत्यक्ष के आधार को स्वीकार करना दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी को एक अद्‌भुत अवस्था में रख देता हैं । क्योंकि जहां तक प्रश्न सृष्टि रचना का है इसे नास्तिक—जैसा कि जैन मानते हैं—के अनुसार प्रवाह से अनादि कह सकते हैं (यद्यपि यह भी निरापद नहीं है) । और बुरे कर्मों के प्रति जीव में भय, शका व लज्जा के उत्पन्त होने को हम जीव के स्वभाव के विपरीत होने पर भी मान सकते हैं । परन्तु अनन्त के विचार का क्या करेंगे ? इसे परमात्मा के अतिरिक्त किस सत्ता में मानोगे ? अन्नत परमात्मा का स्वरूप है अतः अनन्त के बोध से परमात्मा के अस्तित्व का वोध होता है । पश्चिमी दर्शन में देकर्त ने भी ईश्वर की सिद्धि में यही प्रमाण दिया था ।

---

१. वही, पृ० १७६-१७७

ईश्वर सृष्टि का रचने वाला है—स्वामी दयानन्द सृष्टि-रचना से भी ईश्वर की सिद्धि करते हैं उनके विचार से यह विशाल सृष्टि-जिसके आर-पार का पता नहीं है, जिसमें प्रत्येक क्रिया सुनिश्चित नियमों के अनुकूल हो रही है तथा जिसके प्रत्येक कार्य में कोई न कोई प्रयोजन है बिना किसी अनन्त, सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान् सत्ता के नहीं हो सकती।

जैन दार्शनिक संसार की रचना के लिये किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं समझते। उनके विचार से सृष्टि की रचना किसी ने नहीं की, वरन् यह एक अनादि प्रवाहवत् स्वयं रचित हैं।[1] स्वामी दयानन्द इसको नहीं मानते। वह कहते हैं कि 'स्वभाव से सृष्टि नहीं होती, किन्तु परमेश्वर की रचना से होती हैं'।[2] क्योंकि 'बिना कर्त्ता के कोई भी क्रिया या क्रियाजन्य पदार्थ नहीं बन सकता। जिन पृथ्वी आदि पदार्थों में संयोग-विशेष से रचना दीखती है वे अनादि कभी नहीं हो सकते और जो संयोग से बनता है वह संयोग से पूर्व नहीं होता और वियोग के अन्त में नहीं रहता।'[3] और यदि 'जो स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति होवे तो विनाश कभी न होवे और जो विनाश भी स्वभाव से मानो तो उत्पत्ति न होगी और जो दोनों स्वभाव युगपत् द्रव्यों में मानोगे तो उत्पत्ति और विनाश की व्यवस्था कभी न हो सकेगी'।[4]

न्याय शास्त्र ईश्वर को सृष्टि निर्माण में निमित्त कारण बताता है। न्याय के अनुसार कारण तीन प्रकार के हैं, उपादान कारण, निमित्त कारण तथा साधारण कारण। इनमें उपादान कारण वह है जो अपने कार्य में परिवर्तित हो जाता है, निमित्त कारण जो स्वयं परिवर्तित न हो परन्तु उपादान को कार्य में

---

१. चिदचिद् द्वे परे तत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनम्।
   उपादेयमुपादेयं हेयं हेयं च कुर्वतः ॥१॥
   हेयं हि कर्तृ रागादि तत् कार्य्यमविवेकिनः।
   उपादेयं परं ज्योतिरुपयोगैकलक्षणम् ॥२॥ स० प्र०, पृ० ४३६
२. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २२०
३. वही, पृ० २२०–२२१
४. वही, पृ० २२०

परिवर्तित कर दे, तीसरा साधारण कारण जो निमित्त के साधन होते हैं। परमात्मा सृष्टि का निमित्त कारण है। स्वामी दयानन्द न्याय के इस विचार को स्वीकार करते हैं। यह विभिन्न प्रकार की सृष्टि किसी सर्वशक्तिमान् सृष्टा की सिद्धि करती है। इस सृष्टि में नियम दिखायी पड़ते हैं जो किसी के नियन्त्रण में कार्य कर रहे हैं। वह कहते हैं कि "जगत् बनाने का जीव में सामर्थ्य नहीं और जड में स्वयं बनने का सामर्थ्य नहीं इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा ही जगत् को बनाता और सदा आनन्द में रखता है।"[1] सेंट थोमास परमात्मा को सृष्टि-कर्त्ता मानते हैं परन्तु उनके अनुसार सृष्टि का निर्माण परमात्मा ने शून्य से किया। लेकिन स्वामी दयानन्द शून्य से सृष्टि की रचना नहीं मानते। परमात्मा शून्य से सृष्टि का निर्माण नहीं कर सकता वरन् पहिले से ही वर्तमान प्रकृति से सृष्टि का निर्माण करता है। ऐरिस्टोटल ने भी ईश्वर की सिद्धि में ऐसा ही प्रमाण दिया है कि परमात्मा द्रव्य को गति देकर सृष्टि-निर्माण को सम्भव बनाता है। ऐरिस्टोटल इससे लगभग ४७ से ५५ देवताओं की कल्पना करता है।[2] परन्तु दयानन्द केवल एक सर्वशक्तिमान् परमात्मा को सृष्टि उत्पत्ति में पूर्ण समर्थ बताते हैं। इस पर प्रश्न उठता है कि ईश्वर का सृष्टि रचना में क्या प्रयोजन है? स्वामी दयानन्द तो परमात्मा को आप्तकाम कहते हैं फिर भला उसका क्या प्रयोजन हो सकता है। स्वामी दयानन्द के मत से जीवात्माओं के भोग व मोक्ष के लिये परमात्मा सृष्टि का निर्माण करता है उसका इसमें न कोई प्रयोजन है और न इच्छा। स्वामी जी कहते हैं कि परमात्मा ईक्षण से समस्त सँसार का निर्माण करता है। ईक्षण इच्छा नहीं है वरन् जो 'सब प्रकार की विद्या का दर्शन और सब सृष्टि का करना कहाता है वह ईक्षण है'।[3] परमात्मा सृष्टि का निर्माण हाथ-पैरों से भी नहीं करता क्योंकि अनन्त परमात्मा में शरीर का आरोप करना असंगत है। और जैसा कि उपनिषद् कहता है **'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्'। श्वेत० उ० ३-१९।**

१. वही, पृ० ४४३।
२. History of Western Philosophy. Bertrand Russell, P. 191
३. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २०१

उपरोक्त मन्त्र का अर्थ करते हुये स्वामी दयानन्द कहते हैं, 'परमेश्वर के हाथ नहीं परन्तु अपनी शक्तिरूप हाथ से सबका रचन-ग्रहण करता, पग नहीं परन्तु व्यापक होने से सबसे अधिक वेगवान् चक्षु का गोलक नहीं परन्तु सबको यथावत् देखता, श्रोत्र नहीं तथापि सबकी बातें सुनता, अन्तःकरण नहीं परन्तु सब जगत् को जानता है और उसको अवधिसहित जानने वाला कोई नहीं है ।......वह इन्द्रियों और अन्तःकरण से होने वाले कार्य अपने सामर्थ्य से करता है।'[1]

अनीश्वरवादी यहाँ पर प्रश्न करता है कि ईश्वर इस दुखपूर्ण संसार की रचना क्यों करता है जबकि वह स्वयं सुखस्वरूप है। फिर पूर्ण परमात्मा की कृति भी पूर्ण ही होनी चाहिए थी। इस आपत्ति पर स्वामी दयानन्द कहते हैं कि संसार में दुःख परमात्मा स्वयं अपनी इच्छा से पैदा नहीं करता वरन् जीवों के भले-बुरे कर्म संसार में सुख व दुख का मूल हैं। परमात्मा तो सृष्टि का निर्माण कर जीवात्माओं के कृत कर्मों के फलस्वरूप दुख-सुख की व्यवस्था मात्र करता है। इससे परमात्मा किसी पक्षपात् आदि दोष में नहीं पड़ता। बल्कि स्वामी दयानन्द का कथन तो यह है कि परमात्मा सृष्टि का निर्माण तथा कर्म-फल की व्यवस्था करके जीवात्माओं पर दया करता है जो कि उसका स्वभाव है।[2] परन्तु जीव अज्ञानवश नित्य वासना के भंवर में फंस अनुचित कार्य करता है जिसके लिये पुनः संसार में आता है।

महर्षि दयानन्द ईश्वर को निराकार व व्यापक मानते हैं। इस विस्तृत ब्रह्माण्ड में किसी भी ऐसे स्थान की कल्पना नहीं की जा सकती जहां ईश्वर न हो। क्या रचित सृष्टि और क्या सृष्टि से परे का आकाश, क्या वस्तु के भीतर क्या बाहर सब स्थान पर ईश्वर व्याप्त है। यदि ईश्वर का शरीर माना जाय तब उसे साकार मानना पड़ेगा और साकार व्यापक नहीं हो सकता। सीमित वस्तु के गुण, कर्म व स्वभाव भी सीमित होंगे और फिर वह सर्व शक्तिमान् नहीं माना जा सकता। इस प्रकार का ईश्वर सब प्रकार के रागादि दोषों से युक्त होगा, जो

१. वहीं, पृ० १८६
२. 'परमेश्वर का स्वाभाविक गुण जगत् की उत्पत्ति करके सब जीवों को असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना है।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २१५।

अनीश्वरवादी आलोचकों की तीव्र आलोचनाओं का विषय होगा। स्वामी दयानन्द की ईश्वर सम्बन्धी विचारधारा में इस प्रकार की समस्यायें उत्पन्न नहीं होतीं। अतः हम यह नहीं कह सकते कि ईश्वर सृष्टि रचना कर अपने सर्वसामर्थ्य व सर्वशक्तिमान् पद से गिर कर रागादि दोषों में फंस गया।

ईश्वर कर्मफल प्रदाता है—इसके अतिरिक्त न्याय आदि वैदिक दर्शनों की भांति दयानन्द सृष्टि में कर्मफल व्यवस्था को देखकर व्यवस्थापक ईश्वर की सिद्धि करते हैं।[1] ईश्वर कर्मफल प्रदाता है संसार में जीवों के किये शुभाशुभ कर्मों के फलों को प्रदान करता है। हम जो भी कर्म करते हैं वह फलों को अपने पीछे छोड़ जाते हैं। कोई भी प्राणी दुख को प्राप्त करना नहीं चाहता। संसार में यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि अनुचित कर्मों के फलस्वरूप दुख को कोई नहीं भोगना चाहता। ऐसी अवस्था में कर्मफल प्रदाता के रूप में सर्वशक्तिमान ईश्वर को मानना ही पड़ता है। स्वामी दयानन्द का कहना है, यदि ईश्वर फलप्रदाता न हो तो पाप के फल, दुख को जीव अपनी इच्छा से कभी नहीं भोगेगा, जैसे चोर आदि चोरी कर दण्ड अपनी इच्छा से नहीं भोगते किन्तु राज-व्यवस्था से भोगते हैं वैसे ही परमेश्वर के भुगाने से जीव पाप और पुण्य के फलों को भोगते हैं।[2] लेकिन साथ ही स्वामी जी यह भी कहते हैं कि ईश्वर अपनी इच्छा से किसी को दुख-सुख नहीं देता वरन् प्राणी जैसे कर्म करता है वैसा ही फल ईश्वर उसको देता है। इस प्रकार स्वामी दयानन्द इस आशंका को भी निर्मूल कर देते हैं कि ईश्वर जिसको चाहे सुख या दुख दे। महर्षि दयानन्द के मत में कर्मफल प्रदान करके ईश्वर पक्षपात नहीं करता। यमुनाचार्य ने भी ईश्वर की सिद्धि में इन प्रमाणों की सार्थकता को स्वीकार किया है।[3]

---

१. "ईश्वरः कारणं पुरुष कर्माफल्य दर्शनात्।" न्यायदर्शन ४–१–१९।

२. सत्यार्थप्रकाश, पृ० ४४१।

३. "That the world is an effect, and, as such, must have been produced by an intelligent person who had a direct knowledge of the materials. He also has a direct knowledge of dharam (merit) and adharam (demerit) of→

ईश्वर ज्ञान का आदिस्रोत है—दयानन्द ईश्वर को ज्ञान का आदिस्रोत बताते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा मानव जाति के ज्ञान-विज्ञान के लिये वेदों का प्रकाश करता है। दयानन्द अन्य वैदिकों की भांति वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं। उनका इसमें तर्क है कि जैसे जंगली मनुष्य सृष्टि को देखकर भी विद्वान नहीं होते और जब उनको कोई शिक्षक मिल जाय तो विद्वान हो जाते हैं और अब भी किसी से पढ़े बिना कोई विद्वान नहीं होता।"[1] और यह ठीक ही है कि बिना नैमित्तिक ज्ञान के जीव का स्वाभाविक ज्ञान केवल ज्ञेय शक्ति है जो बिना किसी निमित्त की सहायता से सृष्टि का रहस्य समझने में असमर्थ है। इसी रूप में योगदर्शन परमात्मा को आदि गुरू कहता है।[2] अतः इससे भी परमात्मा की सिद्धि होती है। इसके अतिरिक्त वेदों में ईश्वर का वर्णन पाया जाता है इससे शब्द प्रमाण भी ईश्वर का बोधक है। इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि तुम ईश्वर से वेद की सिद्धि करते हो और वेद से ईश्वर की सिद्धि करते हो इसमें परस्पर अन्योन्याश्रय दोष आयेगा और फिर इनमें से एक भी सिद्ध न हो सकेगा। स्वामी दयानन्द का इसके उत्तर में कहना है कि "हम लोग परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव अनादि मानते हैं, अनादि नित्य पदार्थों में अन्योन्याश्रय दोष नहीं आ सकता" फिर वह कहते हैं कि "परमेश्वर और परमेश्वर के अनन्त विद्यादि गुण नित्य होने से ईश्वर प्रणीत वेद में अन-

←men, in accordance with which, He creates the whole world and establishes an order by which everyman may have only such experiences as he deserves. He by his mere desire, sets all the world in motion. He has no body but still He carries on the functioning of his infinite knowledge and power, otherwise how could He create this world and establish its order ? (A History of Indian Philosophy) Vol. 3. P. 153; S. N. Dass Gupta.

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २०३–२०४

२. "एष पूर्वेषामपि गुरूः कालेनानवच्छेदात् ।" योगदर्शन, समाधिपाद, सू० २६ ।

वस्था दोष नहीं आता।"[1] और यह ठीक भी हैं कि दो अनादि पदार्थों में, जिनमें कि गुण-गुणी का सम्बन्ध है अनवस्था दोष कैसा। परमात्मा सर्वज्ञ है उसकी सर्वज्ञता का एक अंश उसके द्वारा वेदों में प्रकाशित किया गया है इससे वेद के सम्मुख परमात्मा की महत्ता क्यों घट सकती है।

इस प्रकार स्वामी दयानन्द पुराने वैदिक प्रमाणों को एक नवीनता के साथ प्रस्तुत करते हैं। इसमें उनकी चेष्टा सदैव यह रहती है कि वे बौद्धिक स्तर पर सत्य का ही प्रतिपादन करें।

ईश्वर का स्वरूप

"ईश्वर, सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।" (स्वामी दयानन्द द्वारा निर्मित आर्य समाज का दूसरा नियम)

ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा, स्वामी दयानन्द इन तीनों शब्दों का प्रयोग एक ही ऐसी सत्ता के लिए करते हैं जिसमें उपरोक्त गुण हों।

स्वामी दयानन्द ईश्वर का क्या स्वरूप मानते थे यह उनके द्वारा निर्मित आर्य समाज के दूसरे नियम से स्पष्ट पता चल जाता है। स्वामी जी के लिए ईश्वर सर्वोच्च सत्ता है इसी को वे ब्रह्म कहते हैं और यही परम पुरुष होने से परमात्मा है। ईश्वर के बिना सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय एवं कर्मफल व्यवस्था असम्भव है। यहां पर स्वामी दयानन्द की विचारधारा शंकराचार्य, रामानुज, वल्लभ एवं मध्व आदि पूर्ववर्ती दार्शनिकों से सर्वथा भिन्न है। यथार्थवाद में ईश्वर का क्या स्वरूप होना चाहिए इसका सही-सही दिग्दर्शन हमें स्वामी दयानन्द के दर्शन में मिलता है। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि दयानन्द वेद व उपनिषदों की विचारधारा के विरुद्ध हैं। परन्तु वे अपने ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर स्पष्ट कहते हैं कि वे वेदों के साथ-साथ ग्यारह मुख्य उपनिषदों को ऋषि

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० ४४०।

प्रणीत होने से प्रमाण मानते हैं।[1] यही नहीं बल्कि उनका तो स्पष्ट कथन है कि उपनिषदें यथार्थवादी हैं और उनमें वर्णित ईश्वर का स्वरूप यथार्थवादी दृष्टिकोण पर आधारित है।

स्वामी जी की ईश्वर सम्बन्धी विचारधारा पश्चिमी दार्शनिक भाषा के ईश्वर सम्बन्धी वादों में किस वाद का ग्रहण करती है अर्थात् थियिज्म, दियिज्म, पैनथियिज्म या पैनन्थियिज्म में से किसके पक्ष में है? हमारे विचार से पूर्वी और पश्चिमी विचारों को शक्तिपूर्वक एक ही शब्दावली में बिठाने की हठ करना युक्तिसंगत नहीं है। जबकि दोनों विचार-प्रवाहों, सभ्यता, संस्कृति और यहां तक की विचार करने के तरीकों में भी भेद है। यह ठीक है कि कहीं-कहीं हमें अद्भुद् साम्य भी दृष्टिगोचर होता है परन्तु उनमें काफी भेद भी होते हैं और प्रायः देखा गया है एक शब्द दूसरे के लिए पूरी तरह से ठीक नहीं बैठता। और विशेष रूप से विद्वानों में भारतीय दर्शन के वादों को पश्चिमी शब्दावली में घड़ने की प्रवृत्ति पायी जाती है। इससे भारतीय दर्शन का सही-सही प्रतिनिधित्व नहीं होता। इसी कारण विद्वानों में भारतीय दर्शन के प्रति भ्रान्तियां फैली हैं। इसी प्रकार महर्षि दयानन्द को भी पाश्चात्य शब्दावली में बिठाने की चेष्टा उनके वास्तविक अभिप्राय को एकदम बदल सकती है।

दयानन्द के लिये ईश्वर और ब्रह्म एक ही सत्ता के दो पर्यायवाची शब्द हैं। ब्रह्म शब्द 'वृह, ब्रहि, वृद्धौ' इन धातुओं से सिद्ध होता है। इसका अर्थ है कि जो महान्, सर्वव्यापक, अनन्त, व सर्वशक्तिमान् है। परम सत्ता के लिये ब्रह्म शब्द का प्रयोग उपनिषदों के साथ-साथ वेदों में भी किया गया है। वहां भी सबसे महान् होने पर इसे ब्रह्म कहा है। वेद व उपनिषद् ग्रन्थों में ईश्वर का मुख्य नाम **ओ३म्** कहा गया है।[2] उपनिषद् कहते हैं कि 'सारे वेद जिसे गाते हैं, सारे ऋषि

---

१. 'परन्तु वेदान्त सूत्रों के पढ़ने से पूर्व ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक इन दश उपनिषदों को पढ़के छः शास्त्रों के भाष्य वृत्ति सहित सूत्रों को दो वर्ष के भीतर पढ़ावें और पढ़ लेवें'। सत्यार्थप्रकाश, पृ० ६४।

२. 'ओ३म् खं ब्रह्म'। यजु ४०–१,

जिसका व्याख्यान करते हैं, जिसकी प्राप्ति की इच्छा से मुमुक्षु ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते हैं, वह संक्षेप में ओ३म् है ।[1] ओ३म् परमात्मा का मुख्य नाम है, अन्य नाम उन गुणों से सम्पन्न अन्य किसी पदार्थ के भी हो सकते हैं, परन्तु सारे वैदिक साहित्य में ओ३म् परमात्मा के निज नाम के रूप में प्रयोग किया जाता है तथा परमात्मा के अन्य नाम गौणिक हैं । स्वामी जी **ओ३म्** शब्द के अर्थ इस प्रकार करते हैं, '**ओ३म्** यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है क्योंकि इसमें जो **अ, उ** और म् तीन अक्षर मिलकर एक **ओ३म्** समुदाय हुआ है । इस नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आते हैं जैसे—**अकार से विराट्, अग्नि और विश्वादि । उकार से हिरण्यगर्भ, वायु और तैजसादि । मकार से ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञादि नामों का वाचक और ग्राहक है ।**"[2] सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम समुल्लास में दयानन्द ईश्वर के लगभग सौ नामों की व्याख्या करते हैं। परमात्मा का नाम **अग्नि** भी है क्योंकि वह सर्व प्रकाशक है। वही परमात्मा परमैश्वर्यवान् होने से **इन्द्र** है तथा सबका जीवन-मूल होने से **प्राण** है। सबका रचयिता होने से इसी परमात्मा को **ब्रह्मा** कहते हैं। परमात्मा के अनन्त गुण हैं इससे उसके नाम भी अनन्त हैं। यहां पर स्वामी दयानन्द वेद की उसी केन्द्रिय विचारधारा का प्रतिपादन करते है जिसमें परमात्मा को ही सर्वदेव सम्पन्न कहा गया है।[3]

परमात्मा अनादि है। क्योंकि यदि हम यह मानें कि परमात्मा अनादि नहीं है तब उसकी उत्पत्ति माननी होगी और फिर जो उत्पन्न होता है वह नष्ट भी होता हैं इससे परमात्मा उत्पत्ति व विनाश वाला हो जायेगा। जो उत्पत्ति व विनाश वाला है वह सर्वशक्तिमान् नहीं हो सकता क्योंकि उसे अपने आस्तित्व के लिये

---

१. (i) **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।**
यदिच्छतो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।।'
क० उ० १–२–१५

(ii) **'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत'** । **छा० उ० १-१-१**

२. **सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १**

३. **'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः'** ।
ऋ० १–१६४–३९ ।

किसी अन्य सत्ता पर आश्रित होना पड़ेगा । इसके अतिरिक्त कोई पदार्थ उत्पन्न होकर वृद्धि को प्राप्त तो हो सकता है परन्तु अनन्त वृद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता । इस प्रकार परमात्मा को अनादि न मानने पर उसे सर्वशक्तिमान भी नहीं माना जा सकता । महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि जिसका कोई आदि कारण नहीं वा समय न हो वह अनादि है परमात्मा दिक्-काल से परे अनादि है । वह अनन्त है जिसकी कोई सीमा नहीं है । बाईबिल कहती है कि ईश्वर स्वर्ग में स्थित है । डियिज्म की कल्पना भी कुछ इसी प्रकार की है कि परमात्मा सृष्टि की रचना करके सृष्टि से बाहर चला गया । इसका अर्थ यह है कि वह सान्त एवं सशरीर है । स्वामी दयानन्द ऐसी कल्पनाओं को बच्चों की बातें कहते हैं ।

ईश्वर सर्वशक्तिमान है अर्थात् परमेश्वर सर्वशक्तिसम्पन्न है तथा उसके बराबर या बढ़कर कोई अन्य सत्ता नहीं है । ईश्वर सबके ऊपर शासन करने वाला है । प्रायः दार्शनिक सर्वशक्तिमान् के अर्थ करते हैं कि परमात्मा सर्वशक्तिमान् है इसलिए वह सब कुछ कर सकता है । वह शून्य से सृष्टि-निर्माण कर सकता है, बिना पुण्य-कर्मों के शुभ फल दे सकता है इत्यादि-इत्यादि । लेकिन दयानन्द इस पर आपत्ति उठाते हैं कि ईश्वर के सर्वशक्तिमान् कहने से यह अर्थ नहीं लिए जा सकते कि वह जो चाहे सो करे वरन् इसका अर्थ है व सृष्टि उत्पत्ति, पालन और प्रलय तथा सब जीवों के पाप-पुण्य की यथायोग्य व्यवस्था करने में किंचित् भी किसी की सहायता नहीं लेता । यदि यह माना जाय कि ईश्वर अपनी इच्छा से जीवों को सुख-दुःख देता है तब वह क्यों न पक्षपाती माना जाय ? कोई भी कार्य चाहे वह जीव द्वारा किया जाय या ईश्वर के द्वारा कार्य-कारण के आधार पर ही सम्भव हो सकता है । यहां दयानन्द पूछते हैं कि क्या ईश्वर असम्भव बातों को कर सकता है ? क्या वह दूसरे ईश्वर की उत्पत्ति कर सकता है और स्वयं मृत्यु को प्राप्त कर सकता है ? क्या वह अन्यायकारी, अपवित्र और कुकर्मों को कर सकता है ? कभी नहीं, स्वाभाविक नियमों के विपरीत ईश्वर भी नहीं चल सकता ।[1] आगे वह कहते हैं कि "ईश्वर के नियम सत्य और पूरे हैं इसलिये (वह उनमें) परिवर्तन नहीं कर सकता ।"[2] ईसाई विचारक संत थोमस ने भी

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ०—२१५
२. सत्यार्थप्रकाश, पृ० — २१५

इसी प्रकार कहा है कि ईश्वर भूतकाल को नष्ट नहीं कर सकता, स्वयं पापकर्म में प्रवृत नहीं हो सकता और अपनी सत्ता को नष्ट कर दूसरा ईश्वर नहीं बना सकता।[१] रसल कहते है कि संत थोमस के अनुसार परमात्मा में सब शुभ गुण हैं और सब बुरे गुण यथा क्रोध, विस्मृति, घृणा और शोक, इनका उसमें अभाव है।[२] यहां पर दयानन्द व संत थोमस में आश्चर्यजनक समता है। कभी-कभी विद्वान समानरूप से विचारते हैं और विशेषरूप से उनके निर्णय तब समान होते हैं जब कि वे पक्षपातपूर्ण भावना को छोड़ कर सत्य को खोजने की चेष्टा करते हैं। प्लेटो का कहना भी यही है कि परमात्मा असत् नहीं बोल सकता तथा ऐसा कोई काम नहीं कर सकता जिससे उसके शुभ गुणों का विरोध हो।[३] और यह ठीक भी है हम किसी भी रूप में परमपुरुष को अस्वाभाविक कार्यों में संलग्न नहीं मान सकते अन्यथा उसमें और हममें क्या अन्तर रह जायेगा।

दयानन्द ब्रह्म को निराकार मानते हैं—निराकार का अर्थ है जो सर्वत्र व्यापक है तथा जिसका कोई आकार नहीं है। श्री शंकराचार्य ब्रह्म को निराकार मानते हैं परन्तु जीव-प्रतिबिम्बवाद का भी पोषण करते हैं कि जीव अन्तःकरण में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब हैं। स्वामी दयानन्द का इस पर कहना है कि प्रतिबिम्ब

---

१. 'He cannot undo the past, Commit sin, make another God or make himself not exist.'

History of Western Philosophy; B. Russell. P. 480.

२. Ibid, P. 480.

३. "Well, but can you imagine that God will be willing to lie, whether in words or deeds, or to put forth a phantom of himself?" "I can not say" he replied.

(See Republic in Five Great Dialogues; P. 285, Plato. Translated by B. Jowett. Published by walter J. Black.)

साकार पदार्थों का होता है, जैसे मुख आकार वाला होने से दर्पण में दिखाई देता है। ब्रह्म निराकार है, इससे उसका कोई प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं।[1] और यदि यह कहा जाय कि स्वच्छ जल में निराकार आकाश का प्रतिबिम्ब तो दिखाई पड़ता है, तब स्वामी जी का उत्तर है कि जल में दिखायी पड़ने वाला आकाश नहीं वरन् पृथिवी, जल व अग्नि के त्रसरेणु हैं जो व्योम में एकत्रित हो गये हैं। आकाश सर्वव्यापक है इसका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। परमात्मा निराकार होने से सर्वव्यापक है और यदि व्यापक न होता तो सर्वज्ञादि गुण भी ईश्वर में न घट सकते क्योंकि परिमित वस्तु के गुण, कर्म, स्वभाव भी परिमित होते हैं।[2] इससे परमात्मा को साकार, एकदेशीय नहीं माना जा सकता। निराकार तथा सर्वव्यापक परमात्मा अति सूक्ष्म कारण प्रकृति से स्थूल जगत का निर्माण कर देता है। परमात्मा सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ का अर्थ है सब कुछ जानने वाला। परमात्माको जीव की अपेक्षा से त्रिकालज्ञ कहा जा सकता है अन्यथा परमात्मा में ऐसा कोई ज्ञान नहीं जो पहिले न हो और बाद में होवे। उसका ज्ञान अखण्डएकरस और यथार्थ है। जीव का ज्ञान अल्प है। जीव को भूतकाल का विस्मरण हो जाता है, वह भविष्य को नहीं जानता, परन्तु परमात्मा में ऐसा नहीं है। वरन् परमात्मा जीव के स्वतन्त्रतापूर्वक किये गये कर्मों को सर्वज्ञता से जानता है।[3] यहां पर यह प्रश्न उठ सकता है कि परमात्मा जीवात्मा के भविष्य को जानता है तब इसका अर्थ हुआ कि जीव का भविष्य निश्चित है। जीवात्मा के भविष्य के कर्म परमात्मा के ज्ञान में पहिले से ही हैं। इस प्रकार कर्म-स्वातन्त्र्य समाप्त हो जाता है। जीवात्मा की कर्म स्वतन्त्रता मानने पर ईश्वर द्वारा जीव के भविष्य के कर्मों को जानना नितान्त बुद्धि विरुद्ध है। परन्तु दयानन्द के दर्शन में यह आपत्ति नहीं उठती। वह कहते हैं कि जीव जिन-जिन कर्मों को करता है उनका वैसा ही ज्ञान परमात्मा को होता है। परमात्मा उनका यथावत् फल देता है। परन्तु जीवात्मा स्वतन्त्र रूप से कर्म करने में किंचित स्वतन्त्र भी होता है।

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २३८।
२. सत्यार्थप्रकाश पृ० १७७।
३. जैसा स्वतन्त्रता से जीव करता है वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है और जैसे ईश्वर जानता है वैसा जीव करता है।" वही, पृ० १९२

ईश्वर की सर्वज्ञता के विषय में एक और प्रश्न दुधारू खड़्ग के समान उठता है कि यदि परमात्मा सर्वज्ञ है तो अपना अन्त भी जानता होगा। यदि इसके उत्तर में कहा जाए कि सर्वज्ञ सब कुछ जानने में समर्थ हैं इससे जानता ही होगा। तब इसका अर्थ यह हुआ कि परमात्मा सान्त है अनन्त नहीं। और यदि कहें कि परमात्मा अन्नत होने से अपना अन्त नहीं जानता तब इससे उसकी सर्वज्ञता का बाध होता है। ऐसे स्थल पर दयानन्द एक चतुर तार्किक के समान उत्तर देते हैं कि अनन्त परमात्मा अपने को अनन्त ही जानता है।[1] इसमें विरोधी का प्रहार सर्वथा नष्ट हो जाता है।

डेमोक्रिट्स का कहना था कि संसार का कारण परमाणु है। लेकिन परमाणु जो जड़ है किस प्रकार क्रियाशील हुये? इस प्रश्न को डेमोक्रिट्स छोड़ देते हैं। शायद इसलिए कि परमाणु में गति की समस्या हल करने के लिये किसी प्रथम गतिदाता की आवश्यकता पड़ेगी। जैन दर्शन ईश्वर के निर्मातृत्व को डेमोक्रिट्स से भी अधिक प्रभावशाली ढंग से अस्वीकार करता है। परमाणुवाद को मानने वाले विद्वान सृष्टि को बिना किसी उद्देश्य की बताते हैं। उनका विचार है कि वैज्ञानिक गवेषणा संसार को विना निर्माता के माने अच्छी प्रकार से हो सकती है।[2] परन्तु इन विद्वानों का यह समझना इनकी भूल है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस भूल का कारण शायद इन विद्वानों का यह डर है कि ईश्वर को मानने और सृष्टि में उद्देश्य मानने पर भौतिक द्रव्य की मान्यता समाप्त हो जायेगी। क्योंकि कुछ ईश्वरवादी विद्वान् यह मानते हैं कि ईश्वर बिना द्रव्य के भी सृष्टि का निर्माण कर सकता है। **स्वामी दयानन्द के दर्शन**

---

१. **"जब परमेश्वर अनन्त है तो अपने को अनन्त ही जानना ज्ञान, उसके विरुद्ध अज्ञान अर्थात् अनन्त को सान्त और सान्त को अनन्त जानना भ्रम कहलाता है।"** वही, पृ० १८६

२. "But experience has shown that the mechanistic question leads to scientific knowledge, while the teleological question does not-" A History of Western Philosophy' by B, Russell, P. 87, 1946:

में यह आपत्ति नहीं उठ सकती क्योंकि वे ईश्वर के साथ-साथ प्रकृति को भी अनादि तत्त्व स्वीकार करते हैं। स्वामी जी जहां एक तरफ नवीन वेदान्तियों (शंकराचार्य व उनके अनुयायियों को नवीन वेदान्ती कहते हैं) की आलोचना करते हैं कि प्रकृति के बिना ब्रह्म सृष्टि नहीं रच सकता, तो दूसरी तरफ वे जैनियों व भौतिकवादियों की आलोचना भी करते हैं कि बिना निर्माता के जड़ पदार्थ स्वयं सृष्टि उत्पन्न नहीं कर सकता। अतः इस विस्तृत ब्रह्माण्ड की रचना करने वाली अवश्य ही कोई परम शक्तिशाली सत्ता होगी। इससे यही सिद्ध होता है कि ईश्वर में सृष्टि कर्तृत्व स्वभाव से है।

ईश्वर संसार के समस्त पदार्थों से अति सूक्ष्म है, इसी से वह समस्त पदार्थों में व्यापक है। वह जीवात्मा व प्रकृति इन सभी तत्त्वों में व्यापक है। वह सर्व-व्यापक होने से सबसे बृहद है। दयानन्द कहते हैं कि सर्वव्यापक होने से ही वह सर्वान्तिर्यामी सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सबका सृष्टा है। यदि एक देश में होता तो उसमें यह गुण कदापि नहीं हो सकते थे।[1] द्वैतवाद के विरुद्ध बहुदा यह आपत्ति उठाई जाती है कि एक ही देश में दो पदार्थ नहीं रह सकते, अतः परमात्मा के साथ कोई अन्य पदार्थ नहीं रह सकता अन्यथा परमात्मा सान्त हो जायेगा क्योंकि जहां पर दूसरा पदार्थ होगा वहां परमात्मा का अभाव होगा। स्वामी दयानन्द के मत में ऐसी किसी आपत्ति को स्थान नहीं है। क्योंकि उनके मत में अति सूक्ष्म होने से ईश्वर हर पदार्थ में उसी प्रकार ओत-प्रोत है जिस प्रकार गर्म लोहे में अग्नि विद्यमान रहती है। इससे परमात्मा सीमित नहीं होता। ईश्वर संसार का निमित्त कारण है। वह अनादि प्रकृति से अपनी विज्ञान शक्ति द्वारा अखिल ब्रह्माण्ड की रचना करता है। वह स्वयं बिगड़कर संसाररूप नहीं होता और नाही उसका कोई प्रतिबिम्ब माया जैसी अविद्यात्मक परन्तु अनिर्वचनीय शक्ति में पड़ता है। परमात्मा जीवों के भोग व अपवर्ग के निमित्त विशुद्ध दयाभाव से संसार का निर्माण करता है। सृष्टि-निर्माण में उसका अपना कोई प्रयोजन नहीं है। सृष्टि का कोई उद्देश्य है और वह है जीवात्मा का भोग व अपवर्ग। इस पर यदि कोई यह प्रश्न उठाये कि जब ईश्वर का सृष्टि में कोई प्रयोजन नहीं वह सृष्टि का निर्माण कर क्यों प्रपंच में पड़ता है? इस पर दया-

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० १७७।

नन्द का कहना है कि सृष्टि रचना करने से परमात्मा किसी प्रपंच और दुःख में नहीं गिरता,[1] क्योंकि वह आप्तकाम है। दुख-सुख जीवों के कर्मानुसार हैं।

शंकराचार्य जी ब्रह्म को सृष्टि का अभिन्निमित्तोपादान कारण कहते हैं लेकिन दयानन्द ब्रह्म (ईश्वर) को केवल निमित्त कारण मानते हैं। दयानन्द किसी भी प्रकार के ब्रह्म-अद्वैतवाद से सन्तुष्ट नहीं है। क्योंकि अद्वैतवाद की मूल त्रुटि, कि निर्विकारी ब्रह्म जगत क्यों हो गया, बनी रहती है। ईश्वर का सृष्टि निर्माण में क्या प्रयोजन है ? यह प्रश्न इन मतों में बना रहता है। क्योंकि यहां शंका उठती है कि जब ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं है फिर ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण अपने लिए ही किया होगा। कुछ बाद के वेदान्ती तथा रामानुज का कहना है कि संसार का निर्माण ईश्वर की लीला-मात्र है।[2] परन्तु प्रश्न यह है कि ईश्वर को निष्प्रयोजन लीला करने की क्या सूझी जो एक से अनेक हो गया ? रामानुज के विशिष्टाद्वैत पक्ष में यह त्रुटि है कि ईश्वर ने अपनी लीला के लिए संसार में दुख-सुखों का जंजाल क्यों फैलाया, क्या वह जीवात्माओं को दुखी-सुखी देखकर स्वयं आनन्दित होता है ? यह सब बातें ईश्वर के स्वरूप को बिगाड़ देती हैं। जिसके कारण ईश्वर में रागादि का दोष लगता है। परन्तु स्वामी दयानन्द के मत में ईश्वर को निमित्त कारण मानने पर ऐसा कोई दोष नहीं लगता।

ईश्वर निर्गुण व सगुण दोनों—ब्रह्मवादी ब्रह्म को निर्गुण कहते हैं जिसका कोई गुण नहीं है, अर्थात् ये ब्रह्म में किसी गुण का अध्यारोप नहीं करते। परन्तु इनके मत में मायोपाधि से ब्रह्म ईश्वर अर्थात् निम्न ब्रह्म बन जाता है यह ब्रह्मवादियों का सगुण ब्रह्म है। यह हम पहिले ही कह आये हैं कि दयानन्द इस प्रकार की दो ब्रह्म की विचारधारा को स्वीकार नहीं करते। उनके विचार में एक ही परम सत्ता निर्गुण व सगुण दोनों ही है। स्वामी दयानन्द का कहना है कि **'यद् गुणैस्सह वर्तमानं तत्सगुणम्' 'गुणेभ्यो यन्निर्गतं पृथग्भूतं तन्निर्गुणम्'** अर्थात् जो गुणों से सहित वह सगुण (है) और जो गुणों से रहित (है) वह निर्गुण कहाता है। अपने-अपने स्वाभाविक गुणों से

---

१. **सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ४४३।**

२. **'लोकवत्तुलीला कैवल्यम्'। वेदान्त सू० २–१–२३ पर रामानुज भाष्य**

सहित और दूसरे विरोधी के गुणों से रहित होने से सब पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है कि जिसमें केवल निर्गुणता या केवल सगुणता हो किन्तु एक ही में सगुणता और निर्गुणता सदा रहती है। वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त ज्ञान, बलादि गुणों से सहित होने से सगुण और रूपादि जड़ के तथा द्वेषादि जीव के गुणों से पृथक् होने से निर्गुण है।"[1] जिस प्रकार का निर्गुण ब्रह्म श्री शंकराचार्य जी हमारे सम्मुख रखते हैं उसका तो चिन्तन भी असम्भव है फिर उसकी उपासना कैसे की जा सकती है। एक सफल एवं उचित तत्त्व-ज्ञान वही है जो जन साधारण की श्रद्धा व भक्ति के आश्रयरूप परमसत्ता को उन तक पहुँचाता है। स्वामी दयानन्द ब्रह्म को सगुण व निर्गुण दोनों बताते हैं। साधक ईश्वर की, उसके स्वाभाविक गुणों के आधार पर साधना कर सकता है परन्तु व्यर्थ के गुणों का, जो उसके स्वभाव के विपरीत हैं, ब्रह्म में आरोप नहीं किया जा सकता, इससे ब्रह्म निर्गुण है।

प्रायः विद्वान् सगुण के अर्थ साकार और निर्गुण के अर्थ निराकार से लेते हैं। उनकी यह मान्यता भ्रान्त है। निराकार तत्त्व सगुण हो सकता है जैसे आकाश जिसका गुण शब्द है। इसके अतिरिक्त निराकारत्व स्वयं एक गुण है फिर उसे निर्गुण क्यों माना जाये। परमात्मा निराकार है और दयानन्द इसी एक निराकार परमात्मा की उपासना का विधान करते हैं।[2] श्री शंकराचार्य के मत में उपासना का विषय ईश्वर अर्थात् निम्न ब्रह्म है। रामानुजार्य विष्णु की उपासना पर बल देते हैं। रामानुज की कल्पना साकार परमात्मा की उपासना है। लेकिन दयानन्द सीधे केवल एकसत्य ब्रह्म की ही उपासना बताते हैं जिसका न तो कोई शंकराचार्य के सगुण ब्रह्म की तरह निम्न रूप है और जो न रामानुज की तरह साकार रूप वाला है। निराकार ब्रह्म की कोई मूर्ति भी नहीं हो सकती। न तो वेदों में और न उपनिषदों में ही कहीं मूर्ति पूजा का निर्देश पाया जाता है। वेद स्पष्ट शब्दों में परमात्मा की मूर्ति होने का खण्डन करता है कि उस परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं है।[3] इसी के आधार पर दयानन्द कहते हैं कि "जब परमात्मा निराकार है तब उसकी

१. सत्यार्थ प्रकाश पृ० २००।
२. सत्यार्थप्रकाश, पृ० ३२४।
३. 'न तस्य प्रतिमा अस्ति।' यजुर्वेद ३२।३

मूर्ति ही नहीं बन सकती।"[१] अतः दयानन्द ईश्वर की उपासना में मूर्तिपूजा का निषेध करते हैं।

दयानन्द कहते हैं कि परमात्मा सच्चिदानन्द है अर्थात् अस्तित्ववान् पदार्थों में साधु होने से सत्य हैं, जो चेतन स्वरूप सब जीवों को चिताने और सत्यासत्य का जानने वाला होने से चित्त है एवं जो स्वयं आनन्दस्वरूप है तथा सर्वप्रकार के दुखादि क्लेशों से दूर है तथा जिसमें सब जीव मुक्ति में आनन्द को प्राप्त होते हैं इससे ब्रह्म आनन्द है।[२]

दयानन्द परमात्मा को अद्वितीय मानते हैं। कुछ विद्वान् अद्वितीय का अर्थ अद्वैत से करते हैं। परन्तु दयानन्द त्रैतवादी हैं, उनके अनुसार परमात्मा इसलिये अद्वितीय है कि वह अनुपम है। न कोई उससे बड़ा है और न कोई बराबर। परमात्मा से न्यून जीव व प्रकृति की सत्ता ईश्वर के साथ-साथ अनादि है। इससे परमात्मा की सर्वव्यापकता का बाध नहीं होता, क्योंकि ईश्वर अति सूक्ष्म होने से जीव व प्रकृति दोनों में व्याप्त है।[३]

परमात्मा आनन्द का केन्द्र है "जिस पुरुष के समाधियोग से अविद्यादि मल नष्ट हो गये हैं आत्मस्थ होकर परमात्मा में जिसने चित्त को लगाया है उसको जो परमात्मा के योग का सुख होता है वह वाणी से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्तःकरण में ग्रहण करता है।"[४] परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना व उपासना से जीव के अपने गुण, कर्म व स्वभाव सुधरते हैं। ईसाई आदि सम्प्रदायों में यह विश्वास प्रचलित है कि ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा कर देता है परन्तु दयानन्द के मतानुसार **परमात्मा अपने उपासकों के अपराध व पापों को क्षमा नहीं करता।**[५] इस पर प्रश्न यह उठता है कि फिर क्यों हम ईश्वर की उपासना करें ? इस पर

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० ३१८।
२. वही, पृ० १५।
३. इसी पुस्तक का पृ० ५३–५४ भी देखें।
४. सत्यार्थप्रकाश, पृ० १८४।
५. वही पृ० १९०।

दयानन्द का कहना है कि परमेश्वर की स्तुति से ईश्वर में प्रीति, उसके गुण, कर्म स्वभाव से अपने गुण, कर्म, स्वभाव का सुधारना, प्रार्थना से निरभिमानता, उत्साह तथा सहाय का मिलना एवं उपासना से परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार"[1] होता है। परमात्मा का साक्षात्कार समाधि अवस्था में आत्मा से आत्मा में किया जाता है। परमात्मा का इन्द्रियों से साक्षात्कार नहीं होता क्योंकि इन्द्रियें स्थूल पदार्थों के ज्ञान के लिये बनी हैं सूक्ष्म तत्त्व इनकी शक्ति के बाहर हैं। परमात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म है फिर उसका इन्द्रियों द्वारा कैसे साक्षात् किया जा सकता है।

ईश्वर अवतार धारण नहीं करता—हिन्दू धर्म में प्रचलित विश्वास है कि जब संसार में पाप व व कष्ट अधिक मात्रा में हो जाते हैं तब उनके निवारण के लिये परमात्मा स्वयं अवतार धारण कर पृथ्वी पर अवतरित होता है। अवतारवाद की यह कल्पना बड़ी प्रिय लगती है कि परमात्मा भी मनुष्य शरीर धारण कर मनुष्य जाति के मध्य आता है। इस्लाम धर्म में पृथ्वी पर से कुफ्र दूर करने के लिये ईश्वर अपने पैगम्बर भेजता है तथा ईसाई लोग मानते हैं कि परमात्मा का पुत्र मानव जाति के दुखों से द्रवित होकर पश्चिमी एशिया के रेगिस्तान में आया। स्वामी दयानन्द का दर्शन बौद्धिक है अतः उसमें किसी असंगत कल्पना को स्थान नहीं है। अवतारवाद के विरुद्ध उनका प्रश्न है कि परमात्मा को अवतार धारण करने की क्या आवश्यकता है? क्या सर्वशक्तिमान् परमात्मा अपनी इच्छामात्र से दुष्टों का नाश नहीं कर सकता? दयानन्द कहते हैं कि प्रथम तो परमात्मा के अवतार धारण करने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि जो परमात्मा बिना शरीर धारण किये इस विशाल सृष्टि का निर्माण करता है वह अपनी किंचितमात्र शक्ति से दुष्टों का नाश कर सकता है।[2] दूसरे अनन्त, निराकार सर्वव्यापक व सर्वज्ञ परमात्मा एक स्त्री के गर्भ में कैसे आ सकता है? क्या वह पहिले से वहां नहीं था जो उसका गर्भ में आना माना जाये? परमात्मा सब प्रकार नस-नाड़ियों (शरीर) के बन्धन से दूर है फिर वह शरीर

१. वही, पृ० १८०।

२. वही, पृ० १८६।

कैसे धारण कर सकता है।[1] **अतः दयानन्द के अनुसार ईश्वर अवतार धारण नहीं करता।** इसके अलावा दयानन्द इस्लाम की इस मान्यता को भी नहीं मानते कि ईश्वर अपना कोई पैगम्बर भेजता है। उनके अनुसार ईश्वर का कोई पैगम्बर नहीं है। ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में वेदों का ज्ञान मनुष्यमात्र के लिये चार ऋषियों के अन्तःकरण में दिया तथा जो भी व्यक्ति अधर्म छोड़कर धर्म के मार्ग पर चलता है, जो समस्त प्राणीमात्र के कल्याण में सदैव रत रहता है, वही सत्पुरुष परमात्मा का पृथ्वी पर प्रतिनिधि है तथा हर वह व्यक्ति जो परमात्मा की आज्ञाओं का पालन व सदाचार पर चलकर अपने को परमात्मा के शुभ गुणों के अनुसार बनाने की चेष्टा करता है, परमात्मा का सच्चा पुत्र है। दयानन्द किसी व्यक्ति विशेष को परमात्मा का पुत्र नहीं मानते। उनके अनुसार सारे मानव ईश्वर के पुत्र हैं।

जैन मत की आलोचना—जैन दर्शन ने किसी सृष्टि रचयिता ईश्वर के अस्तित्व को नहीं माना किन्तु तीर्थंकरों को ही ईश्वर की पदवी दी है। मुक्तावस्था में तीर्थंकर ही परमात्मा का स्थान ग्रहण करते हैं।[2] इस मत के विरुद्ध दयानन्द का तर्क है कि प्रथम "जो रागादि दोषों से सहित होकर पश्चात् दोषरहित होता है वह ईश्वर कभी नहीं हो सकता, क्योंकि जिस निमित्त से वह रागादि से मुक्त होता है, वह मुक्ति उस निमित्त के छूटने से उसका कार्य मुक्ति भी अनित्य होगी। जो अल्प और अल्पज्ञ है वह सर्वव्यापक और सर्वज्ञ कभी नहीं हो सकता क्योंकि जीव का स्वरूप एकदेशीय और परिमित गुण, कर्म, स्वभाव वाला होता है, वह सब विद्याओं में सब प्रकार यथार्थ वक्ता नहीं हो सकता इसलिये तुम्हारे तीर्थंकर परमेश्वर कभी नहीं हो सकते।"[3] सीमित शक्ति

---

१. 'स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्' । यजुर्वेद, ४०–८।

२. सर्वज्ञो वीतरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः' ।।
चन्द्रसूरि के आप्तनिश्चयालंकार से स० प्रकाश पृ० ४३८ पर उद्धृत

३. स० प्रकाश, पृ० ४३८-४३९

वाला पुरुष अपनी शक्ति को एक सीमा तक ही बढ़ा सकता है, वह अनन्त नहीं हो सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व, स्वभाव, स्वरूप व कर्त्तव्य पर जो आपत्तियां प्रायः उठाई जाती हैं उनका निराकरण स्वामी दयानन्द के दर्शन में बौद्धिक रूप में मिलता है।

एकेश्वरवाद व बहुदेवतावाद

ईश्वर एक है या अनेक ? इस प्रश्न पर प्रायः सभी विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से विचार किया है। प्राचीनकाल में भी जबकि बहु-ईश्वरवाद की कल्पना का अधिक प्रचार था, एकेश्वरवादी विचारकों का भी अभाव न था। बहु-ईश्वरवाद के अनुसार ईश्वर, जो कि सृष्टि का निर्माता व नियामक है, के अतिरिक्त अन्य अनेक देवी देवता भी हैं जो कि उपास्य हैं। बहु-ईश्वरवाद का एक रूप, भूत-प्रेत आदि एवं सृष्टि के पृथक्-पृथक् पदार्थों में पृथक्-पृथक् देवता की कल्पना करना भी है। इनमें वृक्ष, पर्वत, नदी एवं मेघादि भी आ आते हैं। मृतात्मा की उपासना भी इसी का रूप माना जा सकता है। दूसरी तरफ एकेश्वरवाद में ईश्वर ही एक शक्ति है जो संसार का निर्माता है तथा हमारी उपासना का केन्द्र है। इसके अतिरिक्त सृष्टि के भिन्न-भिन्न पदार्थ यथा वायु, अग्नि, मेघ, वृक्षादि, कोई भी देवता उपासनीय नहीं हैं। वरन् ये सब प्रकृति के विकार मात्र हैं ये कोई चेतन शक्तियां नहीं हैं जो मनुष्यों पर शासन करती हों वरन् परमात्मा की शक्ति व प्रेरणा से प्रकृति के विभिन्न कार्य मात्र हैं। अतः इनमें से कोई भी उपास्य नहीं हैं।

स्वामी दयानन्द एकेश्वरवादी थे। बहु-ईश्वरवाद उनको छू तक नहीं गया था। स्वामी जी कहते हैं "जिससे यह विविध सृष्टि प्रकाशित हुई है, जो (इसका) धारण और प्रलय करता है जो इस जगत् का स्वामी, जिस व्यापक में यह सब जगत् उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय को प्राप्त होता है सो परमात्मा है उसको तू जान और दूसरे को सृष्टिकर्त्ता मत मान।"[1] स्वामी दयानन्द इसी एक परमात्मा की उपासना का विधान कहते हैं कि "जिसने पृथिवी से लेके सूर्यपर्यन्त जगत् को

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ २०८।

उत्पन्न किया है उस परमात्मा की प्रेम से भक्ति किया करो।''[१] यही नहीं बल्कि वे अन्य देवी-देवताओं की उपासना का श्रुतियों इत्यादि में भी स्पष्ट निषेध करते हैं "कि देवता दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण कहाते हैं जैसा कि पृथिवी, परन्तु इसको कहीं ईश्वर या उपासनीय नहीं माना है।''[२]

जिस समय स्वामी दयानन्द भारत में अपना प्रचार कर रहे थे तब हिन्दु धर्म में बहुदेवतावाद प्रचलित था। परन्तु स्वामी दयानन्द ने अपना यह स्पष्ट मत स्थापित किया था कि परमात्मा एक है चाहे उसे ब्रह्म कहें या ईश्वर, इसके अतिरिक्त किसी अन्य की उपासना सर्वथा अनुचित है। जैसा कि स्वामी जी वेदों को निर्भ्रान्ति ज्ञान मानते थे और जो समस्त हिन्दु जाति को भी मान्य हैं आपने वेदों के उद्धरणों से यह सिद्ध करने की सफल चेष्टा की कि ईश्वर एक ही है। स्वामी जी से कुछ ही समय पूर्व राजा राममोहन राय ने भी हिन्दुधर्म में एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया था। (वेदों में एकेश्वरवाद के लिये इसी पुस्तक के पृष्ठ १३ पर "बहुदेवतावाद-हीनोथीयीज्म व एकेश्वरवाद" को देखिये।)

पौराणिक साहित्य अनेक देवताओं की मान्यताओं से भरा पड़ा है और उनमें से प्राय: सब ही ईश्वर के समकक्ष है। यह देव सृष्टि में अपना सीधा प्रभाव रखते हैं तथा अपनी उपासना से प्रसन्न होकर अपने भक्तों के लिये सब कुछ करने के लिये तैयार रहते हैं। इन कल्पनाओं के अनुसार ही हिन्दु समाज में विभिन्न मत व सम्प्रदाय हुए हैं इन देवताओं में प्रत्येक महानतम् है वैष्णव विष्णु को ही महानतम् देव मानते हैं जबकि शाक्त शिव के ही उपासक हैं। यही नहीं वरन् कभी-कभी तो दो भिन्न सम्प्रदाय आपस में एक दूसरे पर कटु प्रहार करने से भी नहीं चूकते। **हमारा यह विचार है कि मैक्समूलर वैदिक देवतावाद के स्थान पर यदि पौराणिक देवतावाद के लिये हीनोथीयिज्म का प्रयोग करते तो अधिक अच्छा होता।** वेदों में तो हीनोथीयिज्म है ही नहीं, हां पुराणों में अवश्य पाया जाता है।

---

१. वही, पृ० २०८

२. वही, पृ० १७४

स्वामी दयानन्द ने पुराणों में वर्णित देवतावाद को एकदम बुद्धि विरुद्ध व वैदिक धर्म के विपरीत बताया है। उनके लिए तो वेद ही प्रामाणिक है। इसीलिए उन्होंने वेदों में एकेश्वरवाद का स्थापन कर पश्चिमी व भारतीय कर्मकाण्डात्मक व प्रकृत्यात्मक दोनों प्रकार के वेदभाष्यों को ठुकरा दिया।[1]

स्वामी दयानन्द का कथन है कि 'देव' शब्द को ईश्वर के अर्थों में प्रयोग नहीं करना चाहिये।[2] वरन् हमें देव शब्द के अर्थ निरूक्त के अनुसार करने चाहिये।[3] देव शब्द के नैरूक्तिक प्रणाली से अर्थ करने से हर कल्याणकारी वस्तु चाहे वह पार्थिव हो या चेतन, देव कही जा सकती है लेकिन इनकी उपासना का विधान कहीं भी नहीं है और इस रूप में स्वामी दयानन्द अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं।

स्वामी दयानन्द की एकेश्वरवादी विचारधारा को उपनिषदों से पर्याप्त बल मिलता है। उपनिषदें केवल ब्रह्म को ही सृष्टि का अध्यक्ष मानती हैं और साथ ही घोषणा भी करती हैं "जिसे मन नहीं देख सकता परन्तु जिसकी शक्ति से मन देखता है वही वह है, उसी को ब्रह्म जानना चाहिये न कि वह जो यह कहकर पूजा जाता है।"[4] ब्रह्म को छोड़कर पार्थिव देवों की उपासना करने वालों को शतपथ ब्राह्मण पशु के समान कहता है।[5]

श्री जोसेफ रायस ने "धर्म व नीतिशास्त्र के महाकोष" में एकेश्वरवाद पर लिखे अपने लेख में मायावाद की विचारधारा को ही हिन्दु एकेश्वरवाद में लिखा है, जिसको वे भारतीय एकेश्वरवाद मानते हैं। मायावाद के अनुसार केवल ब्रह्म सत्य और सब मिथ्या है। यद्यपि विद्वान लेखक इस मत को असृष्टिवाद (acos-

१. Xenophanes ने भी ग्रीक गाथाशास्त्र के विरुद्ध एकेश्वरवाद की विचारधारा हमारे सामने रखी है।
(See 'A History of Philosophy', P. 36, Frank Thilly), (1955).

२. सत्यार्थप्रकाश, पृ० १७४।

३. निरुक्त, ७-१५

४. केनोपनिषद् ख० १ मं० ५

५. शतपथ ब्राह्मण, कां० १४ अ० ४

mism) मानते हैं, परन्तु क्योंकि इस विचारधारा का प्रभाव यूरोप में स्पीनोजा पर पड़ा तथा ग्रीक दर्शन में यही नवीन प्लेटोनिज्म के रूप में आया, इसलिए शंकर के मायावाद को समस्त वैदिक दर्शनों का वास्तविक प्रतिनिधि मानकर लेखक ने इसे हिन्दु-एकेश्वरवाद में रखा है।[1] लेखक का यह विचार सही नहीं है क्योंकि न्याय व वैशेषिक एवं योग यह तीनों एकेश्वरवादी हैं लेकिन इनमें मायावाद की गन्ध भी नहीं है। प्रतीत होता है कि विद्वान लेखक ने इन्हें समझने की चेष्टा नहीं की। फिर इसके अतिरिक्त उपनिषदों में शंकर का मत मिलता भी है या नहीं यह विषय स्वयं अत्यन्त विवादास्पद है इसलिए हम पूछते हैं कि समस्त हिन्दु-एकेश्वरवाद को क्योंकर मायावाद के ढांचे में ढाला जा सकता है। इस विषय में विद्वान लेखक ने भूल की है।

एकेश्वरवाद व सर्वेश्वरवाद—इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान एकेश्वरवाद व सर्वेश्वरवाद (Pantheism) को एक मानते हैं परन्तु एकेश्वरवाद व सर्वेश्वरवाद को एक मानना कभी भी युक्तिसंगत नहीं हो सकता। कोई मत एकेश्वरवादी हो सकता है लेकिन सर्वेश्वरवादी नहीं। जैसे न्याय-वैशेषिक एवं योग को ही लीजिए ये तीनों दर्शन एकेश्वरवादी हैं लेकिन ईश्वर के अतिरिक्त पुरुष व प्रकृति को भी नित्य मानते हैं इसलिए ये सर्वेश्वरवादी नहीं हैं। स्वामी दयानन्द ईश्वर के अतिरिक्त जीव व प्रकृति को भी नित्य पदार्थ मानते हैं परन्तु एक ईश्वर के अतिरिक्त किसी दूसरे ईश्वर या अन्य पार्थिक शक्ति व सृष्टि के विभिन्न विभागों के अध्यक्षों के रूप में दिव्य शक्तिसंपन्न देवताओं को नहीं मानते। वे ग्रीक व पौराणिक गाथाशास्त्र के ऐसे देवताओं को भी नहीं स्वीकार करते जो शरीरधारी

1. Encyclopedia of Religion and Ethics.
"In fact at the close of history of Great Philosophy this third form of monotheism appeared as a part of the Neo-Platonic Philosophy." Page–819. (Monotheism.)
"The name 'acosmism' therefore is more suggestive for it than the name Pantheism." (Ibid).

हैं लेकिन मनुष्यों से दिव्य हैं, आकाश आदि लोकों में रहते हैं तथा जो आपस में स्त्रियों के लिए मनुष्यों के समान युद्ध करते हैं। (ग्रीक गाथाशास्त्र)। स्वामी दयानन्द के धर्म व दर्शन में ऐसी कोई बेतुकी कल्पना नहीं है। एक सर्वशक्तिमान ब्रह्म को मानने पर भी सृष्टि के संचालन में देवों की आवश्यकता है यह बात दर्शन-बुद्धि के सर्वथा विपरीत है। सर्वव्यापक एव सर्वशक्तिमान ईश्वर सृष्टि का संचालन करने में स्वयं समर्थ है उसे किसी अन्य से सहायता की कोई आवश्यकता नहीं। यही सर्वशक्तिमान का सही अर्थ है।[1] इस संबंध में दयानन्द की विचारधारा एकदम दार्शनिक है। लेकिन शंकराचार्य के निर्गुण ब्रह्म के समान शुष्क नहीं और न ही स्पीनोजा की परम सत्ता (Absolute) के समान अव्यावहारिक ही है। इसमें एक तरफ जहां दर्शन की गहराई है वहां दूसरी तरफ यथार्थवादित है। शंकर का निर्गुण ब्रह्म हमारी उपासना का प्रतीक कैसे बन सकता है। परन्तु दयानन्द का ब्रह्म उपास्य है सब दिव्य गुणों से सम्पन्न है।

शंकर व रामानुज मतों पर विचार

शांकर मत की आलोचना—आचार्य शंकर ब्रह्म को सत्तामात्र निर्गुण तत्त्व मानते हैं। इनके मतानुसार ब्रह्म में गुणों को नहीं माना जा सकता क्योंकि गुणों के आरोप करने का तात्पर्य है सम्बन्ध करना, परन्तु ब्रह्म का किससे सम्बन्ध हो? विशुद्ध ब्रह्म सम्बन्धरहित निर्गुण तत्त्व है। ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहा जाता है। जब हम कहते हैं ब्रह्म सत् है इसका तात्पर्य है कि यह असत् नहीं, जब चित्त कहा जाता है तब इसका अर्थ है अचित् नहीं, और जब आनन्द कहा जाता है तब इसका अर्थ है कि ब्रह्म दुख से परे है। परन्तु सच्चिदानन्द भी ब्रह्म का वर्णन पूरी तरह नहीं करता। वास्तव में ब्रह्म का वर्णन नहीं किया जा सकता। यह सबका आधार है, परन्तु द्रव्य नहीं, यह देशकालातीत है फिर भी हर देश व काल में है, यह किसी का कारण नहीं, इसका किसी से सम्बन्ध नहीं, यह वाणी से बतलाया नहीं जा सकता, क्योंकि अनन्त है. इसका

१. 'ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदि और सब जीवों के पुण्य-पाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में किंचित् भी सहायता नहीं लेता अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही सब अपना काम पूर्ण कर लेता है'। सत्यार्थ प्रकाश, पृ १७६

कोई रूप नहीं क्योंकि निराकार है। आचार्य शंकर ने ब्रह्म का वर्णन नेति-नेति कहकर किया है परन्तु इसका अर्थ नकार रूप में नहीं बल्कि इससे अचिन्त्य अनिर्वचनीय केवलमात्र सता की ओर निर्देश है।

यदि ब्रह्म को ही केवल सत्ता माना जाय तब यह संसार क्या है? आचार्य कहते हैं सीपी में चांदी के समान ब्रह्म में आरोपित है। विशुद्ध ब्रह्म का माया में प्रतिबिम्ब ईश्वर है। ईश्वर ही इस जगत् का अभिन्निमित्तोपादान कारण है, संसार का नियामक है, कर्मफल प्रदाता है तथा नामरूपात्मक जगत् का निर्माता है। शंकर का ईश्वर सगुण है जबकि ब्रह्म निर्गुण। जीव अविद्या से ब्रह्म में आरोपित चैतन्य तत्त्व है जो मायामय संसार में शरीर धारण करता है। शांकर मत में प्रकृति की कोई सत्ता नहीं है बल्कि यह अविद्या से जीव द्वारा ब्रह्म में आरोपित है। यद्यपि ब्रह्म इसका आधार है तथापि यह ब्रह्म से पृथक है इसी से शंकर ब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण कहते हैं। संक्षेप में आचार्य शंकर ब्रह्म को निर्गुण व निष्क्रिय मानते है और ब्रह्म के दो रूप विशुद्ध व शबल ब्रह्म के रूप में बताते हें। संसार अध्यास है एवं जीव **अविद्या से है।**

स्वामी दयानन्द अद्वैतवाद की इस उत्कृष्टतम विचारधारा को सही नहीं मानने। उनके अनुसार न तो वेद और न उपनिषदें ही अद्वैतवाद की पोषक है। उपनिषदों में ब्रह्म के लिये अद्वितीय शब्द आया है इसका अर्थ है जिसके बराबर व अधिक नहीं। दयानन्द का कथन है उपनिषदें जब ब्रह्म को **"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"** (छा० ६-२-१) कहती है तब उसका तात्पर्य है ब्रह्म अद्वितीय है ब्रह्म के समान तथा अधिक कोई सत्ता नही है। इससे जीव व प्रकृति का अभाव या निषेध नहीं होता। इसका अर्थ केवल यह है कि ब्रह्म सर्वोच्च, सर्वशक्तिमान है जिसके न कोई बराबर है और न अधिक। इस पद में यह कहां कहा गया है कि ब्रह्म से न्यून सत्ता नहीं है।[1] यमुनाचार्य भी शंकराचार्य के अद्वैतवाद का औपनिषदिक स्तर पर इसी प्रकार खण्डन करते हैं।[2] ब्रह्म पूर्ण-

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६८

2. A History of Indian Philosophy, V III. P. 153, S. N. Dass Gnpta. —1940

तथा निर्गुण भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म का तो विचारमात्र भी सम्भव नहीं। इस प्रकार परमात्मा की उपासना एकदम असम्भव हो जाएगी। किसी भी तत्त्व का चिन्तन करना या मनन करना उसके गुणों की ओर संकेत करता है। महर्षि दयानन्द कहते हैं कि ब्रह्म सगुण व निर्गुण दोनों हैं जैसे जड़ के रूपादि गुण हैं और चेतन के ज्ञानादि गुण जड़ में नहीं है और जैसे चेतन में इच्छादि गुण हैं और रूपादि जड़ के गुण (चेतन में) नहीं हैं, इसमें **'यद् गुणैस्सह वर्त्तमानं तत्सगुणम्' 'गुणेभ्यो यन्निर्गतं पृथक् भूतं तन्निगुर्णम्'** जो गुणों से सहित वह सगुण और जो गुणों से रहित वह निर्गुण कहाता है अपने-अपने स्वाभाविक गुणों से सहित और दूसरे विरोधी के गुणों से रहित होने से सब पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है "जिसमें केवल निर्गुणता या केवल सगुणता हो किन्तु एक ही में सगुणता व निर्गुणता सदा रहती है। वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त ज्ञान, बलादि गुणों से सहित होने से सगुण और रूपादि जड़ के तथा द्वेषादि जीव के गुणों के पृथक् होने से निर्गुण कहाता है।"[1] यदि ब्रह्म को नितान्त गुणरहित माना जाय तब उसके विषय में विचारों का उद्गार भी सम्भव नहीं हो सकता और फिर ऐसा ब्रह्म किस प्रकार हमारी उपासना का लक्ष्य हो सकता है ?

स्वामी दमानन्द आचार्य शंकर की दो ब्रह्म की विचारधारा को भी स्वीकार नहीं करते। वह कहते हैं कि ईश्वर ब्रह्म ही का नाम है। जो मायावादी यह कहें कि मायोपाधि से ईश्वर सिद्ध होता है तब दयानन्द आपत्ति उठाते हैं कि माया किसको उपाधिसहित करती है ? क्या ब्रह्म को ? यदि हाँ, तब ब्रह्म माया के प्रभाव में आया कहा जायेगा वह भी अनादि काल से क्योंकि माया भी अनादि है और ब्रह्म भी अनादि। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ब्रह्म अनादि काल से माया के प्रभाव में है। अद्वैत वेदान्ती छः पदार्थों को नित्य मानते हैं (१) जीव (२) ईश्वर (३) ब्रह्म (४) जीव और ईश्वर भेद (५) अविद्या अज्ञान (६) अविद्या और चेतन का योग।[2] इस पर दयानन्द कहते हैं 'अविद्या के योग

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २००

२. जीवेशौ च विशुद्धा चिद्विभेदस्तु तयोर्द्वयोः।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥
(यह श्लोक अच्युत ग्रंथमाला काशी से प्रकाशित 'सिद्धान्त लेश संग्रह' पृ० ६२ पर दिया है)

के बिना जीव और माया के योग के बना ईश्वर तुम्हारे मत में सिद्ध नहीं हो सकता। इससे 'तच्चितोर्योग:' जो छठा पदार्थ तुमने गिना है वह नहीं रहा, क्योंकि वह अविद्या-माया जीव ईश्वर में चरितार्थ हो गया और ब्रह्म तथा माया और अविद्या के योग के बिना ईश्वर नहीं बनता फिर ईश्वर को अविद्या (माया) और ब्रह्म से पृथक गिनना व्यर्थ है। इसलिये दो ही पदार्थ अर्थात् ब्रह्म और अविद्या तुम्हारे मत में सिद्ध होते हैं छः नहीं।"[1] आगे स्वामी दयानन्द कहते हैं कि कारणोपाधिसहित ईश्वर व कार्योपाधिसहित जीव को ब्रह्म से मानना ठीक नहीं क्योंकि इसे मानने से पूर्व ब्रह्म के अनन्त, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव का बाध हो जायेगा और फिर सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ ब्रह्म में अज्ञान मानना पड़ेगा। इसे वेदान्तियों ने माया कह कर टालने की चेष्टा की है। परन्तु यह माया क्या है और किसके आश्रय से रहती है? इत्यादि प्रश्न अन्य विद्वानों की तरह दयानन्द भी उठाते है। नवीन वेदान्ती इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सकते, सिवाय इसके कि वे माया को सत् और असत् एवं अनिर्वचनीय कहकर टाल दें अर्थात् वे माया का कोई सन्तोषजनक उत्तर न दे सके। शंकर मत में माया अज्ञान-अविद्या के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। तब माया को ब्रह्म में या ब्रह्म की शक्ति मानना पड़ेगा, जैसा कि शंकरवादियों ने माना भी है। इससे ब्रह्म के शुद्धत्व व निर्गुणत्व का बाध होता है। कुछ वेदान्ती माया को त्रिगुणात्मक प्रकृति मानते है। ऐसी अवस्था में ब्रह्माद्वैत कैसे सुरक्षित बच सकता, यह समझ में नहीं आता। माया को त्रिगुणात्मक प्रकृति मानकर ब्रह्म व प्रकृति इन दो पदार्थों को अनादि मानना ही पड़ेगा और इस प्रकार शंकर मत की नींव हिल जायेगी।

संसार, संसार की रचना, जीव व कर्म, एवं कर्मफल इन जटिल समस्याओं के कारण ही सम्भवत: शंकराचार्य जी को पारमार्थिक व व्यावहारिक इन दो स्तरों को स्वीकार करना पड़ा। बिना व्यावहारिक स्तर को माने, प्रत्यक्ष द्वारा जाना जाने वाले संसार व संसार के व्यापार का सन्तोषजनक हल नहीं किया जा सकता। लेकिन इनके मत में पारमार्थिक स्तर पर वास्तव में ब्रह्म के अतिरिक्त

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६६

कुछ भी नहीं है। माण्डूक्यकारिकाओं के विद्वान् लेखक एवं शंकर के दादागुरू श्री गौणपाद संसार व संसार की तुच्छता को बतलाते हुए कहते हैं कि 'न संसार की उत्पत्ति है, न निरोध, न कोई बद्ध हैं और न ही कोई मुक्तात्मा ही है।'[१] साधारण बुद्धि को शान्त करने के लिये ही शंकराचार्य पारमार्थिक व व्यावहारिक स्तरों की बात करते हैं। उपासना का केन्द्र यही व्यवहार का ईश्वर है जो सगुण है तथा संसार का निर्माता है। परन्तु जयतीर्थ स्वामी दयानन्द की तरह स्पष्ट कहता है कि "ब्रह्म के दो रूप अप्रमाणिक होने से असिद्ध, हैं।"[२] ब्रह्म-द्वयवाद हमें उपनिषद् व षड्दर्शनों में कहीं भी नहीं मिलता। उपनिषदें भी स्पष्ट कहती हैं 'एकमेवाद्वितीयम्' अर्थात् ब्रह्म दो नहीं हैं (छा१ ६-२-१)। मैक्समूलर भी कहते हैं कि उपनिषद् साहित्य में दो ब्रह्म का सिद्धान्त कहीं भी नहीं मिलता।[३]

शांकर मत में अविद्योपाधि से ब्रह्म जीव होता है। अविद्या में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जीव है। इस पर स्वामी दयानन्द कहते हैं "प्रतिबिम्ब साकार का साकार में होता है। जैसे मुख और दर्पण आकार वाले हैं और पृथक् भी हैं। जो पृथक् न हों तो भी प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता।"[४] जो कहो कि अन्तकरणोपाधि से जीव होता है तो स्वामी दयानद कहते हैं कि अन्तःकरण में प्रकाशित होने वाले ब्रह्म के सर्वज्ञता आदि गुण होने चाहियें, लेकिन जीव अल्पज्ञ होता है इससे यह प्रतीत होता है कि ब्रह्म अविद्यावश अज्ञानी हो जीव हुआ। इससे ब्रह्म की सर्वज्ञता का बाध हो जाता है।" स्वामी दयानन्द की इन युक्तियों में बल है। अद्वैतवाद के आधार पर एक व अनेक का जटिल प्रश्न सुलझाया नहीं जा सकता। इस मत में माया एक पहेली है जिसका कोई हल नहीं, संसार की सत्ता होने पर भी यह भ्रममात्र है और जीवात्मा अज्ञानी ब्रह्म है जो प्रपंचात्मक जगत् में प्रपंचमात्र है।

---

१. गौड़पादीय माण्डूक्य कारिका, २-३२ पर शंकरभाष्य देखिये।

२. देखो जयतीर्थ की 'न्याय सुधा', पृ० १२४।

३. The Vedanta Phil, P. 72, Max Muller, 2nd Reprint Cal-1955.

४. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३८।

रामानुज की आलोचना—आचार्य रामानुज श्री शंकराचार्य के भ्रमवादी अद्वैतवाद के विरुद्ध विशिष्टाद्वैतवाद की विचारधारा प्रस्तुत करते हैं। विशिष्टाद्वैतवाद में ब्रह्म, जीव व प्रकृति का सम्बन्ध शरीरी-शरीर का है। जैसे शरीर और शरीर में रहने वाला आत्मा यह दोनों मिलकर एक ही कहलाते हैं, तथापि पृथक् हैं। जीव विशेषण के रूप में ब्रह्म का ही एक अंश है। यद्यपि जीवात्मा के गुण ईश्वर से पृथक् हैं एवं जीव व ईश्वर दोनों नित्य हैं तथापि जीवात्मा ईश्वर से पृथक् नहीं रह सकता तथा प्रकृति ईश्वर के शरीर के समान है रामानुज के विशिष्टाद्वैत में ईश्वर, जीव, प्रकृति, तीनों अनादि सत्ताएं हैं परन्तु जीव और प्रकृति ईश्वर के शरीररूप में हैं पृथक् नहीं। रामानुजाचार्य का शरीर-शरीरी सम्बन्ध से विशिष्टाद्वैत का सिद्धान्त उपनिषदों में सम्भवतः बृहदारण्यकोपनिषद् की उस श्रुति पर आधारित है जिसमें कहा गया है कि 'आत्मा के अन्दर रहने वाला जिसे आत्मा नहीं जानता तथा आत्मा जिसका शरीर है, वह ब्रह्म है।'[१] दयानन्द के मत में इस मंत्र में आत्मा को ब्रह्म का शरीरवत् केवल उपमा के रूप में कहा है। संसार के समस्त पदार्थों से आत्मा अति सूक्ष्म और ब्रह्म उससे भी सूक्ष्म होने से आत्मा में भी व्यापक है जिसको जीवात्मा नहीं जानता। परन्तु यह आत्मा से भिन्न है और जीवात्मा का ब्रह्म से किसी भी प्रकार का अद्वैत संबंध नहीं है। स्वामी दयानन्द ने रामानुज के मत पर अधिक कुछ नहीं कहा, लेकिन रामानुज के समान इस प्रकार के स्वगत भेद को ब्रह्म में मानना स्वामी दयानन्द को उपयुक्त नहीं लगता। वे सत्यार्थ प्रकाश में कहते हैं "रामानुज का इस अंश में, कि जो विशिष्टाद्वैत जीव और मायासहित परमेश्वर एक है यह तीन का मानना और अद्वैत का कहना सर्वथा व्यर्थ है।"[२] रामानुज ने शंकर के ब्रह्माद्वैतवाद के विरुद्ध विशिष्टाद्वैत स्थापित किया जिसमें ब्रह्म, जीव व प्रकृति नित्य पदार्थ माने हैं परन्तु फिर भी वे अद्वैत का लालच न छोड़ सके और जीव व प्रकृति सहित ब्रह्म का अद्वैत बताकर विशिष्टाद्वैत की

---

१. 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरो यमात्मा न वेद यस्य आत्मा शरीरम्'। बृ० उ०, ३-७-२२ (माध्यन्दिनीय शतपथ ब्राह्मण से)

२. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३१६।

स्थापना की। परन्तु दयानन्द रामानुजाचार्य से भी आगे आकर साहसपूर्वक ईश्वर, जीव व प्रकृति तीनों को नित्य मानते हैं परन्तु रामानुजाचार्य की तरह अंश-अंशी भाव से नहीं, वरन् स्थिति में स्वतन्त्र भाव से। दयानन्द के दर्शन में ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, नियामक है, निर्माता है, कर्मफल प्रदाता है जबकि जीव अल्पज्ञ है, स्वतन्त्र कर्त्ता है तथा कर्मफल का भोक्ता है तथा प्रकृति सत् है, जड़ है तथा भोग्या है। तीनों का अनादि होने से दयानन्द का यह मत भारतीय दर्शन में त्रैतवाद के नाम से जाना जाता है।

———

५

जीवात्मा

(SOUL)



आत्मा की सिद्धि में प्रमाण

स्वामी दयानन्द अन्य वैदिक दर्शनकारों की तरह ही जीवात्मा को नित्य एवं चेतन पदार्थ मानते हैं। शरीर के अतिरिक्त कोई चेतन सत्ता है या नहीं, यह प्रश्न उनके दर्शन में कोई अधिक महत्व का प्रतीत नहीं होता। वेद उनके लिये प्रामाणिक ग्रन्थ हैं और वेदों में यत्र-तत्र शरीर स्थित चेतन तत्त्व का वर्णन जीव एवं आत्मा के रूप में पाया जाता है।[1] यही नहीं, वरन् उपनिषद् और दर्शन साहित्य में आत्मा की सिद्धि के विषय में काफी कुछ कहा जा चुका है। स्वामी जी ने उन सबको फिर से अपने ग्रंथों में लिखना उचित नहीं समझा प्रतीत होता। उपनिषदों में इन्द्र व विरोचन की कथा में गुरु-शिष्य परिसम्वाद में आत्मा की सिद्धि में व्यावहारिक एवं बौद्धिक प्रमाण दिये गये हैं।[2] स्वामी दयानन्द ने इन्हें ज्यों का त्यों मान लिया प्रतीत होता है। इस पर भी जहां कहीं आवश्यकता समझी आत्म तत्त्व को नित्य न मानने वाले सम्प्रदायों के विरुद्ध अपनी पुस्तक सत्यार्थ प्रकाश में युक्ति और प्रमाणों द्वारा चेतन एवं स्थायी जीवात्मा के अस्तित्व को आवश्यक बताया है।

भौतिकवाद की आलोचना—शरीर में स्थित ज्ञान व क्रिया के कर्त्ता के रूप में कोई स्थायी सत्ता है या नहीं ? इस विषय पर जितने भी मत हैं या हो सकते हैं। इनमें अधिभौतिकवादियों (जो भारतवर्ष में चारवाक सम्प्रदाय के

---

१. 'इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे।' अथर्व० १०-८-२६

२. छा० उ०, अ० ८खं० ७ से १२।

नाम से प्रसिद्ध हैं) के कथनानुसार शरीर स्थित चेतन शक्ति प्रकृति के भौतिक पदार्थों के संघातरूप में उत्पन्न हुई। जैसे मद के खाने व पीने से मादकता उत्पन्न होती है उसी प्रकार जीव शरीर के साथ ही उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है।[1] इसमें किसी स्थायी आत्मा के लिये, जो नित्य एवं शाश्वत है, स्थान नहीं है। स्वामी दयानन्द इससे सन्तुष्ट नहीं होते। चारवाकों के विरुद्ध उनका मुख्य तर्क है कि पृथिवी, जल, वायु व अग्नि इन चार भूतों के मिलने से शरीर में 'मद के समान चेतन की उत्पत्ति और विनाश नहीं होता क्योंकि मद चेतन को होता है जड़ को नहीं।'[2] इसमें सन्देह नहीं कि मादक द्रव्य जीवित शरीर को मदोन्मत्त करते हैं अतः इससे यह अनुमान कैसे किया जा सकता है कि भौतिक तत्त्वों के संयोग से जीवात्मा भी इसी प्रकार उत्पन्न हो जायेगा। मादक द्रव्य भी जीवधारियों को ही मदोमन्त्त करता है जीवरहित मृतक को नहीं। फिर यदि तर्क को देखें तो भी भौतिकवाद कोई अच्छा विचार प्रतीत नहीं होता। अभाव से भाव की उत्पत्ति असम्भव है। भौतिक पदार्थों में चेतनत्व का नितान्त अभाव है तब अचेतन से चेतन की उत्पत्ति कहना बुद्धि विरुद्ध है क्योंकि अचेतन में चेतन का सर्वथा अभाव है। और यदि यह कहा जाय कि भौतिक तत्त्वों में चेतनत्व बीजरूप में विद्यमान है जब चारवाक अपने इस कथन से अचेतन भौतिक तत्त्वों को चेतन बना देंगे। तब इस रूप में यह मत भौतिकवादी न होकर चेतनावादी हो जायेगा। इस प्रकार अचेतन से चेतन की उत्पत्ति मानने वाला भौतिकवाद किसी भी रूप में उचित नहीं कहा जा सकता।

प्राणीशास्त्र की समालोचना—आधुनिक युग में इसी को एक और परन्तु सुसंस्कृत व सूक्ष्म आधार पर रखा गया है। यह वैज्ञानिक मत है। इसमें प्राणी के शरीर का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाता है। जिसके आधार पर यह

---

१. 'अत्र चत्वारि भूतानि भूमिर्वार्युरनलोनिला।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥३३॥
किण्वादिभ्यः समेतोभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्।' सर्वदर्शनसंग्रह-चारवाक दर्शन।

२. बृहद् सत्यार्थप्रकाश, पृ० ३७।

कहा जाता है कि प्राणी की समस्त क्रियायें मस्तिष्क द्वारा सम्पादित होती हैं। समस्त शरीर में स्नायुमंडल का जाल बिछा हुआ है। शरीर की प्रत्येक क्रिया का सम्पादन इन्हीं स्नायुओं द्वारा होता है। प्राणीशास्त्री शारीरिक क्रियाओं को, चेतन तत्त्व जीवात्मा द्वारा की हुई नहीं कहता। वास्तव में देखा जाय तो आत्मा पर विचार करना इस शास्त्र का विषय ही नहीं है। इस विज्ञान का कार्य शरीर रचना एवं शरीर की वातावरण के सम्पर्क में की हुई क्रियाओं का अध्ययन करना है। प्राणीशास्त्र के अनुसार जीवन, शरीर व वातावरण के मध्य हुयी क्रिया व प्रतिक्रियामात्र है। परन्तु जीवात्मा क्या है? इसका इस शास्त्र से सम्बन्ध नहीं और नाही यह इस विज्ञान की समस्या है। एक प्रसिद्ध विद्वान के शब्दों में एक प्राणीशास्त्रवेत्ता के लिए शरीर व शारीरिक क्रियायें वास्तविक हैं और जीवन तत्त्वतः क्या है यह वह नहीं जानता।[1] यहाँ तक तो स्वामी दयानन्द तो क्या अन्य किसी भी दार्शनिक का इनसे कोई मतभेद नहीं हो सकता। दर्शनशास्त्री जीवन की वास्तविकता ही नहीं वरन् उस शक्ति की भी खोज करता है जो कि जीवन का आधार है। लेकिन यदि हम मनोवैज्ञानिकों की तरह आत्मा व चेतन शक्ति को ही समाप्त कर दें और उसके बचाव में प्राणीशास्त्र को लायें कि मस्तिष्क ही चेतना का उद्गम है तथा यह मानें कि यही स्नायुमण्डल के द्वारा शारीरिक क्रियाओं का कर्त्ता है, तब दर्शन व मनोविज्ञान में संघर्ष का प्रश्न खड़ा हो जायेगा। वुंड ने यद्यपि आत्मा की सत्ता तो नहीं मानी परन्तु तो भी वह चेतना को मानते थे और अन्तःदर्शन (Introspection) में विश्वास करते थे। उनके काल में मनोविज्ञान चेतना के विज्ञान के रूप में था। लेकिन वाटसन ने किसी भी अमूर्त एवं अग्राह्य तत्त्व को मानने से इंकार कर दिया।

---

१. 'To the biologist the actualities are organisms and their doings and life is a generalized concept denoting their peculiar quality. What life in essence or principle is, he dose not know."

(Encyclopedia of Religion and Ethics, Page 8. Vol, VIII, edited by James Hastings 1915.)

इनके विचार से मनोविज्ञान में चेतना शब्द का प्रयोग मध्यकालीन दर्शन के आत्मा की ही पुनः उक्तिमात्र है। व्यवहारवाद के अनुसार प्राणी का समस्त व्यवहार उत्तेजना-प्रतिक्रिया (stimulus-response) के सिद्धान्त से समझा जा सकता है अतः आत्मा या किसी चेतन तत्त्व के मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

स्वामी शंकराचार्य जी हमें. यह जानने के लिए कि शरीर स्थित चेतन आत्मा है या नहीं एक कसौटी देते हैं। वह कहते कि यदि किसी जीवधारी में ये तीन गुण 'करे, न करे अथवा उल्टा न करे' (कर्तुं, अकर्तुं एवं अन्यथा कर्तुं)[1] मिलें तो समझना चाहिए कि इसमें आत्मा है। वातावरण से प्राप्त होने वाले उत्तेजकों के प्रत्युत्तर में शरीर तुरन्त प्रतिक्रिया करता है। लेकिन मुझे काई उत्तेजक प्राप्त हो तो व्यवहारवाद के अनुसार मेरे शरीर को उसके प्रति एक निश्चित प्रतिक्रिया करनी ही पड़ेगी। परन्तु दूसरी तरफ हम देखते है कि यहं मेरी इच्छा है कि मैं किसी व्यक्ति द्वारा अपने मुख पर मारे गये चपत की प्रतिक्रिया स्वरूप उसको चपत मारूं या न मारूं अथवा इसके लिये उसे पुरस्कृत करूं। तात्पर्य यह है कि मनुष्य किसी उत्तेजक के प्रत्युत्तर में किसी निश्चित प्रतिक्रिया से बंधा नहीं है वरन् अनेक प्रकार की प्रतिक्रिया को करने में स्वतन्त्र है। यहां पर व्यवहारवाद खरा नहीं उतरता। व्यवहारवाद मानवीय क्रियाओं को यंत्रवत् बना देता है जिसमें कर्त्ता की स्वतन्त्र इच्छा का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु शंकराचार्य ने जो हमें कसोटी दी है उसमें कर्म-स्वतन्त्रता के लिये काफी गुंजाईश है और फिर यह भी एक सत्य है कि कर्म अपने आप में कर्म चेतना पैदा नहीं कर सकते। प्रो० मलकानी का कथन है कि प्राणी की बौद्धिक प्रतिक्रियायें किसी उस जड़ पदार्थ का गुण नहीं हो सकतीं जो शरीर में स्नायुमण्डल को बनाता है।[2]

उपरोक्त विवेचन से यह पता चलता है कि भौतिक पदार्थ से पृथक चेतन

---

१. देखिये शंकरभाष्य, वेदान्त, १–१–४ पर।

२. "The intelligent response cannot be a quality of the matter which constitute the nervous system." Comperative Study of Consciousness, in 'Radhakrishnan' by Several contributors, London, 1951, Page 233, published in 1951.

तत्त्व को स्वीकार किये बिना मानवीय क्रियाओं को बौद्धिक रूप से नहीं समझाया जा सकता। अचेतन से चेतन की उत्पत्ति नितान्त असम्भव है। जड़ पदार्थ कर्मों का प्रकाशक नहीं हो सकता वरन् इसको प्रकाशित करने के लिये प्रकाश की आवश्यकता है जिसके बिना शरीर की क्रियायें सम्भव नहीं है। कुछ प्राणीशास्त्री भी अब यह स्वीकार करने लगे हैं कि यह आत्मा (life) न तो जड़ द्रव्य या शक्ति से पैदा हुई है और न ही बढ़ती हुई विविध मानसिक जटिलताओं से उत्पन्न हुई है, यह तो किसी अन्य सत्ता का अवतरण है जिसके कि परमाणु व उनकी क्रियायें एक रूपमात्र हैं।"[1] यद्यपि इस कथन में हमें अद्वैतवाद की झलक मिलती है परन्तु इसमें यह निर्विवाद है कि शरीर में कोई चेतन सत्ता है जो शरीर से उत्पन्न नहीं होती।

स्वामी दयानन्द शरीर से पृथक आत्मा की सत्ता को एक शाश्वत सत्य के रूप में मानते हैं। वे भौतिकवादियों के अनात्मवाद को नहीं मानते। परन्तु दूसरी तरफ इस उद्धरण के अन्तिम अंश कि 'जीवात्मा किसी ऐसी शक्ति का अवतरणमात्र है जिसका दूसरा रूप जड़ जगत् है", को भी स्वामी दयानन्द स्वीकार नहीं करेंगे। वे ब्रह्मवादी की तरह जीव को ब्रह्म का अविद्यात्मक रूप भी नहीं मानते। स्वामी दयानन्द के विचार से जीवात्मा का क्या स्वरूप है इस विषय पर आगे विचार किया जायेगा।

जीवात्मा का स्वरूप

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानाः सरूपाः।
अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥
(श्वेत० उ० ४–५)

---

१. "It is neither a product of matter and energy nor an outcome of the increasing complexities of constillations, it is an expression of the reality of which atoms and their movements are also but conceptual aspects.' (Encyclopdedia of Religion and Ethics, p. 8, vol. VIII, Edited by James Hastings—1915).

"प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों अज अर्थात् जिसका कभी जन्म नहीं होता और न कभी ये जन्म लेते अर्थात् ये तीनों सब जगत् के कारण हैं। इनका कारण कोई नहीं। इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फंसता है और उसमें परमात्मा न फंसता है और न उसका भोग करता है।"[1]

जीवात्मा अनादि है—इस उपनिषद् मन्त्र के हवाले से स्वामी दयानन्द जिन तीन अनादि पदार्थों को मानते हैं उनमें एक जीव भी है। जीवात्मा स्वरूप से नित्य है। इसकी उत्पत्ति न तो प्रकृति के तत्वों से हुई है जैसा कि प्रकृतिवादी कहते हैं और न ही ब्रह्म से जैसा कि अद्वैत वेदान्तियों का कहना है।[2] जिस प्रकार ईश्वर का कोई कारण नहीं उसी प्रकार जीव का भी कोई कारण नहीं है। नित्य पदार्थ अमर होता है यह तर्क का नियम है। जिस वस्तु का कभी निर्माण नहीं हुआ वह कभी विनष्ट भी नहीं होगी। स्वामी दयानन्द जीव को नित्य के साथ अमर मानते हैं। शरीर के नष्ट होने के जीव नष्ट नहीं होता वरन् दूसरे शरीर में चला जाता है। ईसाई विचारक संत थोमस एक्विनास ने ईसाई धर्म के अनुसार जीवात्मा को अमर तो माना है परन्तु नित्य नहीं माना। ईश्वर जन्म के समय प्रत्येक प्राणी के लिये नये जीवात्मा की उत्पत्ति करता है।[3] डेकार्ट पर भी इनका प्रभाव मालूम देता है यद्यपि डेकार्ट ने ईश्वर, जीव व प्रकृति को पृथक-पृथक माना है परन्तु उनका मत है कि जीव व प्रकृति ईश्वर ने बनाये हैं और यदि ईश्वर चाहे तो उन्हें नष्ट भी कर सकता है।[4] इसका तात्पर्य है कि परमात्म

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ २१०

२. **'ईश्वर नाम ब्रह्म का और ब्रह्म से भिन्न अनादि, अनुत्पन्न और अमृत-रूप जीव का नाम जीव है। सत्यार्थप्रकाश, पृ० १९७**

३. "The soul is not transmitted with the semen but is created afresh with each man." Russell, B., History of Western Philosophy, p- 480. London—1947.

४. "Descartes admitted three substances, God and mind and matter, it is true that even for him God was in a sense more substantial than mind and matter, since he had created them, and could if He chose annihilate them." Ibid p. 594.

ही एक तत्त्व है, जो सत्य है । जीव व जड़ पदार्थ उसकी कृतिमात्र हैं। थोमस एक्विनास की जीव की अमरता की धारणा डेकार्ट ने स्वीकार की लेकिन जीवात्मा अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर की कृपा पर आश्रित हो गया । इसी को स्पीनोजा ने एक दूसरे रूप में कहा है कि जीवात्मा व द्रव्य ईश्वर के अनेक रूप व गुणों में दो रूप हैं जिनके द्वारा वह संसार में प्रसिद्ध होता है । स्पीनोजा के मत में जीवात्मा के अनादि परमात्मा का रूप होने से उसके नित्यत्व व अमरत्व का प्रश्न ही बेहूदा है, ईश्वर ही नित्य है वही अनादि है । नैतिक जीवन का आधार आत्मा को अमर माने बिना नहीं चल सकता ! कान्ट ने नैतिक आधार की आवश्यकता के लिए आत्मा की अमरता पर बल दिया है । कान्ट जीवात्मा को 'प्रत्यक्षों की एकता के आध्यात्मिक नियम' के रूप में स्वीकार करते हैं । जब वे इस जन्म, से दुख-सुखों के आधार पर पूर्वजन्म को मानते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि वे। आत्मा को नित्य मानते हैं क्योंकि पूर्वजन्म के आधार पर इससे भी पूर्व का जन्म और उसके आधार पर अन्य पूर्वजन्म, इस प्रकार आत्मा के अनेक जन्म माने जा सकते हैं और फिर जीवात्मा को नित्य माना जा सकता है । लेकिन कान्ट इस पर स्पष्ट नहीं है । परमात्मा ने आदम को बनाया और उसके नथुने में जीवन का सांस फूंका, बाईबिल का यह कथन कान्ट को छोड़कर उपरोक्त वर्णित' दार्शनिकों के दर्शन में दिखाई पड़ता है। कुरान बाईबिल से कुछ भिन्न कहता है । कुरान कहता है कि परमात्मा ने आदम के नथुने में जीवन फूंका और वह आगे आने वाले सब प्राणियों का जीवन था। इस्लाम धर्म में जीवात्मा एक बार बना दिया गया और जिस प्रकार एक दीपक की लौ से अनेक दीपक जलाये जा सकते हैं उसी प्रकार चेतना का एक भाग माता-पिता से बच्चों में आ जाता है। इनके अनुसार जीव एक बार उत्पन्न होने के बाद समाप्त नहीं होता वरन् इस जीवन तथा इस जीवन के बाद न्याय के दिन तक कब्र में रहता है और बाद में कर्मों के अनुसार फल भोगने के लिये नरक अथवा स्वर्ग में हमेशा-हमेशा के लिये चला जाता है। परन्तु यहां हम पूछ सकते हैं कि दीपक के बुझ जाने पर जिस प्रकार लौ का अन्त हो जाता है, क्या उसी प्रकार मृत्यु से पश्चात् चेतना का अन्त नहीं हो जायेगा ?

जीवात्मा को अमर, परन्तु निर्मित मानना तर्क के विरुद्ध है क्योंकि जो बना

है उसका नाश अवश्य होगा। साथ ही यह प्रश्न उठता है कि ईश्वर ने जीवात्मा को किस वस्तु से बनाया ? यदि कहो कि जड़ पदार्थ से तो सम्भव नहीं क्योंकि जड़ में चेतना के न होने से जीव नहीं बन सकता। यदि यह कहें कि परमात्मा ने अपने में से बनाया तब क्या परमात्मा अवयवी है जो अपने में से बनायेगा और यदि कहो कि स्वयं जीवरूप से विभाजित हो गया तब परमात्मा विकारी हो जायेगा। इसके अलावा इसमें सबसे जटिल प्रश्न यह उठता है कि उसे क्या आवश्यकता थी जो जीवरूप होकर अज्ञान के बन्धन में आया। जीवात्मा का निर्माण मानना कोई अच्छा सिद्धान्त प्रतीत नहीं होता।

स्वामी दयानन्द जीवात्मा को न तो ईसाई, मुस्लिम, व कतिपय विचारकों के अनुसार निर्मित मानते हैं और न ही शंकराचार्य के अद्वैत-वेदान्तानुकूल जीव की अविद्या से उत्पत्ति ही मानते हैं। अद्वैतवाद के विरुद्ध स्वामी जी का मुख्य तर्क है कि ब्रह्म शुद्ध चेतन एवं ज्ञान हैं। फिर अनन्त सामर्थ्य व ज्ञानयुक्त शक्ति को अविद्या क्योंकर आवरण में ला सकती है। क्यों सच्चिदानन्द ब्रह्म अविद्या-रूप होकर सुख, दुख एवं जन्म-मरण के चक्र में पड़ेगा ? स्वामी दयानन्द माया-वादियों से पूछते हैं कि अविद्या के आवरण में आकर क्या ब्रह्म का शुद्धत्व निष्क-लंक रह सकेगा ? अद्वैतवाद में जीव की अविद्या से उत्पत्ति मानी गयी है जिसे एक भ्रममात्र कहा गया है। गौणपादाचार्य, माण्डूक्योपनिषद पर लिखी अपनी कारिकाओं में कहते हैं 'न निरोध है, और न उत्पत्ति है न कोई बद्ध है और न कोई साधक, न कोई मोक्ष की कामना वाला है और न कोई मुक्त, यह परमार्थ सत्य है।"[1] इस पर शंकराचार्य अपने भाष्य में कारिकाओं से सहमति रखते हुए जीव की उत्पत्ति को भी भ्रममात्र कहते हैं। स्वामी दयानन्द जीव की सत्ता को सत् मानते हैं। भ्रमवाद उनको सन्तुष्ट नहीं कर सकता। क्योंकि यह वाद साध्य-साधक, भोग्य-भोक्ता, उपास्य-उपासक, ज्ञाता-ज्ञेय में किसी को भी स्थिर नहीं रख सकेगा। जब साध्य-साधक, भोग्य-भोक्ता, उपास्य-उपासक एवं ज्ञाता-ज्ञेय एक ही हो जायेंगे, तब कौन किसके लिये साधन करे, कौन किसे भोगे, कौन किसकी उपासना करे, एवं कौन किसे जाने ? व्यावहारिक जीवन की स्थिति

१. माण्डूक्यकारिका, दै० प्र० ३२; गौपादाचार्य।

भ्रमवत् होने से महत्वहीन हो जाती है। निःसंदेह यह विचारधारा ज्ञान व व्यवहार में सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकती। दर्शन साधारण बुद्धि के लिये व्यर्थ हो जाता है। स्वामी दमानन्द जीव का अस्तित्व पृथक परन्तु अनादि एवं शाश्वत आधार पर रखते हैं। इस मत में जीव मुक्तावस्था में ब्रह्म में लीन नहीं होता वरन् मोक्ष में ब्रह्म के आनन्द को भोगता है।

जीवात्मा के लक्षण — न्याय सूत्र के हवाले से स्वामी दयानन्द जीवात्मा के लक्षण इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, दुख, सुख एवं ज्ञान के रूप में करते हैं जीवात्मा के गुण, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि हैं। शरीर तो जड़ है इससे इसमें क्रिया का अभाव सिद्ध होता है क्योंकि जड़ में इच्छा व ज्ञानादि नहीं होते अतः शरीर का स्वामी, शरीर के अन्दर रहने वाला जीव ही है।[1]

न्याय शास्त्र ने इच्छा, द्वेष आदि को आत्मा का लिंग माना है।[2] लिंग से तात्पर्य चिन्ह से भी हो सकता है जो किसी गुणी का गुण है। यद्यपि साधारण रूप में लिंगी एवं गुण-गुणी का एक ही अर्थ मालूम होता है। परन्तु इनमें किंचित भेद भी है। प्रथम रूप में लिंग का अर्थ है चिन्ह तथा लिंगी उसे कहते हैं जिसके चिन्ह हों। गुण से तात्पर्य है वस्तु के धर्म और गुणी से तात्पर्य उस पदार्थ से है जिसमें गुण हों। न्याय दर्शन ने इस सूत्र को दोनों ही रूपों में प्रयोग किया है। शरीर में चेतन आत्मा है क्योकि प्राणी इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुख एवं ज्ञानपूर्वक देखे जाते हैं जबकि इनमें से एक भी प्रकृति का गुण नहीं है अतः ये प्रकृति से भिन्न आत्मा के लिंग हैं अर्थात् इनसे यह जाना जाता है कि शरीर में चेतन आत्मा शरीर से पृथक है। परन्तु साथ ही नैयायिक यह भी कहते हैं कि ये पार्थिव शरीर के धर्म नहीं है। पार्थिव शरीर के धर्म न रहने पर ये आत्मा के स्वाभाविक गुण ही ठहरते हैं। अर्थात् आत्मा इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि गुण युक्त है। स्वामी दयानन्द ने नैयायिकों की भांति इस सूत्र में वर्णित आत्मा के लिगों को शरीर स्थित आत्मा की सिद्धि में प्रमाण एवं आत्मा के स्वाभाविक गुण दोनों ही रूप में स्वीकार किया है।

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ०–१९१ (१८९

२. न्यायसूत्र १–१–१० इस, पर देखिये वात्स्यायन भाष्य एवं न्यायवर्तिका

स्वामी दयानन्द के अनुयायी स्वामी दर्शनानन्द ने इनको दो भागों में (१) इच्छा, ज्ञान व प्रयत्न एवं (२) सुख, दुख एवं द्वेष में विभाजित किया है। आपका कहना है कि सुख, दुख एवं द्वेष आत्मा के स्वाभाविक गुण नहीं हो सकते, वरन् नैमित्तिक हैं जो कि शरीर से संबंध होने पर ही आत्मा में उदित होते हैं। इच्छा, प्रयत्न एवं ज्ञान ये आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। स्वामी दयानन्द ने न्याय द्वारा बताये गये आत्मा के गुणों को इस प्रकार विभाजित नहीं किया। स्वामी जी ने इस भेद पर ध्यान नहीं दिया। लेकिन इस भेद से स्वामी दयानन्द का कोई मतभेद नहीं है क्योंकि जहां कहीं भी दयानन्द मुक्तात्मा के स्वरूप का लक्षण करते हैं उसमें नैमित्तिक गुणों का वर्णन नहीं पाया जाता। स्वामी दयानन्द जीव का स्वरूप ज्ञानमय बताते हैं परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जीवात्मा परमात्मा के समान ही ज्ञानमय है वरन् जीव का स्वाभाविक ज्ञान उसकी जानने की शक्ति है। बिना ज्ञान शक्ति के पदार्थों का ज्ञान असम्भव है।[1] दूसरे प्रकार के ज्ञान को नैमित्तिक ज्ञान कहा गया है जीवात्मा की अपनी स्वाभाविक ज्ञान शक्ति जीवात्मा का गुण है परन्तु नैमित्तिक ज्ञान स्वाभाविक ज्ञान शक्ति द्वारा संसार में अर्जित ज्ञान है।

जीवात्मा अल्पज्ञ है—जीवात्मा स्वभाव से अल्पज्ञ है।[2] स्वामी दयानन्द यहां पर अविद्या की कठिन समस्या को अत्यन्त सरल ढंग से हल कर देते हैं। अविद्या क्या है? यह प्रश्न दर्शन में अत्यन्त जटिल है, जिसे आचार्य शंकर भी सरल नहीं कर पाये। अविद्या को विश्वशक्ति मानना निर्भ्रम नहीं कहा जा सकता। क्योंकि शक्ति किसी शक्तिमान की होती है, विश्वशक्ति को धारण करने की क्षमता विश्वात्मा में ही हो सकती है और वह ईश्वर ही हो सकता है। अद्वैत मत में यह केन्द्रीय त्रुटि है कि वे अद्वैतवाद को बनाये रखने के लिए माया को, जो कि अविद्या ही है, विश्व निर्मात्री शक्ति का रूप दे देते हैं। दूसरी तरफ यदि

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १९१ व ४००।

२. 'क्योंकि जीव का परम अवधि तक ज्ञान बढ़े तो भी परिमित ज्ञान और सामर्थ्य वाला होता है। अनन्त ज्ञान और सामर्थ्य वाला नहीं हो सकता'। सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २२१।

मायावाद को न माना जाय तब प्रश्न उठता है कि अनादि जीवात्मा सुख-दुख व जन्म-मरण के चक्र में क्यों आता है? इस पर स्वामी दयानन्द का कथन है कि जीव स्वरूप से अल्पज्ञ है अर्थात् वह अल्पज्ञानी है परमात्मा के समान अनन्त ज्ञानी नहीं। अल्पज्ञता अपने में अज्ञान को रखती है, यही अज्ञान की अवस्था जीवात्मा को संसार की अपनी व परम सत्ता की वास्तविक अवस्था को समझने में बाधक है।[1] इस कारण वह अपवित्रता में पवित्रता, दुख में सुख, अनात्मा में आत्मा व अनित्य में नित्य को समझ जन्म-मरण के चक्र में आता है।[2]

जीवात्मा व मन का सम्बन्ध--जीवात्मा शरीर में आकर सारे व्यापार मन के द्वारा करता है। स्वामी दयानन्द के मतानुसार मन प्रकृति का विकार है। यहां पर भी दयानन्द सांख्य सिद्धान्त से पूर्ण सहमति रखते हैं। वह कहते हैं कि प्रकृति का प्रथम विकार महत्तत्त्व बुद्धि, उससे अंहकार, उससे पांच तन्मात्रा सूक्ष्मभूत और दस इन्द्रियाँ तथा ग्यारहवां मन उत्पन्न हुआ।[3] शुद्ध सतोगुण से उत्पन्न होने से मन में ज्ञान प्राप्त करने व धारण करने की शक्ति होती है। जीवात्मा के सम्पर्क में आने से मन चेतनवत् प्रतीत होने लगता है। इससे अनेक विद्वान् जीव व मन में भेद नहीं कर पाते। विशेषरूप से पश्चिमी दार्शनिकों के दर्शन में मन व जीवात्मा में कोई भेद नहीं किया गया है। वैदिक दार्शनिक मन को ज्ञान प्राप्ति व धारण करने का साधन मानते हैं। जीवात्मा मन की सहायता से शरीर के समस्त कार्यों को करता है। जीवात्मा को बाह्य संसार का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा मन से होता है। विषय का इन्द्रियों से और इन्द्रियों का मन से तथा मन का आत्मा से सम्पर्क होने पर ही जीवात्मा विषय का ज्ञान करता है।[4] जीव को सुख-दुख की अनुभूति भी मन के द्वारा ही होती है। यह

१. 'जीव का स्वरूप अल्प होने से आवरण में आता, शरीर के साथ प्रगट होने रूप जन्म लेता पापरूप कर्मों के फल भोगरूप बन्धन में फंसता उसको छुड़ाने का साधन करता दुख से छूटने की इच्छा करता······?" वही, पृ० २३७।

२. वही, पृ० २३६

३. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २१०

४. वही, पृ० २४९

मन जीवात्मा के साथ इस शरीर से दूसरे शरीर में पुनर्जन्म में भी जाता है अर्थात् मोक्ष प्राप्ति से पूर्व मन आत्मा के साथ बराबर बना रहता है।

जीवात्मा शरीर में रहता हुआ मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार–जोकि अन्तः करण चतुष्टय कहलाता है—के द्वारा शरीर को क्रियाशील रखता है। स्वामी दयानन्द के दर्शन में मन, बुद्धि एवं इन्द्रियें भोग एवं मोक्ष की प्राप्ति में साधन हैं। जैसा कि उपनिषद् भी कहता है 'आत्मा इस देह रूपी रथ में रथी है, बुद्धि सारथि है, मन लगाम एवं इन्द्रियें घोड़े हैं। विषय मार्ग हैं विद्वान शरीर व मन सहित आत्मा को भोक्ता कहते हैं।"[1] साथ ही उपनिषद् कहता है कि जो पुरुष विज्ञानरूप सुसंस्कृत बुद्धिरूप सारथि वाला एवं सुसंस्कृत मनः रथी रास वाला है वह ब्रह्म के सर्वोपरि स्थान को प्राप्त हो जाता है।[2]

जीवात्मा का अणु परिमाण (जैन मत की आलोचना)–दयानन्द जीव का परिमाण अणु मानते हैं।[3] दार्शनिक साहित्य में जीव के परिमाण के विषय में तीन धारणायें प्रचलित हैं, विभु, मध्यम व अणु। जीव को विभु कहने का तात्पर्य है कि जीवात्मा आकाश के समान सर्वत्र ओत-प्रोत है। इस मत में अनेक कमियां हैं। जैसे जीवात्मा को विभु मानने का तात्पर्य होगा कि एक आत्मा सर्वत्र वर्तमान होने से सब शरीरों में वर्तमान होगा। तब तो उसे दूसरे जीवों के सुख-दुखों व क्रियाओं का ज्ञान होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता, अतः जीवात्मा विभु नहीं हो सकता। दूसरे मध्यम परिमाण उसे कहते हैं कि जीवात्मा सारे शरीर में फैला हुआ है। **यह जैनियों का मत है**। वह जिस शरीर में भी जाता है उसी का आकार ग्रहण कर लेता है अर्थात् जीवात्मा का आकार चींटी के शरीर में चींटी जैसा होगा तथा जब चींटी के शरीर से मनुष्य शरीर में आयेगा तो मनुष्य जितना

---

१. कठोपनिषद् ३–४ व ५
२. वही, ३-१।
३. 'प्रश्न-जीव शरीर में भिन्न विभु है या परिच्छिन्न ? उत्तर (स्वामी दयानन्द) परिच्छिन्न, जो विभु होता तो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मरण, जन्म, संयोग, वियोग, जाना-आना कभी, नहीं हो सकता। इसलिये जीव का स्वरूप अल्पज्ञ, अल्प अर्थात् सूक्ष्म है।' सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १९२।

होगा। और मनुष्य शरीर में जन्मावस्था में छोटा होगा तथा जैसे-जैसे शरीर की वृद्धि होगी वैसे-वैसे जीवात्मा भी शरीर में फैलता जायेगा।[१] इससे जीवात्मा अवयवी हो जायेगा क्योंकि निरवयवी पदार्थ का शरीरों के अनुसार घटना-बढ़ना नहीं होता। यदि जीवात्मा को सावयव माना जाये तब अवयवों के संयोग-वियोग के कारण जीव विकारी हो जायेगा, क्योंकि उसका घटना व बढ़ना बिना अवयवों के मिलने व बिछुड़ने के सम्भव नहीं हो सकता। इससे जैन मतमें जीवात्मा विकारी अर्थात् उत्पत्ति व नाश वाला हो जायेगा अतः नित्य व अमर नहीं रहेगा। जीव के परिमाण के सम्बन्ध में तीसरा मत अणु परिमाण का है। इसके अनुसार जीवात्मा परमाणु के समान सूक्ष्म है। जो सूक्ष्म जीवों से लेकर स्थूल से स्थूल प्राणियों के शरीरों में बिना विकार को प्राप्त हुये आ व जा सकता है। यह दयानन्द का मत है। उनके अनुसार अणु जीवात्मा शरीर में रहकर सारे शरीर का नियन्त्रण मनादि के द्वारा करता है।[२] स्वामी शंकराचार्य जी भी जीवात्मा का अणुरूप ही मानते थे परन्तु अनन्त, विभु ब्रह्म को उपाधि भेद से।[३] रामानुज के मत में भी जीवात्मा अणु है परन्तु ईश्वर के शरीरवत् है अर्थात् ईश्वर से अलग उसका कोई अस्तित्व नहीं है। लेकिन दयानन्द जीवात्मा के अस्तित्व में ईश्वर की दुहाई नहीं देते। उनके अनुसार तो जीव अणुरूप ब्रह्म से पृथक् नित्य है। हमारे विचार से स्वामी दयामी दयानन्द की यह धारणा उपनिषदों में भी पाई जाती है।

जीवात्मा संख्या में अनेक हैं—संसार में शरीरों की भिन्नता, भिन्न-भिन्न शरीरों में भी कर्म व भोग का अन्तर, इस पर बल देता है कि पृथक्-पृथक् शरीर में पृथक्-पृथक् जीव होने चाहियें। **स्वामी दयानन्द जीवात्माओं को संख्या में अनेक कहते हैं।** न्याय, वैशेषिक व सांख्य दर्शन भी जीवों को अनेक ही

---

१. स० प्रकाश, पृ० ४५३।

२. (i) 'ऐषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो'। मु० उ, ३-१-९।
   (ii) वे० सू०, २-३-४९।

३. 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः सविज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते'।। श्वेत० उ० ५-९, देखिये इस पर शाँकर भाष्य।

मानते हैं।[१] स्वामी दयानन्द मध्व के इस मत को नहीं मानते कि जीव संख्या में अनन्त हैं।

यदि जीवात्माओं को संख्या में अनन्त माना जाये तब उनके कर्मफल व जन्म की व्यवस्था न हो सकेगी क्योंकि अनन्त जीवों के अनन्त कर्मों के अनन्त फलों की व्यवस्था कौन कर सकेगा। इसी से सांख्य व वैशेषिक मतों में कहा गया है कि जन्मादि की व्यवस्था पाये जाने से जीवात्मा अनेक हैं।

सब जीवात्मा समान हैं—सेन्ट थोमस एक्वीनास पशुओं की आत्मा को अमर नहीं मानते, उनके मत में केवल मनुष्यों की जीवात्मा अमर है।[२] देकर्त ने इसी विचार को बाद में अपनाया। लेकिन जीव को अजीव से पृथक करने वाला मुख्य तत्त्व तो चेतना है। चेतना मनुष्यों के समान पशुओं में भी समान रूप से देखी जाती है। स्वामी दयानन्द पशु व मनुष्य एवं पेड़-पौधों में भी एक ही प्रकार का जीवात्मा मानते हैं। एक ही जीवात्मा, कर्म के आधार पर मनुष्य, पशु व पेड़-पौधों में जा सकता है। वृक्षों में जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में, पशुओं में भोग योनि एवं मनुष्यों में भोग व कर्म योनि में रहता है।

मध्व व बल्लभ ने जीवों के तीन विभाग किये हैं। मध्व कहते हैं कि जीवात्माएं मुक्तयोग्यः, नित्य संसारी, तमोयोग्यः तीन प्रकार की होती हैं। इनमें मुक्तयोग्यः मुक्ति के योग्य होती हैं इनमें देव-ऋषि-पितृ-चक्रवर्ति व उत्तम पांच प्रकार की होती हैं। दूसरी नित्य संसारी हैं। इन्हें कभी मुक्ति प्राप्त नहीं होती। ये जन्म-मरण के चक्र में एवं स्वर्ग-नरक के भोग तक रहती हैं। लेकिन तीसरे

---

१. (i) **"और जो मुक्ति में से कोई भी लौटकर जीव इस संसार में न आवे तो संसार का उच्छेद अर्थात् जीव निश्शेष हो जाने चाहिये।" सत्यार्थप्रकाश, पृ० २४६।**

(ii) **"जन्मादिव्यवस्थातः पुरुष बहुत्वम्।" सांख्य सूत्र, १–१४९।**

(iii) **"व्यवस्थातो नाना।" वैशेषिक सूत्र, ३–२–३०॥**

२. "The Souls of animals, unlike those of man, are not immortal." A History of Western Philosophy by B. Russell, P. 480.

प्रकार की जीवात्माएँ राक्षसों की होती हैं, ये दैत्य राक्षस पिशाच व अधर्म चार प्रकार की होती हैं। इन जीवात्माओं में मोक्ष की अधिकारी केवल प्रथम प्रकार की आत्माएं हैं।[१] जीवों का यह विभागीकरण सत्व, रज, तम के आधार पर मालूम देता है। सात्विक जीव मुक्त हैं, राजसिक स्वर्ग-नरक व जन्म-मरण के चक्र में हैं एवं तामसिक जीव सदैव बन्धन में रहते हैं। लेकिन स्वामी दयानन्द ऐसे किसी विभाग को नहीं मानते। वे जीवात्माओं को फिर चाहे वह पशु की हों या मनुष्य की, समान बताते हैं। वे कहते हैं सारे जीव एक समान हैं परन्तु पाप-पुण्य के योग से मलिन और पवित्र हो जाते हैं।"[२] और इस प्रश्न के उत्तर में कि "मनुष्य का जीव पश्वादि के शरीर में एवं पश्वादि का मनुष्य के शरीर में और स्त्री का पुरुष के और पुरुष का स्त्री के शरीर में आता जाता है या नहीं ?" स्वामी जी कहते हैं "हां जाता आता है।"[3] इस प्रकार दयानन्द जैन-दर्शन के इस मत का भी खण्डन कर देते हैं कि स्त्रियों को मोक्ष का अधिकार नहीं है। दयानन्द के अनुसार जैसा जिस जीव का कर्म होता है वैसा ही उसे शरीर प्राप्त होता है।

जीवात्मा कर्त्ता व भोक्ता है—अन्य वैदिक दार्शनिकों की भांति स्वामी दयानन्द भी कर्म व कर्मफल को स्वीकार करते हैं। परन्तु स्वामी जी के दर्शन की यह एक विशेषता है कि वे जीवात्मा को न स्वभाव से मुक्त मानते हैं और न बद्ध। क्योंकि जो जीव स्वभाव से बद्ध हो तो मोक्ष नहीं हो सकता और जो स्वभाव से मुक्त हो तो बन्धन में नहीं आ सकता।[४] सांख्य दर्शन पुरुष को असंग एवं अकर्त्ता कहता है, न्याय दर्शन आत्मा को कर्त्ता-भोक्ता कहता है, वेदान्त भी

---

१. A History of Indian Philosophy, Vol. IV, P, 155-156; S. N. Dass Gupta.

२. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २५५।

३. वही, पृ० २८५।

४. '(प्रश्न)—बन्ध या मोक्ष स्वभाव से होता है या निमित्त से ?
(स्वामी दयानन्द) निमित्त से, क्योंकि जो स्वभाव से होता तो बन्ध और मुक्ति की निवृत्ति कभी न होती।' वही पृ० २३७।

जीव को स्वतन्त्र कर्त्ता मानता है। सांख्य दर्शन कर्म व कर्मफल को तो स्वीकार करता है परन्तु पुरुष को कर्त्ता नहीं कहता।[1] कतिपय विद्वानों का विचार है कि सांख्यों में अहंकार अर्थात् अन्तःकरण से सम्बन्धित पुरुष कर्त्ता है स्वरूप से नहीं। स्वामी जी का दर्शन यहां पर विद्वानों द्वारा प्रतिपादित सांख्यों के इस मत को नहीं मानता। वह न्याय-वेदान्त की तरह जीवात्मा को स्वतन्त्र कर्त्ता मानते हैं, अन्यथा जीव को स्वतन्त्र कर्त्ता न मानने पर कर्मफल का सिद्धान्त नष्ट हो जायेगा।[2]

जीवात्मा स्वतन्त्र कर्त्ता है, संसार में आकर यह केवल परमात्मा के हाथ की कठपुतली नहीं है। यदि जीवात्मा का स्वतन्त्र कर्तृत्व न माना जाय तब उसको भोक्तृत्व भी नहीं होगा। यदि सब कर्म परमात्मा की इच्छा से जीवात्मा करे तब जीवात्मा के अकर्त्ता होने से संसार में पाप-पुण्य की व्यवस्था भी नहीं रहेगी। स्वामी जी के दर्शन में जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है परन्तु किये कर्मों का फल भोगने में ईश्वर पर आश्रित है अर्थात् परतन्त्र है। हमारा जितना स्वतन्त्र कर्म का क्षेत्र है उतना ही हम स्वतन्त्र रूपेण कर सकते हैं जिसके लिये हमें दण्ड या पुरस्कार दिया जायेगा।

जीवात्मा पुनर्जन्म धारण करता है—जीवात्मा अमर है। उसका न कभी निर्माण हुआ है और न कभी नाश होता है। दयानन्द अन्य भारतीय दार्शनिकों की तरह यह मानते हैं कि जीवात्मा मृत्यु के पश्चात् वर्तमान शरीर को छोड़कर अपने कर्मानुसार अन्य शरीर धारण कर लेता है। अत्यन्त निकृष्ट कर्म करने वाले वृक्षादि योनियों में जाते हैं, नीच स्वभाव वाले पशु श्रेणी में और सज्जन व अच्छे कर्म करने वाले, मनुष्य जन्म पाते हैं। इन तीनों योनियों में भी अनेक भेद हैं जिन्हें जीव कर्मों के आधार पर प्राप्त करता है।[3] प्रश्न उठता है कि पुर्नजन्म में जीव को अपने पूर्व जन्मों के कर्मों का स्मरण क्यों नहीं रहता। दयानन्द कहते हैं कि जीवात्मा अल्पज्ञ है अतः वह पूर्व जन्मों का विस्मरण कर

१. सां० द० १-४६ व १-१५।
२. 'जीव कर्मों का साक्षी नहीं किन्तु कर्त्ता भोक्ता है'। सत्यार्थप्रकाश पृ० २३८।
३. वही, पृ० २५६।

देता है। इसके अतिरिक्त मन एक काल में एक ही विषय का ज्ञान करता है। इस जन्म में इसकी बातों में लीन रहने तथा अज्ञान के कारण वह पूर्व जन्मों की घटनाओं को नहीं जानता। योगाभ्यास से मन के शुद्ध होने पर पूर्व जन्म को जीव जान सकता है। सेंट थोमस ईसाई प्रथानुसार कहते हैं कि प्रत्येक जन्म पर ईश्वर एक नए जीवात्मा का निर्माण करता है। यह सिद्धान्त इस्लाम के जीव नव-निर्माणवाद की तरह ही है। इससे परमात्मा की न्याय-व्यवस्था भंग होती है। क्योंकि परमात्मा बिना पूर्व-जन्म के कर्मों के आधार के स्वयं अपनी इच्छा से शुभ व अशुभ वातावरण में किसी को सुखी व किसी को दुःखी बनाता है। यहां प्रश्न होता है कि, जबकि अभी तक नवनिमित जीव ने कुछ किया ही नहीं, तब क्यों जन्म से व्यक्ति अच्छे व बुरे घरों व वातावरण में पैदा होता है यह प्रश्न नव-निर्माणवाद के अनुसार नहीं सुलझाया जा सकता। दयानन्द के अनुसार ईश्वर भी किसी को बिना कर्म किये दण्डित व पुरस्कृत नहीं कर सकता अन्यथा ईश्वर न्यायी नहीं रहेगा।[१]

शरीरस्थ चेतना की तीन अवस्थायें—शरीर में रहकर जीवात्मा तीन अवस्थाओं जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्ति में रहता है। जाग्रत अवस्था में जीव इन्द्रियों से कार्य करता तथा यथार्थ जगत् का ज्ञान करता है। स्वप्न में मन के संस्कारों से विचित्र-विचित्र दृश्यों को देखता है, यहां इन्द्रियों का व्यापार बन्द हो जाता है। सुषुप्ति अवस्था में गाढ़ निद्रा में रहता है। जीव की सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रियों व मन के संस्कारों का खेल बन्द हो जाता है। इसमें जीव तमोगुण की गहनता के कारण अज्ञानी होता है परन्तु जीव की सत्ता रहती है। स्वामी जी कहते हैं सुषुप्ति अवस्था में जीव कारण शरीर में सम्पन्न होता है। कारण शरीर प्रकृति रूप होता है अतः सब जीवों के लिये एक है। इसके अतिरिक्त स्वामी जी एक चौथी अवस्था भी मानते हैं वह तुरीय शरीर की है।[२] इसमें जीवात्मा समाधि अवस्था में परमात्मा में मग्न होता है। कतिपय विद्वान् दयानन्द द्वारा जीव की तीन अवस्थायें ही मानते हैं। परन्तु हमारा विचार है कि ये तीन

१. वही, पृ० ४०१।
२. वही पृ० २४८।

अवस्थायें शरीरस्थ जीव की हैं तथा चौथी तुरीय शरीर की अवस्था हैं जिसमें जीव अपने शुद्ध चेतन स्वरूप में स्थित होता है। यहां दयानन्द जी का यही तात्पर्य है।

बन्ध व मोक्ष स्वभाव से नहीं—जीवात्मा स्वभाव से न बद्ध है न मुक्त। इस प्रकार का विचार दर्शन साहित्य में प्रथम बार सुनाई पड़ रहा है। कतिपय विद्वान सांख्य दर्शन में पुरुष को असंग एवं निष्क्रिय कहते हैं। स्वामी दयानन्द जीव निष्क्रियवाद को अच्छा नहीं समझते क्योंकि इससे कर्तृत्व के अभाव में भोगतृत्व नष्ट हो जाता है। जीव को प्रकृति से असंग भी नहीं माना जा सकता। असंग मानने का तात्पर्य उसे स्वभाव से मुक्त मानना है, और जो जीव स्वभाव से मुक्त है तब वह बद्ध अवस्था में नहींआ सकता। इसके विपरीत यदि जीव को स्वभाव से बद्ध माना जाये तब बद्धता जीव का स्वभाव होने से वह मुक्त नहीं हो सकेगा।[1] इसलिये यही सिद्धान्त ठीक है जैसा स्वामी दयानन्द ने दिया है कि जीव को प्रकृति के संग से बद्धना आती है। जीवात्मा के बन्धन में आने में उसकी अपनी अल्पज्ञता ही मुख्य कारण है। इससे हर वस्तु अपने वास्तविक रहस्य को जीवात्मा से छिपा लेती है।

जीवात्मा, दूसरी तरफ जब सत्य ज्ञान की ओर झुकता है तथा एक-एक कर अविद्या के समस्त प्रभावों को हटाकर स्व में शुद्ध ज्ञान, का प्रकाश करता है, तब अविद्या नष्ट होकर वस्तु का वास्तविक अर्थ जीव के सम्मुख आता है। ऐसी अवस्था में वह परमात्मा की ओर बढ़कर मुक्तावस्था के मार्ग में निरन्तर अग्रसर होता है। कठोर तप व परमात्मा की उपासना इसे सत्य की ओर ले जाती है। स्वामी दयानन्द अधर्म, अविद्या व बुरे संस्कारों से दूर हटकर, अन्तःकारण की शुद्धि, सत्य भाषण, विद्या, न्यायाचरण परमात्मा की उपासना आदि से मुक्ति की प्राप्ति का आदेश करते हैं।[2] पापों की क्षमा मांग लेने पर ईश्वर हमें क्षमा

१. '(प्रश्न) बन्ध व मोक्ष स्वभाव से होता है या निमित्त से?।
(उत्तर) निमित्त से, क्योंकि जो स्वभाव से होता तो बन्ध व मुक्ति की निवृत्ति कभी नहीं होती'। वही पृ० २३०।

२. स० प्रकाश, पृ० २४१

कर देगा या किसी मत विशेष को स्वीकार करने पर, जैसा कि ईसाई व इस्लाम के मानने वाले कहते हैं, हमारे सारे पाप नष्ट हो जायेंगे, ऐसा स्वामी जी नहीं मानते। वरन् उनका यह दृढ़ मत है कि जीवात्मा पापों से तभी छूट सकता है जब वह सत्य का आचरण करे। वह पाप क्षमा करने के सिद्धान्त को अबौद्धिक कहते हैं। स्वामी जी कहते हैं कि धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनों को करने और जो कुछ करे वह सब पक्षपात-रहित न्याय धर्मानुसार ही करे इत्यादि साधनों से मुक्ति होती है।[1]

ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका में स्वामी जी मुक्ति के लिए उपासना पर अधिक बल देते हैं। परमात्मा की उपासना से अन्तःकरण शुद्ध होकर सत्य ज्ञान को प्राप्त करने वाला हो जाता है।[2] परमात्मा की उपासना का फल यह नहीं है कि परमात्मा अपनी उपासना से प्रसन्न होकर हमारे पाप क्षमा कर देगा वरन् "स्तुति से ईश्वर में प्रीति उसके गुण, कर्म, स्वभाव का सुधरना, प्रार्थना से निर-भिमानता, उत्साह व सहाय का मिलना, उपासना से परब्रह्म से मेल और उस का साक्षात्कार होता है"।[3] दयानन्द जी के अनुसार ईश्वर मुमुक्षुओं से मार्ग में प्रेरणा करने वाला है लेकिन बिना जीवात्मा के अपने कठोर तप व पुरुषार्थ के जीव को मोक्ष नहीं मिल सकता।

मोक्ष

"जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को जानता है वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तरके विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है" सत्यार्थ प्रकाश पृ० २३६)

भारतीय दर्शन में प्राय सभी दार्शनिकों ने जीवन की मुख्य समस्या दुख को सुलझाने के प्रयत्न किये हैं। और तो क्या, स्वयं चारवाक दुखों से बचने का उपदेश करते हैं। क्या अनीश्वरवादी बौद्ध व जैन क्या षड्वैदिक दर्शन और उपनिषद सभी सांसरिक दुखों से छूटने का उपदेश करते हैं। स्वामी दया-

१. वही पृ० २४१
२. दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग २, पृ ४४४ ले० स्वामी दयानन्द
३. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १८०

नन्द इस उक्ति का कोई अपवाद नहीं है। उनकी विचारधारा भारतीय दर्शन के अंगों से पृथक नहीं है। जो वास्तव में जीवन की पहेली हो सकती है वही इनके दर्शन की भी मुख्य पहेली है। प्रश्नोत्तर के रूप में स्वामी दयानन्द कहते हैं[1] :—

प्र०––मुक्ति किसको कहते हैं ?

उ० – (दयानन्द) 'मुञ्चन्ति पृथग्भवन्ति जना यस्यां सा मुक्तिः' जिसमें छूट जाना हो उसका नाम मुक्ति है।

प्र०—किससे छूट जाना ?

उ०—जिससे छूटने की सब जीव इच्छा करते हैं।

प्र० – किससे छूटने की इच्छा करते हैं ?

उ०—जिससे छूटना चाहते हैं।

प्र०—किससे छूटना चाहते हैं।

उ०—दुख से।"

संसार का प्रत्येक प्राणी जीवन के दुखों को दूर करना चाहता है। कोई नहीं चाहता कि उसे दुख प्राप्त हों, अतः सब प्राणियों की समस्त चेष्टायें दुख दूर करने के लिए ही होती हैं। सांख्य दर्शन कहता है कि मनुष्य का परम उद्देश्य दुखों का अत्यन्त नाश करना है।[2] संसार में देखा जाता है कि थोड़े प्रयत्नों द्वारा थोड़े दुख दूर होते हैं, अधिक प्रयत्न से अधिक काल तक अधिक दुख दूर होते हैं अतः यदि दुख दूर करने के लिए अत्यन्त पुरुषार्थ किया जाय तो दुखों का अत्यन्त नाश भी किया जा सकता है। दुखों का अत्यन्त नाश ही मोक्ष है। योग दर्शन भी दुखों को दूर करना जीव का परम कर्त्तव्य बताता है। महर्षि पातंजलि हेय (दुख), हेयहेतु (दुखों का कारण अविद्या), हीन (दुख नाश-मोक्ष) तथा हानोपाय (दुख निरोध का अष्टांग मार्ग) इन चार सत्यों को बताता है। इनमें दुखों के नाश को कैवल्य बताया है।[3]

---

१. सत्यार्थ प्रकाश पृ० २४१

२. सां० सूत्र, १–१

३. देखिये योग सूत्र, साधनपाद सू० १६, १७, २४, २५ व २६

स्वामी दयानन्द के अनुसार दुखों का कारण जीव की अविद्या है। जीवात्मा अविद्या के वशीभूत होकर जन्म मरण के बन्धन में आता तथा दुखों को प्राप्त होता है। अविद्या का क्या स्वरूप है ? स्वामी दयानन्द योग सूत्र के हवाले से कहते हैं कि अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुख में सुख तथा अनात्मा में आत्मा की बुद्धि करना अविद्या है।[1] अर्थात् संसार के पदार्थों में उनके वास्तविक स्वरूप के विपरीत बुद्धि रखना अज्ञान हैं। अविद्या से छूटने का दयानन्द एक ही उपाय बताते हैं और वह है विद्या की प्राप्ति करना। विद्या का अर्थ है **'वेत्ति यथावत्तत्व पदार्थ स्वरूपं यया सा विद्या'** अर्थात् जिससे पदार्थों के स्वरूप का यथावत् ज्ञान होता है वह विद्या है।[2] विद्यावान् व्यक्ति अनित्य, अशुचि, दुख व अनात्मा में नश्वरता अपवित्रता, दुख एवं अनात्मा को ही देखता है तथा नित्य, शुचि, सुख व आत्मा में नित्यता, पवित्रता, आनन्द व आत्मा को ही मानता है। यथार्थ ज्ञान होने पर जीवात्मा के मोह व संसार से रागादि का नाश हो जाता है। इससे उसके कर्मों का क्षय हो जाता है। कर्मों के क्षय से भविष्य के जीवन का आधार ही समाप्त हो जाता है।

मुक्ति के साधन—संसार के बन्धनों से छूटकर मुक्ति प्राप्त करने के लिये, स्वामी जी परमात्मा की स्तुति प्रार्थना, उपासना, साधन चतुष्टय एवं योगाभ्यास का निर्देश करते हैं। परमात्मा की स्तुति से उसके गुण, कर्म, स्वभाव से जीव के गुण, कर्म, स्वभाव सुधरते हैं। प्रार्थना से निरभिमानता, उत्साह व परमात्मा का सहाय प्राप्त होता है एवं उपासना से परब्रह्म का मेल व साक्षात्कार होता है। साधन चतुष्टय, सत्य असत्य वस्तुविवेक, वैराग्य कर्म, शमदमादि षट् सम्पत्ति एवं मुमुक्षत्व हैं। योगाभ्यास अर्थात् ध्यान शक्ति से मनादि सब आन्तरिक पदार्थों का साक्षात्कार होता है।'[3]

उपरोक्त साधनों में सबसे प्रमुख सत्याचरण है। दयानन्द ने मोक्ष की प्राप्ति के लिये जितना सत्य के आचरण पर बल दिया है उतना किसी अन्य साधन पर

---

१. सत्यार्थप्रकाश पृ० २३६।
२. वही पृ० २३६।
३. 'नित्य प्रति न्यून से न्यून दो घण्टा पर्यन्त मुमुक्षु ध्यान अवश्य करें जिससे भीतर के मन आदि पदार्थ साक्षात् हों।' वही पृ० २५०।

नहीं दिया। वे कहते हैं कि दुःख का मूल कारण पापाचरण; मिथ्याभाषण आदि है तथा सुख का मूलकारण सत्यभाषण आदि धर्माचरण हैं। स्वामी दयानन्द अपने दर्शन में मुक्ति के किसी भी ऐसे साधन को स्वीकार नहीं करते जिसमें चित्त शुद्धि, गुण कर्म व स्वभाव की पवित्रता पर ध्यान न देकर केवल शारीरिक शुद्धि तथा कर्मकाण्डमात्र पर बल दिया गया हो।

मुक्ति में जीवात्मा की स्थिति — मुक्तावस्था में जीवात्मा का क्या स्वरूप होता है? अर्थात् मुक्ति में जीवात्मा का अपना अस्तित्व रहता है या वह ब्रह्म में लीन हो जाता है? वह मुक्ति में आनन्द में किस प्रकार सम्पन्न रहता है तथा मुक्ति में जीवात्मा के साथ शरीर रहता है या नहीं? और यदि रहता है तो किस प्रकार का? वह किस प्रकार का होता है? इत्यादि प्रश्न महत्वपूर्ण है। अब हम यहाँ दयानन्द के मन्तव्यानुसार इसका विवेचन करेंगे।

दयानन्द कहते है कि "जब जीव के हृदय की अविद्यारूपी गांठ कट जाती है, उसके सारे संशय छिन्न होते और दुष्ट कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं तभी उस परमात्मा, जो कि अपने आत्मा के भीतर और बाहर व्याप्त हो रहा है, उसमें निवास करता है।"[1] दयानन्द का यहां स्पष्ट कथन है कि मुक्ति में जीवात्मा की अविद्या नष्ट हो जाती है तथा कर्म बन्धन अर्थात् संस्कारों से मुक्त हो जाती है। उस अवस्था में जीवात्मा अपने शुद्ध स्वरूप में होता है वह मुक्ति में ब्रह्म में स्थित होता है, जैसे आकाश में समस्त पदार्थ स्थित होते हैं वैसे ही मुक्त में जीवात्मा अति सूक्ष्म सर्वत्र व्यापक परमात्मा में स्थित होता है।

कुछ विद्वान, विशेष रूप से शांकर मतवादी नवीन वेदान्ती, मुक्ति में जीवात्मा का ब्रह्म में लय होना मानते हैं। उनके अनुसार जीव ब्रह्म का ही रूप होने से ब्रह्म से पृथक नहीं है अतः अविद्या की उपाधि के नाश से जीव मुक्ति में अपने यथार्थ स्वरूप ब्रह्म में लीन हो जाता है। दयानन्द इस मत को सर्वथा असंगत बताते हैं। उनका इसमें तर्क है कि यदि मुक्ति में जीव का ब्रह्म में लय हो जाता है तो मुक्ति का सुख कौन भोगेगा? और मुक्ति का उपदेश एवं साधन सब व्यर्थ व निष्फल हो जायेंगे। ऐसी अवस्था को महर्षि दयानन्द मुक्ति

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २५६।

नहीं वरन् जीव का प्रलय अर्थात् नाश बताते हैं ।[1] अद्वैतवादियों के विरुद्ध दयानन्द का यह तर्क अत्यन्त शक्तिशाली है । मुक्ति में जीवात्मा की वर्तमानता को दयानन्द एक उपनिषद् मंत्र से बताते हुए कहते हैं कि "जो जीवात्मा अपनी बुद्धि व आत्मा में स्थित सत्य ज्ञान और अनन्त ब्रह्म को जानता है, वह उस व्यापक रूप ब्रह्म में स्थित हो के उस विपश्चित अनन्त विद्यायुक्त ब्रह्म के साथ सब कामों को प्राप्त होता है ।[2]

इसी प्रकार दयानन्द बौद्धों के निर्वाण की आलोचना करते हैं । बौद्धों के अनुसार आत्मा रूप, विज्ञान, वेदना, संस्कार व संज्ञा इन पांच स्कन्धों का संघातमात्र है । निर्वाण प्राप्त करने पर यह संघात समाप्त हो जाता हैं इसी से बौद्ध दर्शन में निर्वाण का अर्थ बुझ जाना किया है । यदि निर्वाण की अवस्था में जीवात्मा का नाश हो जाता है तो निर्वाण का क्या लाभ ? फिर निर्वाण में किसके दुःखों का नाश हुआ और कौन मुक्ति में आनन्द का भोग करेगा ? बौद्धों के निर्वाण में दुःखों के साथ-साथ आत्मा का भी नाश हो जाता है । इससे बौद्धों के निर्वाण को हम दुःखों के उच्छेद के स्थान पर जीव का उच्छेद कहें तो अच्छा रहेगा । बौद्धों का निर्वाण दुःखों का अभावमात्र होने से अभावात्मक है ।

मध्व आदि कुछ दार्शनिक मुक्ति में जीवात्मा का स्वर्ग में निवास बताते हैं । उनके अनुसार स्वर्ग एक पृथक लोक है जहां जीव रहता है । यह धारणा एकदम पौराणिक है । स्वामी दयानन्द की मुक्ति जीव का स्वर्ग में निवास नहीं है जहां सांसारिक जीवन के सारे सुख प्राप्त हैं । मध्व इत्यादि दार्शनिकों द्वारा चार प्रकार की मुक्ति कही गयी है । सालोक्य अर्थात् एक ही लोक में जीव व ईश्वर का निवास होना, सामीप्य अर्थात् सेवक के समान ईश्वर के पास रहना, सानुज्य अर्थात् छोटे भाई के सदृश्य ईश्वर के साथ रहना, सारूप्य अर्थात् ईश्वर से संयुक्त हो जाना, यह चार प्रकार की मुक्ति है ।[3] मुक्त जीवात्माओं में इस

१. वही, पृ० २५६ ।

२. वही, पृ० २५७ ।

३. History of Indian Philosophy.
S. N. Dass Gupta, V. IV, P. 318.

प्रकार का भेद मध्व को जीवात्माओं के गुण व स्वरूप में भेद के कारण मानना पड़ा अन्यथा उसकी कोई आश्यकता नहीं थी। परन्तु स्वामी जी जीवों के स्वरूप में आपसी भेदों को नहीं मानते। उनके मत में प्रत्येक जीव समान है तथा हर जीव मुक्ति पाने का अधिकारी है। मध्व की चार प्रकार की मोक्ष की आलोचना में स्वामी दयानन्द कहते हैं "जैसी तुम्हारी चार प्रकार की मुक्ति है वैसी तो कृमि, कीट, पतंग पश्वादिकों की भी स्वतः सिद्ध प्राप्त है, क्योंकि ये जितने लोक हैं वे सब ईश्वर के हैं इन्हीं में सब जीव रहते है इसलिए 'सालोक्य' मुक्ति सबको अनायास ही प्राप्त है। सामीप्य' ईश्वर सर्वत्र व्याप्त होने से सब उसके समीप हैं इसलिए सामीप्य मुक्ति स्वतः सिद्ध है। सानुज्य' जीव ईश्वर से सब प्रकार छोटा और चेतन होने से स्वतः बन्धुवत है इससे सानुज्य मुक्ति भी बिना प्रयत्न के सिद्ध है। और सब जीव सर्वव्यापक परमात्मा में व्याप्य होने से संयुक्त हैं, इससे 'सानुज्य' मुक्ति भी स्वतः सिद्ध है'।[1] स्वामी दयानन्द के दर्शन में कहीं भी पौराणिक तत्त्व नहीं है। उन्होंने दर्शन को विशुद्ध, व्यावहारिक एवं बौद्धिक स्तर पर रखा है। यदि कहीं किसी को प्रमाण माना है तो वेद उपनिषद् व षड्-शास्त्रों को। मध्व, वल्लभ व निम्बार्क का दर्शन भक्ति प्रधान है, इनकी विचार-धारा देवत्व प्रधान है। स्वामी दयानन्द के विचार में मुक्त पुरुष परमात्मा में रहता है कहीं अन्यत्र नहीं रहता। जब जीव की अविद्यादि बन्धन की गांठें छिन्न-भिन्न हो जाती हैं तभी वह मुक्ति को प्राप्त होता है।

मुक्ति में जीवात्मा के साथ किसी प्रकार का शरीर रहता है या नहीं ? कुछ विद्वान मोक्ष में जीवात्मा के साथ सूक्ष्म शरीर को मानते हैं। इसमें उनका तर्क है कि सूक्ष्म शरीर के अभाव में जीवात्मा मोक्ष का आनन्द कैसे भोगेगा। महर्षि दयानन्द मुक्ति में जीवात्मा के साथ किसी भी भौतिक संग को नहीं मानते। महर्षि दयानन्द अपने दर्शन में चार शरीरों को बताते हैं **'एक स्थूल शरीर'** जो यह दीखता है, दूसरा पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच सूक्ष्मभूत और मन बुद्धि इन सत्तरह तत्त्वों का समुदाय **'सूक्ष्म शरीर'** कहाता है, इसके दो भेद हैं--एक भौतिक अर्थात् जो सूक्ष्म भूतों के अंशों से बना है, दूसरा स्वाभाविक

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २५१।

जो जीव के स्वाभाविक गुण रूप है यह अभौतिक शरीर मुक्ति में भी रहता है, इसी से जीव मुक्ति में सुख को भोगता है। तीसरा कारण जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढ़निद्रा होती है।...चौथा तुरीय शरीर कहाता है जिसमें समाधि में परमात्मा के आनन्दस्वरूप में मग्न जीव होते हैं।"[1] यहां दयानन्द मुक्ति में जीवात्मा के साथ स्थूल शरीर के साथ-साथ सूक्ष्म भौतिक शरीर का अभाव भी मानते हैं। यहां स्वामी दयानन्द वेदान्त दर्शन के तीन महानाचार्य बादरि, व्यास एवं जैमिनि मुनि का मत देते है कि बादरि, जो व्यास जी के पिता थे, मुक्ति में जीव के साथ मन का भाव मानते हैं परन्तु इन्द्रिय आदि का अभाव मानते हैं।[2] तथा जैमिनि आचार्य मुक्ति में जीव के साथ मन का भाव तो मानते ही हैं साथ ही इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति, प्राणादि एवं सूक्ष्म शरीर को भी विद्यमान मानते हैं।[3] परन्तु महर्षि बादरायण भाव और अभाव के बीच का मार्ग अपनाते हैं। उनके अनुसार मुक्तावस्था में जीव को सत्य संकल्पादि का भाव रहना है परन्तु क्लेश, अज्ञान और अशुद्धि आदि दोषों का अभाव रहता है।[4] स्वयं स्वामी दयानन्द का मत है कि मुक्ति में 'उसके (जीव के) सत्य संकल्पादि स्वाभाविक गुण सामर्थ्य सब रहते हैं परन्तु भौतिक सँग नहीं रहता।[5] उनका विचार है कि मुक्तावस्था में जीवात्मा के साथ भौतिक शरीर तथा इन्द्रियों के गोलक नहीं रहते किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। मुक्ति में मनादि के अभाव में जीवात्मा किस प्रकार संसार का ज्ञान करता है, इस विषय पर शतपथ ब्राह्मण कहता है, जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के संकल्प से चक्षु स्वाद के अर्थ रसना, गन्ध के लिए घ्राण, संकल्प-विकल्प करने के समय मन, निश्चय करने के लिए बुद्धि, स्मरण करने के लिए चित् और अहंकार रूप अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है।'[6] जीवात्मा अपनी संकल्प

१. वही, पृ० २४८।
२. 'अभावंबादरिराह ह्येवम्।' वे० सू०, ४-४-१०
३. 'भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्।', वे० सू०, ४-४-११
४. 'द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः।' वे० सू०, ४-४-१२
५. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २४३।
६. 'श्रुण्वन् श्रोत्रं भवति...चेतयंश्चित्तम्भवत्यहं कुर्वाणोऽहंकारो भवति। शतपथ कां० १४।

शक्ति से ब्रह्म में स्वच्छन्द विचरता तथा आनन्द का भोग करता है। स्वामी दयानन्द के मत में जीवात्मा का भौतिक संग अर्थात् सूक्ष्म शरीर जो कि सतरह तत्त्वों का बना है मोक्ष प्राप्ति तक ही साथ रहता है लेकिन मुक्ति में सूक्ष्म शरीर भी नहीं जाता।[1]

महर्षि दयानन्द की मुक्ति की विचारधारा का आधार वेद व उपनिषद् हैं। यद्यपि इन्हीं उपनिषद् ग्रन्थों के आधार पर शंकराचार्य ने मुक्ति में जीव का ब्रह्म में लय बताया है तथापि इन उपनिषदों में अनेक स्थलों पर मुक्ति में जीवात्मा का ब्रह्म से पृथक अस्तित्व का वर्णन भी प्राप्त होता है, जैसे मुण्डकोपनिषद् कहता है कि 'जीवात्मा, पाप-पुण्यों को झाड़कर ब्रह्म की परम समता को प्राप्त होता है,।[2] (परन्तु एक नहीं होता)। तथा परम ब्रह्म का जानने वाला ब्रह्म के समान महान व ऐश्वर्यशाली हो जाता है।[3]

जीव को ब्रह्म से पृथक व नित्य मानने पर मुक्ति अवस्था की सार्थकता है। मुक्ति अवस्था में जीव का ब्रह्म में लय कहना बुद्धि विरुद्ध कल्पना है। क्योंकि यदि जीव का लय माना जाय तब यह प्रश्न उठेगा कि मुक्ति का भोक्ता कौन होगा? ईश्वर आप्तकाम होने से न कर्त्ता है न भोक्ता, प्रकृति जड़ होने से कर्त्तृत्व व भोक्तृत्व रहित है। इससे केवल जीवात्मा ही भोक्ता व कर्त्ता रह जाता है। उपनिषदों में मुक्ति में आनन्द का भाव भोक्ता के अर्थ से ही कहा है अन्यथा श्रुतिवाक्य भी निरर्थक हो जायेंगे।

मुक्ति से पुनरावृत्ति

मोक्ष का तात्पर्य है सांसारिक दुःख, सुख व जन्म-मरण से मुक्त होना, "जिससे निवृत होकर फिर संसार में नहीं आता।"[4] लेकि स्वामी दयानन्द यहां पर विश्व-दर्शन को एक नया विचार देते हैं कि मुक्ति से जीवात्मा एक निश्चित

१. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ--२४८।
२. 'तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति'। मु० उ०, ३-१-३
३. 'स योहवै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। मु० उ० ३-२-९
४. 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'। गीता, १५-६।

अवधि तक परमात्मा में मुक्ति के आनन्द को भोग कर पुनः जन्म-मरण के चक्र में आ जाता है।

दयानन्द एक वेद मन्त्र के भाष्य में अपने मत का प्रतिपादन इस प्रकार करते हैं, "हम इस स्वप्रकाश स्वरूप अनादि सदामुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जानें जो हमको मुक्ति में आनन्द भुगाकर पृथिवी में पुनः माता-पिता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता-पिता का दर्शन कराता है।[1] अर्थात् परमात्मा मुक्ति में मोक्षानन्द को भुगाकर पुनः जीव को संसार में भेजता है। न्याय व सांख्य मोक्ष को दुःखों का अत्यन्त अभाव कहते हैं। इनके अनुसार मुक्तावस्था वह है जहां पर दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाये।[2] परन्तु अत्यन्त का क्या अर्थ है? यह प्रश्न विवादास्पद है। कुछ विद्वानों के अनुसार पूर्ण अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं, परन्तु स्वामी दयानन्द अत्यन्त शब्द के अर्थ बहुत में लेते हैं वे कहते हैं कि "यह आवश्यक नहीं कि अत्यन्त शब्द अत्यन्ताभाव ही का नाम होवे।"[3] बल्कि 'बहुत' का भी हो सकता है। तथा अत्यन्त को बहुत के अर्थ में स्वीकार करने से—जो तर्कसंगत प्रतीत होता हैं—मुक्ति को अनन्त काल तक रहने वाली नहीं माना जा सकता। दयानन्द मुक्ति से जीव की पुनरावृत्ति मुख्य रूप से दो आधार पर मानते हैं। प्रथम तो जीव का सामर्थ्य अल्प है अनन्त नहीं। अतः जीवात्मा के मुक्ति के साधन व सामर्थ्य सब अल्प हैं इनसे उनका फल भी सीमित होना चाहिये। अल्प सामर्थ्य व प्रयत्न का अनन्त फल कैसे हो सकता है और यदि हठपूर्वक इसे मानें तो इससे सामान कर्म-फल का सिद्धांत नष्ट हो जायेगा। अतः जीव के अल्प प्रयत्नों से अनन्त कालिक मुक्ति नहीं मिल सकती।

दूसरे जीवों की संख्या भी अनन्त नहीं हैं। दयानन्द जीवों की संख्या अनेक मानते हैं अनन्त नहीं। यह हो सकता है कि हम उन्हें न गिन सकें लेकिन लोक

---

१. सत्यार्थप्रकाश पृ० २४५।

२. (i) 'तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः।' न्याय, १-१-२२।

(ii) 'अथ त्रिविध दुखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः। सां०सू० १-१।

३. सत्यार्थ प्रकाश पृ० २४५।

में कर्म व्यवस्था पाये जाने से जीवात्मा संख्या में अनन्त नहीं माने जा सकते। श्रुति कहती है कि महाराज वरुण के यहां जीवों की पलकों के बाल तक गिने हुये हैं। एवं यह संसार उस परम पुरुष के मानों एक देश में हो रहा है, परन्तु ब्रह्म इससे बहुत अधिक है।[1] यदि जीवात्मा संख्या में अनन्त होते तो अनन्त परमात्मा के अनन्त देश में फैले हुये होते। और यदि श्रुति के आधार पर यह मान लिया जाय कि जीव संख्या में अनन्त नहीं हैं, तब प्रश्न उठता है कि जीव अनन्त काल से मुक्त हो रहे हैं और अनन्त काल तक होते रहेंगे तब क्यों न सृष्टि कभी जीव रहित हो जाएगी। इसका यदि यह उत्तर दिया जाय कि क्योंकि सृष्टि अब तक जीव रहित नहीं हुई इसलिए आगे भी जीव रहित नहीं होगी। तब यह कोई आवश्यक नहीं। इस पर भी यदि आलोचक कहें कि परमात्मा सृष्टि का उच्छेद न होने देने के लिये जीवों का निर्माण कर देगा, इससे जीवों का अभाव नहीं होगा। इसके उत्तर में स्वामी जी कहते हैं "जो ऐसा होवे तो जीव अनित्य हो जाये क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है उसका नाश अवश्य होता है।"[2] इससे जीवात्मा की नित्यता का बोध होता है। अतः हमें यह मानना ही पड़ता है कि जीव संख्या में अनेक है अनन्त नहीं। इस विषय पर वैदिक दर्शन भी दयानन्द के साथ है। सांख्य व वैशेषिक दोनों ही कर्मफल की व्यवस्था पाये जाने से जीवों को संख्या में बहुत मानते हैं परन्तु अनन्त नहीं।[3]

उपनिषदों में भी यदाकदा स्वामी दयानन्द के समर्थन में मंत्र मिलते है जैसा कि मुण्डक कहता है 'मुक्त जीव ब्रह्म लोक में मुक्ति के आनन्द को

---

१. 'पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'। यजुर्वेद, ३१-३

२. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २४६।

३. (i) 'पुरुषबहुत्व व्यवस्थातः। सां० सू०, ६-४५
(ii) 'व्यवस्थातोनाना'। वै० सू० ३-२-२०।

भोग कर महाकल्प के पश्चात् पुनः संसार में आते है ।"[१] महाकल्प का काल स्वामी जी ३६००० बार सृष्टि उत्पत्ति और प्रलय के सामान समय को कहते हैं। जबकि एक सृष्टि की आयु ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष है और इतना ही प्रलय का समय है। यह एक दीर्घ-काल है। इतनी लम्बी कालावधि को ध्यान में रखते हुए मुक्ति से पुनरावृत्ति को जन्म-मरण के समान व पुराणों की स्वर्ग की कल्पना के समान नहीं कहा जा सकता। सांख्य दर्शन भी मुक्ति को अनन्त काल तक रहने वाली नहीं कहता।[२] सांख्य के इस सूत्र के भाष्य में विज्ञान भिक्षु स्पष्ट कहते हैं कि किसी भी पुरुष के बन्ध का अत्यन्त उच्छेद नहीं होता।[३] हमारा यह विचार है कि यदि जीव के स्वरूप को स्वामी दयानन्द की मान्यतानुसार मान लिया जाय तब मुक्ति से पुनरावृत्ति स्वयं सिद्ध है तथा यहां स्वामी जी वैज्ञानिक हैं एवं बुद्धि के अकाट्य तर्कों पर स्थिर हैं। इससे हमें उनकी विचारधारा को स्वीकार करना पड़ता है। परन्तु यहाँ पर हम यह भी कह देना उचित समझते हैं कि जहां उपनिषदों में अनेक श्रुतियें मुक्ति से पुनरावृत्ति का वर्णन करती हैं वहां इन ग्रन्थों में अनेक ऐसी भी श्रुतियें हैं जिनमें इसके विपरीत विचार पाये जाते हैं। उपनिषदें स्पष्ट कहती हैं 'जो विद्यापूर्वक जानकर श्रद्धा से उपासना करते हैं वे प्रकाशमय लोकों को प्राप्त हो पश्चात् ब्रह्म को प्राप्त होते हैं जहां से फिर नहीं वापिस आते।"[४] 'ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष को शाश्वत शान्ति प्राप्त हो जाती है"।[५] इसी को गीता इस प्रकार कहती है कि मुझे

---

१. 'ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।'
मु० उ० ३-२-६

२. 'इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः।' सा० सू० १-१५९।

३. 'सर्वत्र काले बन्धस्यात्यन्तोछेदः कस्यापि पुंसो नास्ति।' सां सू०, १-१५९ पर विज्ञानभिक्षु भाष्य।

४. (i) 'तेषां न पुनरावृत्तिः'। बृ०, ६–२–१५
(ii) 'यस्माद् भूयो न जायते'। कठ०, १–३–८
(iii) 'तस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधः'। प्रश्न०, १–१०

५. 'तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्'। कठो०, २–२–१२

प्राप्त होकर हे अर्जुन पुनर्जन्म नहीं होता।"[1] सत्यार्थप्रकाश में स्वामी जी इस प्रसंग को एक प्रश्न के रूप में उठाते हैं प्रश्नकर्त्ता पूछता है कि 'न च पुरावर्तते' (छा० ८-१५-१ एवं 'अनावृत्तिः शब्दात् अनावृत्तिः शब्दात्' (शारीरिक सूत्र, ४-४-२२) इन वाक्यों से पुनरावृत्ति का निर्णय किया गया है। इसके उत्तर में दयानन्द वेद व उपनिषद के अन्य मंत्र तो उपस्थित करते हैं लेकिन इस मंत्र व सूत्र की व्याख्या पुनरावृत्ति में नहीं करते। इससे विद्वानों के मस्तिष्क में यह विचार आ सकता है कि उपनिषद् व दर्शन शास्त्रों में कुछ स्थल ऐसे अवश्य हैं जहाँ मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं मानी। इस स्थल पर हम इन वाक्यों को स्पष्ट करना चाहते हैं कि ये मुक्ति से पुनरावृत्ति के विरोधी वाक्य नहीं हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में विषय इस प्रकार है, **स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्म लोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते**' अर्थात् जो इस प्रकार बर्तता है वह आयु पर्यन्त ब्रह्मलोक में रहता है तथा वापस नहीं आता। इस स्थल पर **यावदायुषं** शब्द ब्रह्मलोक में मुक्त जीव के रहने की अवधि के लिये आया है। इस मन्त्र के भाष्य में स्वामी शंकराचार्य जी भी कुछ इसी प्रकार कहते हैं। वह कहते हैं "कि अर्चिरादि मार्ग से कार्य-ब्रह्म के लोक को प्राप्त हो जब तक ब्रह्मलोक की स्थिति रहती है तब तक वह वहीं रहता है उसका नाश होने से पूर्व वह नहीं लौटता।" ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मलोक (मुक्ति अवस्था में जहां जीव रहता है) की आयु को स्वयं शंकर भी मानते थे। हमारे विचार से यहां ब्रह्मलोक की आयु का प्रसंग ही नहीं उठता क्योंकि ब्रह्म तो अनादि है तथा ब्रह्म में सम्पन्न होने को ही जीव द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति करना कहा है इसमें ब्रह्मलोक सदैव वर्तमान रहता है। हां जीव की मुक्ति की आयु समाप्त होने पर अवश्य उसकी ब्रह्मलोक से वापसी होती है। इसी से इस मंत्र से **यावदायुषं** शब्द मुक्ति की आयु के लिये आया है कि मुक्ति की अवधि (आयु) पर्यन्त मुक्त जीव वापस नहीं आता। शारीरिक सूत्र **'अनावृत्तिः शब्दात्'** का अर्थ भी यहां यही है कि जिस प्रकार श्रुति अनावृत्ति का विधान करती है उसी प्रकार सूत्रकार भी अनावृत्ति को मानता है। अर्थात् श्रुति आयु पर्यन्त अनावृत्ति मानती है अतः ब्रह्मसूत्र भी श्रुति अनुकूल

१. **'मामुपेत्यतु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते'**। गीताः ८-१६

पुनरावृत्ति को मानते हैं। अब प्रश्न यह है कि मुक्ति की वह आयु क्या है जिसे यावदायुषं कहा गया है? इसका उत्तर हमें मुण्डकोपनिषद् में मिलता है 'ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे। ३-२-६। अर्थात् वे मुक्ति जीव परान्तकाल (महाकल्प) पर्यन्त ब्रह्मलोक में रहकर वापस आ जाते हैं। और महाकल्प की अवधि हम पीछे ही बता आये हैं कि यह ३६००० सृष्टि व प्रलय होने के समान अत्यन्त दीर्घकाल है।

दयानन्द व अन्य वैदिक दार्शनिक

शांकर मत का खण्डन—अद्वैत वेदान्त जीवात्मा को सनातन तो मानता है परन्तु परब्रह्म के ही एक रूप में। अविद्योपादि से ब्रह्म जीवरूप में भासता है। इस मत में ब्रह्म एवं अविद्या अथवा माया दो ही पदार्थ अनादि हैं। इस पर स्वामी दयानन्द माया के विषय में वही पुराना प्रश्न उठाते हैं जोकि सदैव से अद्वैत एवं द्वैतवादियों के मध्य विवाद का विषय है कि यह माया क्या है? अद्वैतवाद में माया एक भ्रामक शक्ति है जो अविद्यारूप में ब्रह्म को एक से अनेक, ज्ञानी से अज्ञानी, सर्वज्ञ से अल्पज्ञ, आप्तकाम से कामनासहित एवं राग-द्वेष से मुक्त को रागद्वेषी वना देती है। फिर जीव की सिद्धि बिना ब्रह्म में अज्ञान आये नहीं सिद्ध हो सकसी इससे ब्रह्म में अज्ञाब सिद्ध होता है और यदि उसमें अज्ञान है तो स्वामी जी इस आपत्ति को उठाते हैं कि 'जो उसके एक देश में स्वाश्रय और स्वविषयक अज्ञान अनादि सर्वत्र मानोगे तो सब ब्रह्म शुद्ध नहीं हो सकता। और जब एक देश में अज्ञान मानोगे तो वह परिच्छिन्न होने से इधर-उधर आता जाता रहेगा। जह-ंजहां जायेगा वहां-वहां का ब्रह्म अज्ञानी और जिस-जिस देश छोड़ता जायेगा उस-उस देश का ब्रह्म ज्ञानी होता रहेगा तो किसी देश के ब्रह्म को अनादि शुद्ध ज्ञानयुक्त न कह सकोगे।'[१] इस पर यदि ब्रह्मवादी यह कहें कि अज्ञान ब्रह्म के एक देश में रहता है इसलिये सारे ब्रह्म के अज्ञानी होने का प्रसंग नहीं उठता तो स्वामी जी उत्तर देते हैं कि "एक ठिकाने अज्ञान व दुख होने से सब ब्रह्म को अज्ञान व दुखी हो जाना चाहिये'।[२] फिर क्या इससे ब्रह्म का स्वरूप खण्डित न हो जायेगा।

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १९६

२. सत्यार्थप्रकाश, पृ० ३०१

अद्वैतवादी अविद्या को अज्ञानमात्र कहते हैं, इस पर प्रश्न उठता है कि अविद्या किसके आश्रय में रहती है, यदि कहें ब्रह्म के, तब ब्रह्म अज्ञानी हुआ और यदि कहें जीव के आश्रय से तब अन्योन्याश्रयदोष लग जाता है क्योंकि जीव स्वयं अविद्या का कार्य है। अविद्योपादि से पूर्व जीव ब्रह्म था। तब जीव अविद्या से और अविद्या जीव के आश्रय रही, यह अन्योन्याश्रय दोष है। इसके अतिरिक्त प्रश्न उठता है कि माया द्रव्य है या गुण? जो द्रव्य है तो द्वैतवाद हो जायेगा और यदि गुण है तो किसका? माया प्रपंचात्मक शक्ति एवं अज्ञान होने से ब्रह्म का गुण नहीं हो सकती। इस पर यदि वेदान्ती कहें कि माया सतासत् है तब यह स्वयं में विरोध है, क्योंकि कोई वस्तु या तो सत् है वा असत्, दोनों नहीं हो सकती। और यदि दुराग्रह से माया को सतासत् से विलक्षण अनिर्वचनीय मान लिया जाय तो वह ब्रह्म के समान हो गयी क्योंकि शांकर मत में ब्रह्म भी सतासत् से परे अनिर्वचनीय है। अतः तब, क्या वह मायावाद का खण्डन मात्र नहीं हो जायेगा? शंकराचार्य जी इन प्रश्नों का स्वयं भी कोई सन्तोषजनक उत्तर नही दे सके। तथ्य यह है कि जिन प्रश्नों का उत्तर शंकर नहीं दे पाते उन्हें उन्होंने अनिर्वचनीय कह दिया। वास्तव में, शंकर माया की अनिर्वचनीय दीवार के पीछे अपने को अपने विरोधियों के प्रश्नों की बौछार से बचाते हैं। और इस रूप में हम डा० राधाकृष्णन के शब्दों में कह सकते हैं शंकर का मत 'बौद्धिक भ्रम का अति स्वच्छ एवं सुन्दर उदाहरण है।'[१]

अद्वैताचार्य का कथन है कि जैसे चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब सरोवर में पड़ता है परन्तु इससे चन्द्रमा की कोई हानि नहीं होती, जैसे जल के हजारों बर्तनों में सूर्य के पृथक्-पृथक् हजारों प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होते है, बर्तनों के नष्ट होने पर प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाते हैं, परन्तु इसका सूर्य पर कोई प्रभाव नहीं होता। इसी प्रकार ब्रह्म के प्रतिबिम्ब अन्तःकरण में पड़ते हैं इससे न ब्रह्म अज्ञानी होता है और न विकारी। इसके उत्तर में स्वामी दयानन्द वेदान्तियों से कहते हैं कि 'यह दृष्टांत तुम्हारा व्यर्थ है, क्योंकि सूर्य आकारवाला, जलकुंड भी साकार

---

१. 'Shankar's view 'seems to be a finished example of learned error.' I. P. II, P. 659, S. Radhakrishanan.

हैं। सूर्य जल-कुंड से भिन्न और सूर्य से जल-कुंड भिन्न हैं तभी प्रतिबिम्ब पड़ता है'।[1] तात्पर्य यह है कि आकारवान् पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब सम्भव है निराकार का नहीं। इसके अतिरिक्त प्रतिबिम्बी और जिस पर प्रतिबिम्ब पड़ता है वे दो पृथक् वस्तुएं होनी चाहिये। परन्तु अद्वैतवाद में ब्रह्म ही एक सत्ता है जो निराकार है। स्वामी जी का कहना है कि 'परमेश्वर के निराकार, सर्वत्र आकाशवत् व्यापक होने से ब्रह्म से कोई पदार्थ व पदार्थों से ब्रह्म पृथक् नहीं हो सकता और व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से एक भी नहीं हो सकता। जो एक हो तो व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध कभी नहीं घट सकता।[2] और जो वेदान्ती अन्तः-करणोपाधि से ब्रह्म को जीव माने तब दयानन्द उत्तर देते हैं कि 'तुम्हारी बात बालक के समान है। अन्तःकरण चलायमान, खण्ड-खण्ड और ब्रह्म अचल और अखण्ड है। यदि तुम ब्रह्म और जीव को पृथक्-पृथक् न मानोगे तो इसका उत्तर दीजिये कि जहां-जहाँ अन्तःकरण चला जायेगा वहां-वहां के ब्रह्म को अज्ञानी कर देवेगा वा नहीं ? जैसे छाता प्रकाश के बीच में जहां-जहां जाता है वहां-वहाँ के प्रकाश को आवरणयुक्त और जहाँ-जहां से हटता है वहां-वहां के प्रकाश को आवरणरहित कर देता है वैसे ही अन्तःकरण ब्रह्म को क्षण-क्षण में ज्ञानी, अज्ञानी, बद्ध और मुक्त करता जायेगा'।[3] फिर इस मत से स्मृति की सत्ता बनाये रखना भी कठिन हो जायेगा क्योंकि यहां के ब्रह्म ने जो देखा व सुना उसका उससे अन्य देशस्थ ब्रह्म को स्मरण न होवेगा। और जो यह उत्तर दिया जाय कि ब्रह्म तो एक है इससे स्मरण हो जावेगा तब दयानन्द कहते हैं तब तो एक ठिकाने अज्ञान व दुख होने से सब ब्रह्म को दुख व अज्ञान भी हो जाना चाहिये'।[4] परन्तु लोक में सर्वथा इसके विपरीत है। एक के दुख-सुख का दूसरे को अनुभव नहीं होता। यदि अद्वैतवाद के इस अन्तःकरण अवच्छेदवाद को माना जाय, तब प्रश्न उठता है कि दुखः-सुख अन्तःकरण को

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० ३००–३०१।
२. वही, पृ० ३०१।
३. सत्यार्थप्रकाश पृ० ३०१।
४. वही, पृ० ३०१।

होते हैं या तद्स्थानी ब्रह्म को। अन्तःकरण तो जड़ है उसमें सुख-दु ख का प्रसंग ही नहीं उठता। अब केवल ब्रह्म रह जाता है तब अर्थापत्ति से ब्रह्म ही दुखः-सुखों का भोक्ता माना जायेगा। इससे ब्रह्म के शुद्धत्व का बाध हो जायेगा। इसके अलावा स्वामी शकर अविद्या को अनादि अनन्त एवं नैसर्गिक मानते हैं।[1] इसका अर्थ है कि अविद्या अनादि काल से है और अनन्त तक रहेगी एवं स्वाभाविक है। तब यह किसका स्वभाव है ? यदि जीव का कहो तो जीव का अपना गुण होने से तिरोभाव का प्रश्न नहीं उठता, फिर मुक्ति का उपदेश करने वाली श्रुतियों की क्या उपादेयता है। यदि कहो कि यह जीव का स्वभाव नहीं परन्तु पृथक् है तथा समष्टिरूप में स्वभाविक है, व्यष्टि रूप में नष्ट होने वाली है इसलिये जीव को मुक्ति का आदेश है। तब द्वैतवादी कहेगा कि अन्तःकरण अवच्छेदवाद में अन्तःकरण के अन्य स्थल पर चले जाने पर पूर्वस्थानी ब्रह्म की मुक्ति हो गई, इस प्रकार मुक्ति स्वमेव एवं सुसाध्य है। इस पर यदि ब्रह्मवादी कहे कि मुक्ति से तात्पर्य उपाधिनाश से है तब यह व्यर्थ का अपलाप है क्योंकि जिसको दुखः-सुख हो उसी की मुक्ति का श्रुति वाक्यों में एक बुद्धि से निश्चय किया गया है। अन्तःकरण तो जड़ है इससे अन्तःकरण स्थित ब्रह्म जीव बनकर सुख-दुःख का भोक्ता है अतः अद्वैतवादी के मत में ब्रह्म की मुक्ति का ही प्रसंग है। आचार्य शंकर कहते हैं कि परमात्म देव अपनी माया से स्वयं ही मोहित हुए के समान मोह-ग्रस्त हो रहा है'। इससे इस मत में ब्रह्म का ही बन्ध व ब्रह्म की ही मुक्ति सिद्ध होती है जो श्रुति व बुद्धि दोनों के ही विरुद्ध है।

शंकराचार्य उपनिषदों में दीख पड़ने वाली अद्वैतपरक श्रुतियों को अपना रक्षक बना लेते हैं। और जहां कहीं भी तर्क से अद्वैत की असमर्थता प्रकट होती है, आप एक चतुर तार्किक की भांति तुरन्त कह देते हैं कि श्रुति में द्वैत मानने पर अद्वैत समर्थक श्रुतियों का क्या होगा।[2] अतः ऐसी अवस्था में आपके विचार

---

१. 'एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूप'। वेदान्त सूत्र पर शंकर भाष्य की चतुःसूत्री से।
२. 'सत्यद्वैतमिति श्रुतिकृतोविशेषो न स्यात् सांख्यादि दर्शनेनाविशेषात' माण्डुक्योपनिषद् पर शंकर भाष्य।

में द्वैतवाद की द्योतक श्रुतियां सांसारिक अर्थात् व्यावहारिक स्तर की हैं, ये परमार्थ की नहीं है। परन्तु हमारा विचार है कि उपनिषदों में कहीं भी इस प्रकार के विभाजन की गन्ध नहीं आती। तथ्य तो यह है कि हर एक भाष्यकार श्रुतियों का भाष्य अपनी इच्छानुसार करने की धुन में श्रुति वाक्य की यथार्थता को भी भूल जाता है। उपनिषदों में अद्वैत एवं द्वैत दोनों ही सिद्धांतों के समर्थक मन्त्र मिलते है। इसी प्रकार श्रुतियों में जगत् की रचना एवं जीव की दशा का जिस यर्थाथता से वर्णन किया गया है वह कभी भी किसी भी भ्रमवादी द्वारा वर्णन किया गया नहीं हो सकता। उपनिषद् के ऋषियों के लिये संसार सत्य है एवं जीव की सत्ता ब्रह्म से पृथक है जैसा कि स्वामी दयानन्द ने माना। परमात्मा जीव से अति सूक्ष्म होकर जीव में भी व्यापक है ये दोनों छाया व आतप की तरह हृदय की गहनतम गुफा में लिखते हैं।[1]

विज्ञान् भिक्षु एवं भास्कराचार्य के भेदाभेदवाद में हमें एक-दूसरे प्रकार का अद्वैतवाद मिलता है। इनके मत में जीवात्मा ब्रह्म से पृथक् नहीं है वल्कि उसी का अंश है; जैसे अग्नि से चिंगारियां निकलती हैं जो अग्नि से पृथक् नहीं है बल्कि अग्नि ही हैं। स्वामी दयानन्द इसको स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि यदि जीव ब्रह्म का अंश है तो यह मानता पड़ेगा कि ब्रह्म अवयवी है जो अवयवी नहीं होगा तो जीव चिन्गारी के सदृश नहीं हो सकेगा परन्तु दूसरी ओर ब्रह्म को सावयव मानने का अर्थ होगा ब्रह्म को परिणामी एवं नाशवान् मानना। इससे ब्रह्म सत्य, ज्ञान एवं अनन्त नहीं रहेगा।

वल्लभाचार्य जीव को अनादि कहते हैं, परन्तु ब्रह्म से पृथक् नहीं मानते। जीवास्था में ब्रह्म की केवल आनन्द की शक्ति दब जाती है सत् एवं चित्त रहता है। निम्बार्क कहते हैं कि जीव ब्रह्म के ही हिस्से हैं आप अज्ञान को जीव का धर्म बताते हैं।[2] रामानुजाचार्य जीव को नित्य परन्तु ब्रह्म का विशेषण एवं शरीरवत् मानते हैं। आपके मत में भी जीव ब्रह्म से पृथक् नहीं है, क्योंकि

१. 'छायातपौ ब्रह्म विदो वदन्ति'। क० उ०, १-३-१।

२. History of Indian Philosophy, V. 3. P. 413;
S. N. Dass Gupta.

इनमें स्वगत भेद हैं। इस मत में जीव ब्रह्म का अंश भी है परन्तु इसके और ब्रह्म के स्वरूप में भेद है। जीव ब्रह्म का अंश इस रूप में नहीं है कि वह ब्रह्म का अवयव है क्योंकि ब्रह्म अवयव रहित है जीवात्मा ब्रह्म का कार्य है क्योंकि उससे पृथक् उनका कोई अस्तित्व नहीं है परन्तु ब्रह्म से उत्पन्न हुए कार्य के समान नहीं है।[1] रामानुज के दर्शन में अस्पष्टता है। इसका कारण है कि रामानुज शंकर की तरह भ्रमवादी भी नहीं बनना चाहते थे, परन्तु दूसरी तरफ अद्वैत समर्थक श्रुतियों का अर्थ अद्वैत में ही करना चाहते थे। श्री रामानुज न तो साहसपूर्वक भास्कर के समान जीव को ब्रह्म का अंश मानने को तैयार हैं और ना ही दयानन्द की भांति अद्वैत छोड़ने को तैयार हैं। स्वामी दयानन्द जीव के अस्तित्व को परमात्मा के अस्तित्व से नहीं बांधते वरन् यह परमात्मा के समान ही अनादि है। दयानन्द के दर्शद में ब्रह्म में किसी भी प्रकार का भेद नहीं है जैसा कि रामानुज स्वगत भेद मानते हैं।

उपरोक्त प्रायः सभी दार्शनिकों ने वेदान्त दर्शन पर भाष्य लिखे हैं। स्वामी दयानन्द ने ब्रह्म सूत्र पर कोई भाष्य तो नही लिखा लेकिन कुछ सूत्रों को अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में अवश्य लिखा है। स्वामी दयानन्द वेदान्त व उपनिषदों में ब्रह्म-जीव भेदवाद को देखते हैं। दयानन्द कहते हैं कि जो वेदान्त सूत्रों में भेदवाद का कथन न होता तो "**नेतरोऽनूपपत्तेः**" (वेदान्त १. १. १६) **भेद व्यपदे शाच्च**" (१. १. १७) में जीवात्मा में सृष्टि उत्पत्ति का निषेध एवं जीव में आनन्द का अभाव न बताते।"[2] वेदान्त में भेदवाद है या नहीं यह तो इससे स्पष्ट है कि यदि वेदान्त दर्शन ब्रह्मवादी होता तब शंकर के बाद रामानुज, बल्लभ, निम्बार्कादि को ब्रह्म सूत्रों पर शंकर के विरुद्ध भाष्य करने की क्या आवश्यकता थी। वेदान्त दर्शनों में माया व भ्रमवाद की गन्ध तक नहीं है। स्वयं आचार्य शंकर ब्रह्म सूत्रों के भाष्य में उस समय बड़ी उलझन में पड़ जाते हैं जब वहां ब्रह्म-जीव भेद एवं प्रकृति की सत् सत्ता का प्रतिपादन आ जाता है। उस समय शंकर उन्हें व्यवहारिक स्तर के सूत्र कहकर उपाधि भेद

---

१. Indian Philosophy, Vol. 2, P. 692;
Dr. S. Radhakrishanan.

२. 'सत्यार्थप्रकाश, पृ० ३०५-३०६।

से उनका भाष्य करते हैं आश्चर्य की बात तो यह है कि सारा का सारा वेदान्त दर्शन ऐसे सूत्रों से भरा पड़ा है जहां जीव व संसार को सत् कहा है। मुक्ति में भी जीव में सृष्टि कर्तृत्व नहीं होता, ऐसा वेदान्त का कथन है।[1] इस पर शंकराचार्य का स्वयं का भाष्य यही कहता है कि मुक्ति में जीव सृष्टि-क्रिया में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। प्रश्न है कि जब मिथ्या ज्ञान का तिरोभाव होने पर जीव अपने वास्तविक स्वरूप ब्रह्मत्व को पा जाता है तब उसमें क्यों नहीं सृष्टि कर्तृत्व आ जावेगा ? वेदान्त जीव में सृष्टि कर्तृत्व इसलिये नहीं मानता कि जीव की इतनी सामर्थ्य ही नहीं है। फिर मुक्त पुरुष आनन्द का भोग संकल्प शरीर से करते हैं।[2] यदि मुक्ति में जीवात्मा का ब्रह्म हो जाना वेदान्त को मान्य होता, तब आनन्द भोग के लिये संकल्प शरीर की क्या आवश्यकता थी। इससे यही प्रतीत होता है कि वेदान्त को ब्रह्म व जीव का भेद मान्य है और यहां पर स्वामी दयानन्द की जीव की धारणा अन्य दार्शनिकों से, प्राचीन वैदिक साहित्य के अधिक समीप प्रतीत होती है।

———

१. 'जगद् व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च'। वे० सू०, ४-४-१७।
२. 'भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्'। वे० सू०, ४-४-११।

६

प्रकृति
(MATTER)



विश्व की वास्तविकता

भौतिकवादी विचारधारा—ग्रीक दार्शनिक डेमोक्रिट्स एवं लोसीपस का परमाणुवाद सम्भवतः प्राचीनतम् भौतिकवादी सिद्धान्तों में है। इन दार्शनिकों के अनुसार ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति अर्थात् जड़ व चेतन सृष्टि, सूक्ष्म, वृत्ताकार एवं गतिशील परमाणुओं का ही विकारमात्र है। जीव व जड़ जगत का गुणात्मक भेद वास्तव में देखने मात्र का है, इन दोनों का समान कारण होने से तत्त्वतः इनमें कोई भेद नहीं है। जीव की अमरता एवं सृष्टि का उद्देश्य सब मिथ्या कल्पनायें हैं, समस्त ब्रह्माण्ड प्राकृतिक नियमों के आधीन क्रियाशील है। लोसीपस के इन्हीं सिद्धान्तों का ऐपीक्यूरस व ल्यूक्रिट्स ने विशद् वर्णन किया है।

आधुनिक युग में, भौतिकवाद को विज्ञान से पर्याप्त बल मिला है। भौतिक शास्त्र की खोजों ने सिद्ध कर दिया है कि इस समस्त ब्रह्माण्ड का निर्माण तीन तत्त्वों-इलेक्ट्रोन, न्यूट्रोन व प्रोटोन से हुआ है। परमाणु भी इन्हीं तीनों का विकार हैं। आधुनिक भौतिकवादी अधिकतर विकासवादी हैं। वे संसार के जड़ पदार्थों के साथ-साथ जीव (Life) की उत्पत्ति इन्हीं जड़ तत्वों से मानते हैं। आज भौतिकवाद को विज्ञान की प्रत्येक खोज से बल प्राप्त होता है और वह कह उठता है कि आज हमने परमाणु का विखण्डन किया है, कल आत्मा कहा जाने वाले तत्त्व का स्वरूप भी भौतिक शक्तियों से निश्चित कर दिखायेंगे। भौतिकवाद, द्रव्य को ही सब कुछ मानता है इसमें पराभौतिकी शक्ति आत्मा व परमात्मा को कोई स्थान नहीं है।

प्रत्ययवादियों के विचार—संसार की सत्ता के विषय में दूसरा प्रमुख सिद्धांत प्रत्ययवाद (Idealism) है। यह सिद्धान्त भौतिकवाद का ठीक विरोधी है। भौतिकवाद में आध्यात्मिक तत्त्व चेतना को भौतिक पदार्थों से उत्पन्न हुआ माना है, तो प्रत्ययवादी संसार को चेतन सत्ता से उद्भूत मानते हैं। प्रत्ययवादी (Idealist), आध्यात्मिक तत्त्वों को भौतिकवाद के पंजे से बचाने की धुन में द्रव्य की द्रव्यता को समाप्त कर, उसे जीव या परमात्मा का मानसिक विकार-मात्र मानते हैं भौतिकवादी द्रव्य को बचाने के लिए आध्यात्मिक तत्त्व की बलिदे देते हैं। प्रत्ययवादी द्रव्य को ही मानसिक विकार का रूप बना देते हैं। प्रत्यय-वाद का तात्पर्य है कि प्रत्यक्ष में आने वालाजगत् मानसिक विचारों से पृथक नहीं है। इस मत के अनुसार मानसिक विचार बाह्य जगत् की उत्पत्ति करते हैं। सृष्टि निर्माण के लिये किसी भौतिक द्रव्य की आवश्यकता नहीं है जो सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व या बाद में विद्यमान हो।

प्लेटो—प्लेटो यूनान का प्रसिद्ध दार्शनिक था। यह सुकरात का शिष्य था। संसार की सत्ता के विषय में उसका कथन है कि बाहर जो भी हम देखते या प्रत्यक्ष करते हैं वह वास्तविक जगत् नहीं है वरन् वास्तविकता की प्रतिच्छाया मात्र है। संसार के पदार्थ किसी सत् पदार्थ की अधूरी एवं अपूर्ण प्रतिलिपि मात्र हैं। पदार्थ, पदार्थों का प्रत्यय (Idea) हैं जो सत् पदार्थों की दुनिया में नमूने एवं आदर्श के रूप में सुरक्षित हैं। प्लेटो के अनुसार मनुष्य एवं मनुष्यता दो पृथक् सत्तायें हैं, मनुष्य के मरने पर मनुष्यता का नाश नहीं होता। मनुष्यता का प्रत्यय (Idea) जो स्वर्ग में है, अमर है। उसी के आधार पर व रूप में संसार के मानव बनते हैं। इस प्रकार हर वस्तु का प्रत्यय है। प्लेटो कहीं-कहीं इसे ईश्वरीय प्रत्यय भी कहते हैं। प्लेटो के दर्शन में यही सामान्य और विशेष हैं। मनुष्यता सामान्य है तथा मनुष्य विशेष है परन्तु हमारा यहां पर तात्पर्य केवल इससे है कि प्लेटो के दर्शन में बाह्य जगत् का अस्तितव सत् नहीं है। वरन् यह जगत ईश्वर द्वारा निर्मित सामान्यों की दुनिया का प्रतिबिम्ब है।

प्लेटो की समालोचना—प्लेटो ने सामान्य (प्रत्यय) को विशेष से इस प्रकार अलग कर दिया कि सामान्य कभी विशेष से मिल ही नहीं सकता। प्लेटो का प्रत्यय केवलमात्र विचार नहीं है बल्कि वस्तु है जिसके बारे में विचार किया

जाता है। प्लेटो के सिद्धान्त में एक भारी कमी और भी है जिसकी ओर रसल ने संकेत किया है कि प्लेटो के दर्शन में प्रत्यय ईश्वर द्वारा निर्मित हैं तथा साथ ही अनादि भी हैं। रसल इस पर आपत्ति उठाते हैं कि प्रथम तो प्रत्यय को अनादि होने से परमात्मा बना कैसे सकता है, दूसरे परमात्मा भी प्रत्यय मनुष्य को तब तक नहीं बना सकता जब तक कि उसको बनाने का प्रत्यय न हो और प्रत्यय प्लेटो के मानव प्रत्यय से ही प्राप्त हो सकता है (जिसको कि बनाना है)। आगे रसल कहते हैं कि कालातीत पदार्थों का निर्माण नहीं हुआ करता। जो दुनिया देश-काल में स्थित है उसी का निर्माण सम्भव है। प्लेटो के दर्शन में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाले संसार को भ्रम एवं बुरा कहा गया है। इसका यह अर्थ हुआ कि निर्माता ने भ्रम एवं पाप का निर्माण किया है। इस पर प्रश्न उठता है कि परमात्मा ने भ्रम-रूप संसार का निर्माण क्यों किया ? क्या वह सत् पदार्थों की दुनिया से सन्तुष्ट नहीं था।

प्लेटो द्वारा निर्मित सामान्य व विशेष की गहरी खाई, अरस्तु के दर्शन में प्लेटो की आलोचना बनकर आयी। अरस्तू सामान्य एवं विशेष को इसी विश्व में मानते हैं। उनके मत में सामान्य विशेष से पृथक नहीं है। प्लेटो ने अपने दर्शन में द्रव्य की सत्ता को स्वीकार किया है परन्तु वह इसके विषय में साफ-साफ नहीं बताते। प्लेटो कहते हैं कि ब्रह्माण्ड को अनियमित रूप में देखकर ईश्वर ने इसको नियमित एवं क्रमानुसार बनाया'।[1] रसल का ख्याल है कि यहां पर प्लेटो यह नहीं मानते कि ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण शून्य से किया जैसा कि यहूदी व ईसाइयों का ख्याल है परन्तु पूर्व ही वर्तमान द्रव्य (matter) से

---

1. "Finding the whole visible sphere not at rest, but moving in an irreguler and disorderly fashion, out of disorder he brought order" (Thus it appears that Plato's God unlike the Jewish and Christian God did not create the world out of nothing, but rearranged pre-existing matter). History of Western Philosophy, P. 165, Bertrand Russell 1946.

किया। द्रव्य की सत्ता को स्वीकाद करने पर भी प्लेटो का दर्शन यथार्थवादी (realism) नहीं कहा जा सकता क्योंकि संसार के निर्माण की वास्तविक सामग्री तो प्रत्यय (Ideas) हैं जिनकी द्रव्य पर छाप पड़ती है। प्लेटो के मत में दृश्यमान जगत प्रत्ययों का प्रतिबिम्ब मात्र है।

स्वामी दयानन्द के दर्शन में प्लेटो के दो दुनिया के सिद्धान्त जैसा कोई विचार नहीं है। यदि प्लेटो के सामान्य, ईश्वरीय ज्ञान में ऋत के रूप में प्रकृति के शाश्वत नियम हैं तब स्वामी दयानन्द इस रूप में इसे मान लें, लेकिन उस अवस्था में प्लेटो की दो विश्वों की धारणा स्थिर नहीं रहेगी। क्योंकि प्लेटो के मत में अनुभव में आने वाला विश्व असत् है और अनुभव से परे व्यवहार शून्य विश्व सत् है इसे स्वामी दयानन्द मानने को तैयार नहीं हैं। स्वामी जी के दर्शन में वही जगत् सत् है जिसकी सत्ता किसी भी रूप में चेतन पर आश्रित नहीं है। दयानन्द के विचारानुसार व्यक्ति रहें या जायें संसार के किसी भाग का कोई प्रत्यक्ष करे या न करे, इन्हें इस संसार के किसी कार्य का ज्ञान हो या न हो, इस जगत् के अस्तित्व पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

बर्कले—भौतिकवाद के विरुद्ध सबसे भयंकर एवं शक्तिशाली आक्रमण बर्कले के प्रत्ययवाद (Idealism) का रहा है। उनका दर्शन द्रव्य की सत्ता को नष्ट कर देता है। उनके मत में द्रव्य नाम का कोई पदार्थ नहीं है बल्कि वस्तुओं का अस्तित्व एवं सत्ता हमारे प्रत्यक्ष पर आधारित है। इसका तात्पर्य है कि जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं वह वास्तव में हमारे मस्तिष्क की अनुभूतियां (Sensations) मात्र होते हैं, जिनका हम बाह्य जगत् में वस्तुरूप में प्रत्यक्ष करते हैं। हमारी अनुभूतियों से पृथक् पदार्थों की कोई सत्ता नहीं है। इस पर प्रश्न उठता है कि जिन पदार्थों को कोई नहीं देखता उनका अस्तित्व कैसे रहता है? इसके उत्तर में इनका कहना है कि वे पदार्थ परमात्मा के मस्तिष्क में रहते हैं। यदि हम इसकी शंकर से तुलना करें तब व्यष्टि अविद्या जीव के जगत् का कारण होती है एवं समष्टि रूप से माया समग्र जगत् का कारण होती है, जिसे ईश्वर बनाता है।

बर्कले की समालोचना—बर्कले का आगे कहना है कि हमें केवल वस्तु के गुणों का प्रत्यक्ष होता है वस्तु का नहीं। यह गुण हमारे मस्तिष्क से बाहर नहीं

हैं इसलिए हम अपने ही मानसिक विचारों का प्रत्यक्ष करते हैं। बर्कले का यह सिद्धान्त इस भ्रान्त उक्ति पर आधारित है कि (१) मानसिक प्रत्यय मनस् से बाहर नहीं है (२) वस्तुओं का ज्ञान जिस रूप में कि उनका प्रत्यक्ष होता है, मानसिक प्रत्यय हैं (३) अतः वस्तुएं मनस से बाहर नहीं हैं। इस उक्ति में मुख्य दोष यह है कि इसमें मानसिक प्रत्यय (Idea) तथा वस्तु को एक कर दिया है जबकि प्रथम रूप में प्रत्यय को ज्ञान-क्रिया के अर्थ में, और दूसरे में प्रत्यय को वस्तुरूप में लिया गया है। जोड (Joad) का कहना है कि विचार क्रिया कभी भी वस्तु नहीं हो सकती क्योंकि विचार-क्रिया किसी वस्तु के बारे में हो रही है।[1] विचार-क्रिया और वस्तु इन दोनों को एक कर देना भारी भूल है। अतः बर्कले का यह मत व्यवहार एवं बुद्धि दोनों के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त प्रश्न उठता है कि जब हर मनस् की अपनी अलग दुनिया है तब कुछ कम या अधिक रूप में सबकी अनुभूतियां एक सी क्यों हैं? जब कि मनुष्यों के विचार, चिन्तन एवं इच्छाओं में भारी भेद पाया जाता है? फिर हम अपने विचारों के अनुसार अपने जगत की रचना क्यों नहीं कर लेते तथा हम क्यों वातावरण के दबाव में आकर अपनी इच्छाओं को दबा देते या नष्ट कर देते हैं? यदि हम अपनी-अपनी दुनिया के निर्माता है तब हम क्यों नहीं अपनी-अपनी दुनिया बना लेते और जीवन में क्यों नहीं निराशा से बच जाते? दूसरे कोई वस्तु हमारे हजार विपरीत चिन्तन पर भी अपना स्वरूप क्यों नहीं बदलती। इस पर यदि कहा जाय कि समस्त वस्तुयें ईश्वर के मस्तिष्क में हैं तब प्रथम तो, ईश्वर का अस्तित्व क्या हमारा विचारमात्र नहीं है जैसा कि ह्यूम ने बर्कले के अनुभववादी विचारों का बौद्धिक परिणाम निकाला है। इसके अतिरिक्त क्या अपने सदृश्य दूसरे जीवों का मानना एक भूल न होगी जब कि यह भी प्रत्ययमात्र हैं। इस प्रकार ईश्वर सहित सारा संसार विचारमात्र रह जायेगा जैसा कि

1. "But the objects of an act of thought can never be the same as the act of thought of which it is an object" Introduction to Modern Philosophy.

P. 10, C. E. M. Joad, 1953.

ह्यूम कहता था । इस स्थिति पर पहुँचने में ह्यूम का अपना कोई दोष नहीं है, यह तो अनिवार्य तार्किक परिणाम था उस अनुभववादी प्रणाली का जिसके बीज देकर्त के दर्शन में पाये जाते हैं एवं जिसका प्रयोग लॉक ने तथा बाद में अधिक उत्साहपूर्वक बर्कले ने किया ।

भारतीय दर्शन में आदर्शवाद (Idealism in Indian Philosophy)—भारतवर्ष में शंकराचार्य जी का अद्वैतवाद भी आदर्शवाद ही है । शंकराचार्य जी केवल ब्रह्म को सत्य मानते हैं । उनके दर्शन में जगत् का अस्तित्व अर्थात् चित् व अचित् का द्वैत मायामात्र है, परमार्थ में केवल अद्वैत है । शंकराचार्य जगत् के मिथ्यात्व को समझाने के लिये जगत् को कभी मायावी की मिथ्या माया के प्रसारण के रूप में कहते हैं, जैसे जादूगर अपने जादू से कभी आकाश में जाता दिखायी पड़ता है, तो कभी पृथिवी पर, वास्तव में वह न कहीं जाता है न आता है । कभी वे परिणामवाद को प्रकट करने वाली उपमा का सहारा लेते हैं, जैसे वह कहते हैं कि समुद्र के फेन के समान यह यह जगत् ब्रह्मरूपी उपादान से बना है ।[1] मालूम यह देता है कि विशुद्ध विवर्तवाद के सहारे चलना उन्हें कठिन प्रतीत हुआ इसलिये कहीं-कही उन्होंने परिणामवाद की द्योतक उपमाओं का सहारा भी लिया ।[2] परन्तु वे ब्रह्म-परिणाम को मानते नहीं थे । श्रुति में अनेक ऐसे स्थल आते हैं जो ब्रह्म-परिणामवाद के समर्थक मालूम पड़ते हैं उनकी व्याख्या वे परिणामवाद के अनुरूप ही करते हैं । जगत् के विषय में उनके लेखों में कहीं परिणामवाद और कहीं विवर्तवाद दोनों का ही उल्लेख मिलता है । श्री शंकराचार्य पर गौणपाद की माण्डूक्यकारिकाओं का काफी प्रभाव मालूम पड़ता है । माण्डूक्यकारिकाओं में जगत् की सत्ता को एकदम भ्रम बताया है । तथा उन पर लिखे अपने भाष्य में शंकर स्वामी भी जगत् को मायावी की माया के समान मिथ्या मानते हैं और इसका प्रतिपादन करते हैं कि सत्य केवल ब्रह्म

---

१. 'आत्मभूतनामरूपोपादनभूतः सन्सर्वज्ञो जगन्निर्मिमीत इत्यविरुद्धम् ।' ऐ० उ० १-१-२ पर शंकरभाष्य, पृ० ३७ गी० प्रेस ।

२. 'सलिलफेनस्थानीये आत्मभूते नामरूपे अव्याकृते आत्मैकशब्दवाच्ये व्याकृतफेनस्थानीयस्य जगतः उपादान भूते संभवतः ।' वही, पृ० ३६ ।

ही है। शांकर मत में जगत् के स्वरूप को निश्चित करने में हमें इस सम्प्रदाय के अन्य पश्चात्वर्ती विद्वानों से बड़ी सहायता मिलती है। इन्हें हम बौद्धों के बाद देखेंगे। यहां पर शंकर स्वामी को समझने के लिये बौद्धों के प्रत्ययवाद को समझना आवश्यक है क्योंकि शंकर स्वामी का अधिकांश मत बौद्धों के शून्यवाद से प्रभावित है।

बौद्ध पंडित नागार्जुन व चन्द्रकीर्ति ज्ञान को दो प्रकार का लोक संवृति व परमार्थ ज्ञान के रूप में मानते हैं। अतएव नागार्जुन अपनी माध्यमिककारिका में कहते हैं कि बौद्धों के दर्शन में दो प्रकार का सत्य है, एक तो अज्ञान से ढका हुआ सवृत्ति सत्य जो साधारण बुद्धि पर आश्रित है तथा दूसरा परमार्थ सत्य जो कि निरपेक्ष है। संवृत्ति का अर्थ है ढका हुआ। चन्द्रकीर्ति इसे ही सब तरफ से अज्ञान से ढका हुआ कहते हैं।[1] कार्य-कारण का यह जगत् जिसमें एक कार्य अपने कारण पर आश्रित है, तथा जहां किसी पदार्थ की वास्तविकता का पता नहीं चल सकता, संयोग-वियोग से चलता दिखाई देता है। सत्य, अज्ञान से इस तरह ढका हुआ है कि वास्तविकता का पता नहीं चल सकता। यही अज्ञान का पर्दा लोक संवृत्त से कहा गया है। साथ ही इसे मिथ्या संवृत्ति से अलग भी बताया है। मिथ्या सवृत्ति रज्जु में सर्प के भ्रम व आधारहीन भ्रम का नाम है। इसका मिथ्यात्व जगत् में ही सिद्ध हो जाता है। नागार्जुन के विचार में जगत् दृश्य इस मिथ्या संवृत्ति की तुलना में सत्य है, वास्तव में नहीं। क्योंकि नागार्जुन स्पष्ट कहते हैं कि जगत् की स्थिति मृगतृष्णा या स्वप्नवत् मिथ्या है।[2] भ्रम के आरोप करने के लिये आधार की आवश्यकता होती है जिसमें आरोप किया जाये, यथा सर्प की भ्रांति का आधार रज्जु है। परन्तु बौद्धों के दर्शन में ऐसी किसी स्थायी सत्ता को स्थान नहीं है जिसके आधार पर जगत् प्रपंच की सृष्टि हो। बस यहीं पर बौद्धों व शंकर में भेद है। शंकर जगत् प्रपंच को ब्रह्म पर आरोपित मानते हैं। यह ब्रह्म ही है जो रज्जु के समान जगत् भ्रांति का आधार है।[3] परन्तु इससे आचार्य शकर यर्थाथवादी नहीं बन सकते क्योंकि

१. माध्यमिक वृतः, १४-८।
२. वही, १३-८।
३. देखिये, माण्डूक्यकारिका, वैतथ्य-प्रकरण, का० १२ पर शंकर भाष्य।

इनका ब्रह्म अचिन्त्य एवं परिणामरहित है। यह जगत् का परिणामी उपादान नहीं हो सकता। उन्होंने गौणपादीय कारिका १-१७ के भाष्य में जगत् को मायावी द्वारा फैलायी गई माया के समान प्रपंच संज्ञक बताया है तथा आपके मत में है परमार्थ तो अद्वैत है।[1] दृश्यमान् जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन शून्यवादी व शंकर दोनों में समान ही है। अन्तर केवल यह है कि शंकर भ्रम का आधार ब्रह्म को मानते हैं जब कि शून्यवादी इस प्रकार की कोई सत्ता नहीं मानते।

शंकर वेदान्त में माया, अविद्या, या अज्ञान एक ऐसी सत्ता है जो 'है' और 'नहीं है' एवं इनसे विलक्षण 'अनिर्वचनीय' है। इस अनिर्वचनीय शब्द ने बाद में अद्वैत सम्प्रदाय में आने वाले दार्शनिकों के लिये एक अद्भुत समस्या खड़ी कर दी कि वे माया को क्या मानें ? परन्तु साथ ही उन्हें इसका भी ध्यान रखना पड़ता था कि उनकी व्याख्या से शंकर का ब्रह्म सत्य एवं जगत् मिथ्या का सिद्धांत भी नष्ट न हो पाये। **पद्मपाद** (८२० ई०) ने, जो कि सीधे शंकर के शिष्य थे, माया की व्याख्या में इसे अज्ञान-शक्ति कहा है जो कि जड़-द्रव्य है (जड़ात्मिका अविद्या शक्ति)। इसी बीजरूप शक्ति से जगत् प्रपंच की सृष्टि होती है अर्थात् जड़ात्मिका अविद्या जगत् का उपादान है। यही जड़ात्मिका अविद्या-शक्ति शुद्ध आत्मा में रहकर एक तरफ उसके (शुद्धात्मा) सत्य स्वभाव को, जो कि वास्तव में ब्रह्म है, छिपाती है और दूसरी तरफ स्वयं को अहंकारादि मानस संकल्पों में परिणत कर लेती है।[2] यहां पर यह स्पष्ट ध्यान रखना चाहिये कि यह अज्ञान यद्यपि अनिर्वचनीय है परन्तु बौद्धों के अज्ञान के समान भ्रान्त विचाररूपी अज्ञान नहीं है बल्कि जगत् सामग्री है। **प्रकाशात्मन** (१२०० ई०) भी इसे द्रव्य रूप जगत् की सामग्री मानते हैं जो सृष्टि का उपादान है परन्तु यह ब्रह्म पर आश्रित रहने के कारण ब्रह्म से पृथक नहीं है और इसी

---

१. देखिये, माण्डूक्यकारिका, आगम-प्रकरण, का० १७ पर शंकर भाष्य।

२. 'अतःसा प्रत्यक् चित्ति ब्रह्म स्वरूपावभासं प्रतिबाध्नाति अहंकारादि अतद्रूपं प्रतिभास निमित्तं च भवति।' पंचपादिका, पृ ५; विजयग्राम संस्कृत सीरीज कलकत्ता।

अर्थ में इन्होंने ब्रह्म को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादन कारण कहा हैं।[1] **वाचस्पति मिश्र** ब्रह्म व माया दोनों को संयुक्तरूप से जगत् का उपादान कहते हैं।[2] **श्री अप्पय दीक्षित** इससे केवल इतना भेद रखते हैं कि जगत् में सत्ता ब्रह्म से है और जड़ता माया से है। **सर्वज्ञात्म मुनि** ब्रह्म को ही जगत् का वास्तविक उपादान बनाना चाहते हैं। जिसमें माया निमित्त कारण है। ये जगत् दृश्य के उत्पन्न होने में माया को ब्रह्म जितना महत्त्व नहीं देना चाहते थे।[3]

एक ही विचारधारा में माया की व्याख्या पर इस विचार विविधता का कारण स्वयं इस शब्द की जटिलता है जो कि मायावादी सिद्धांत में जगत् को प्रपंच मानने पर अवश्यम्भावी है। शंकर स्वामी माया के स्वरूप एवं इसकी परमार्थ सत्ता तथा जगत् से सम्बन्ध को स्पष्ट रूप में नहीं कह गये। शायद उनके विचार में इसकी इतनी विशेषता न हो जितनी कि बाद में हो गई। बाद के टीकाकार साफ-साफ शब्दों में एक तरफ ब्रह्म को जगत् का उपादान कहने तथा दूसरी तरफ जगत् को मिथ्या सिद्ध करने में हिचकिचाते हैं। साथ ही वे शंकराचार्य के दर्शन से भी किसी प्रकार हटना नहीं चाहते, इसलिये कोई माया को जड़ात्मिका कहता है तो कोई केवल ब्रह्म की शक्ति। लेकिन सभी इस पर सहमत हैं कि यह अज्ञान है जो सत्य को हमसे छिपाता है तथा सत् में असत् की मिथ्या प्रतीति का कारण है। प्रकाशात्मन का तो यहां तक कथन है, जैसाकि दास गुप्ता कहते हैं, कि हर जीव का अपना-अपना पृथक् जगत् है, अतएव एक की अविद्या समाप्त होने पर जगत् का उच्छेद नहीं होता क्योंकि तब अन्य जीवों की अविद्या रहती है।[4]

---

१. **'शक्तिः इति आत्मपरतंत्रतया आत्मनः सर्वकार्योपादानस्य निर्बोधत्वम्'। पंचपादिका विवरण, पृ० १३, प्रकाशात्मन्।**

२. **'अविद्या सहित ब्रह्मोपादानम्'। वे० सू० १-१-२ पर सांख्य भाष्य पर 'भामती' से।**

३. **संक्षेप शारीरिक (भाउ शास्त्री संस्करण) पृ० ३३३–३३४**

४. 'Brahman as reflected in Maya and Avidya is the cause of the world, pure Brahman is immortal and individual souls

स्वामी दयानन्द का यथार्थवाद—स्वामी दयानन्द के लिये जगत् मिथ्यात्व का सिद्धांत एकदम अवैदिक है। वह कहते हैं कि 'जो यथावत् उपलब्ध होता है उसका वर्तमान में अनित्यत्व और (उसके) परमसूक्ष्म कारण को अनित्य कहना कभी नहीं हो सकता'[1] फिर आगे स्वप्न के आधार पर जगत् के मिथ्यात्व को अनुचित बताते हुए, वह कहते हैं कि 'जो (संसार को) स्वप्न, रज्जु-सर्पादिवत् कल्पितं कहैं तो भी नहीं बन सकता, क्योंकि कल्पना गुण है।" "जैसे स्वप्न बिना देखे सुने कभी नहीं आता, जो जाग्रत अर्थात् वर्तमान समय में सत्य पदार्थ हैं उनके साक्षात् सम्बन्ध से प्रत्यक्षादि ज्ञान होने पर संस्कार अर्थात् उनका वासनारूप ज्ञान आत्मा में स्थित होता है, स्वप्न में उन्हीं का प्रत्यक्ष देखता है।"[2] दयानन्द दृश्यमान जगत् की वास्तविकता व उसके आदि कारण प्रकृति की नित्यता को एक शाश्वत सत्य के रूप में मानते हैं। उनके विचार से 'जैसे सुषुप्ति होने से बाह्य पदार्थ के ज्ञान के अभाव में भी बाह्य पदार्थ विद्यमान रहते हैं वैसे प्रलय में भी कारण द्रव्य वर्तमान रहता है।"[3] इनके मत में ब्रह्म जगत् का अभिन्निमित्तोपादन कारण भी नहीं हो सकता क्योंकि "उपादान कारण के सदृश्य कार्य में गुण होते हैं" अर्थात् या तो जगत् के जडादि गुणों को ब्रह्म में मानना पड़ेगा, नहीं तो प्रश्न उठेगा कि जगत् की जड़ता का क्या कारण है ? इसको वेदान्ती ब्रह्म को जगत् का निमित्तोपादान कारण मानकर नहीं समझा सकते।

शंकर स्वामी व बाद में आने वाले अद्वैतवादी विद्वान माया की एक ऐसी भूलभूलैया में पड़ गये कि उनके अपने लेख एक दूसरे के विपरीत पड़ने लगे।

---

are associated with Avidya. Individual souls have their own illusions of the world and these through similarity appear to be the permanent world. (A History of Indian Philosophy, V. 3., P. 198 by S. N. Dass Gupta).

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २१८।

२. वही पृ० २१९

३. वही, पृ० २१९

शंकर व प्रकाशात्मन जगत् को जीव द्वारा अविद्या से ब्रह्म में कल्पित कहते हैं जैसे रज्जु में सर्प। दूसरी ओर स्वयं शंकर जब अपने वेदान्त भाष्य में कहते हैं कि मुक्त पुरुषों को भी सृष्टि-निर्माण में हस्तक्षेप का अधिकार नहीं है तब ऐसा प्रतीत होता है कि दृश्यमान् जगत् का वास्तव में निर्माण हुआ है। जबकि तथ्य यह है कि शंकर परमार्थ में संसार का निर्माण हुआ नहीं मानते।[1] उनके मत में संसार की सत्ता केवल व्यावहारिक है। दयानन्द के अनुसार ब्रह्मवादियों ने माया की व्याख्या सर्वथा अग्राह्य रूप में कर उसे कभी अज्ञान, कभी जादू की शक्ति, कभी भ्रम पैदा करने वाली शक्ति, तो कभी त्रिगुणमयी प्रकृति मान लिया है। उनके अनुसार शंकर का माया को भ्रमित करने वाली शक्ति मानना और फिर उसे ही त्रिगुणमयी प्रकृति मानना सर्वथा अनुचित है।

दयानन्द के मत में दृश्यमान जगत् की सत्ता एकदम सत्य है। यह सत् प्रकृति का सत् विकार है और इसकी सत्ता किसी भी रूप में जीव या परमात्मा के चिन्तन पर आश्रित नहीं है। ना ही यह परमात्मा का विकार है जैसा कि भास्कर कहता है और ना ही शंकर की माया है जिसका स्वयं का न कोई विवेचन है और न आधार। दयानन्द की प्रकृति त्रिगुणमयी है जैसा कि साँख्य कहते हैं। यह किसी मायावी (जादूगर) की माया (जादू की शक्ति) भी नहीं है जैसा कि कभी-कभी पश्चिमी प्राच्यविदों को आभास होने लगता है, और ना ही यह विज्ञान भिक्षु की सत् प्रकृति की तरह है जो त्रिगुणमयी है परन्तु पर-ब्रह्म की ही एक शक्ति है जो प्रलय काल में ब्रह्म में लीन होकर एकत्व को प्राप्त हो जाती है। यह स्पीनोजा की भाषा में निरपेक्ष (Absolute) का एक रूप (Attribute) भी नहीं है। परन्तु दयानन्द के मतानुसार प्रकृति सत् है, इसका विकार संसार भी सत् है। संसार के सब पदार्थ सत् हैं, परन्तु परिवर्तनशील है। बौद्धों के क्षणिकवाद में पदार्थ क्षण-क्षण में नष्ट होकर अगले क्षण नवीन बनते हैं इससे किसी भी पदार्थ की नित्यता का प्रसंग नहीं उठता। लेकिन दया-नन्द परिवर्तन के आधार रूप द्रव्य को नित्य मानते हैं। द्रव्य के सूक्ष्म अवयवों का आपसी संयोग-वियोग नवीन वस्तुओं का सृजन करता है परन्तु द्रव्य अपने

१. माण्डूक्यकारिका २-३२ पर शंकर भाष्य

आप में नाशरहित एवं अपरिवर्तशील है। यदि क्षणिकवाद का तात्पर्य नाम-रूपात्मक जगत् की परिवर्तनशीलता से हो तब स्वामी दयानन्द इसे मान सकते हैं और शायद महात्मा बुद्ध का 'सर्वं क्षणिकं' कहने से यही तात्पर्य भी रहा होगा। स्वामी दयानन्द प्रकृति की सत्ता को सत् मानकर वैज्ञानिकों के लिये खोज का मार्ग खोल देते हैं, जिनके आविष्कारों को वे यथावत् स्वीकार करने से कभी नहीं हिचकिचाते। एक सच्चा दार्शनिक विज्ञान की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता परन्तु साथ ही विज्ञान को मर्यादा से बाहर भी नहीं जाने देता, क्योंकि उसका मस्तिष्क प्रकृति तत्त्व के अतिरिक्त पराभौतिकी आध्यात्मिक तत्त्वों का ज्ञान भी रखता है। दयानन्द प्रकृति को सत् मानकर प्रकृतिवादी नहीं बनते। यह विचार कि प्रकृति को सत् मानने वाले भौतिकवादी हो जाते हैं केवल भ्रमपूर्ण ही नहीं वरन् असंगत भी है। बर्कले द्वारा चलाये जाने वाले आदर्शवाद का यही आधार था कि प्रकृति की सत्यता की धारणा भौतिकीवादी है, इसे मानकर विज्ञान के पंजे से नहीं छूटा जा सकता फिर धर्म का क्या बनेगा जबकि बाईबिल कहती है कि ईश्वर ने संसार को शून्य से बनाया। बर्कले स्वयं पादरी थे इसलिए ईसाई धर्म को किसी भी प्रकार सिद्ध करना एवं उस विज्ञान से टक्कर लेना जो उसकी भ्रान्त धारणाओं पर कुठाराघात करता है, उनका कर्तव्य हो गया।[१] स्वयं स्वामी शंकराचार्य जब विरोधी तर्कों से निरुत्तर हो जाते हैं तब श्रुति का सहारा पकड़ते हैं और जब कोई श्रुति में द्वैतवाद भावना को दिखलाता है तब श्रुति में पाये जाने वाले अद्वैतपरक वाक्यों की दुहाई देते हैं कि फिर एकत्व का कथन करने वाली श्रुति का कैसे अर्थ करोगे। हमारी समझ में किसी वाक्य विशेष को सिद्ध करने के लिए विज्ञान या बुद्धि के विरुद्ध तर्क देना दोनों बातें अपने मत की असमर्थता प्रकट करना है।

---

१. 'He (Berkeley) believed that his denial of existence of material substance enabled, materialism, scepticism and atheism to be refuted and the cause of religion to be more firmly established than hither to." Encyclopedia Britannica Vol. 12, P. 66, pnblished in 1960.

जगत् भ्रम से बचने के लिए श्री रामानुजाचार्य को प्रकृति को अनादि मानना पड़ा। परन्तु उपनिषद वाक्यों में आये अद्वैतपरक वाक्यों की सफलता-पूर्वक व्याख्या करने की धुन में इनको भी एक विशेष प्रकार के अद्वैतवाद का आश्रय लेना पड़ा। इनके मत में प्रकृति जीव के साथ-साथ ब्रह्म के शरीर के समान है। वास्तव में प्रकृति, जो द्रव्यात्मक है जगत् का उपादान कारण है तथा ब्रह्म निमित्त। इससे रामानुज के मत में दृश्यमान् जगत् प्रपंच न होकर सत्‌रूप है। प्रकृति ब्रह्म के शरीर एवं ब्रह्म शरीरीवत् होने से ब्रह्म ही जगत् का अभिन्निमित्तोप दान कारण है। इनका कथन है कि इससे ब्रह्म के शुद्धत्व का बाध नहीं होता तथा शरीर के परिवर्तनों का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार ब्रह्म पर जगत् व्यापार का कोई प्रभाव नहीं होता। इस मत में ब्रह्म जगत् का अन्तर्यामिन् है।

इस मत के विरुद्ध कहा जा सकता है कि शरीर और आत्मा दो पृथक् तत्त्व हैं। विद्वान् कभी इनको एक नहीं कहता, अज्ञानी ही चित्-अचित् के भेद को न मानकर शरीर को ही आत्मा समझते हैं। प्रकृति व जीव को ब्रह्म का शरीर बनाने से क्या अर्थ है? शरीर रूप प्रकृति में हुए विकारों को कोई भी ब्रह्म का विकार नहीं मान सकता फिर ब्रह्म को जगत् का अभिन्निमितोपादान कारण क्यों कहा? उपादान कारण प्रकृति है, ब्रह्म नहीं और ब्रह्म प्रकृति से पृथक् ही कहा जाना चाहिये, जैसे शरीर और आत्मा पृथक् गुण वाले पृथक् तत्त्व हैं।

महर्षि दयानन्द ने इन आपत्तियों को समझते हुए एवं वेद वाक्यों में यथार्थ-वाद का प्रतिपादन देखकर स्पष्ट शब्दों में प्रकृति को अनादि तत्त्व स्वीकार किया है रामानुजाचार्य की तरह विशेषणयुक्त नहीं बल्कि स्पष्ट त्रैतवाद जिसमें ब्रह्म जीव व प्रकृति तीनों अनादि तत्त्व हैं तथा जगत् एक सत्यता है।

दयानन्द की प्रकृति की धारणा

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

ऋग्वेद मं० १ सू० १६४ मं० २॥

"(द्वा) जो ब्रह्म और जीव दोनों (सुपर्णा) चेतनता और पालनादि गुणों मे सदृश (सयुजा) व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त (सखाया) परस्पर मित्रतायुक्त

सनातन अनादि हैं और (समानम्) वैसा ही (वृक्षम्) अनादि मूलरूप कारण और शाखारूप कार्ययुक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न-भिन्न हो जाता है, वह तीसरा अनादि पदार्थ इन तीनों के गुण, कर्म, स्वभाव भी अनादि है। इन जीव और ब्रह्म में से एक तो जीव है वह इस वृक्षरूप संसार में पाप-पुण्य रूप फलों को (स्वाद्वत्ति) अच्छे प्रकार भोगता है और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को (अनश्नन्) न भोगता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप तीनों अनादि हैं।'"[1]

यद्द हम इस अध्याय के प्रथम भाग में कह आये हैं कि स्वामी दयानन्द जगत्-भ्रम के मायावादी सिद्धान्त को नहीं मानते तथा साथ ही साथ भास्कर का ब्रह्म परिणामवाद भी उन्हें वैदिक साहित्य का सही-सही मत नहीं मालूम होता, क्योंकि ब्रह्म सच्चिदानन्द एवं आप्तकाम है फिर वह अपनी किस अपूर्ण कामना की पूर्ति के लिये स्वयं को जीव एवं जगत् में परिणत करेगा। इसके अतिरिक्त ब्रह्म-परिणामवादी (भास्कर) इसका भी उत्तर नहीं दे सकते कि सर्वज्ञ ब्रह्म क्यों जीवरूप में परिणत होकर सर्वज्ञ के स्थान पर अल्पज्ञ, विभु के स्थान पर अणु-रूप व शुद्ध चिन्मय अवस्था से अविद्या के अन्धकार में, तथा जगतरूप में त्रिगुणातीत से स्वयं त्रिगुण होकर जड़ होना पसन्द करेगा ? इसी कठिनाई को अनुभव कर रामानुजाचार्य ने प्रकृति को अनादि पदार्थ माना परन्तु ब्रह्म के शरीर के समान।

स्वामी दयानन्द स्पष्ट व सीधे शब्दों में कहते हैं कि जगत् का कारण प्रकृति आदि पदार्थ है।[2] ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है तथा प्रकृति उपादान कारण है। दयानन्द तर्क देते हैं कि उपादान कारण के सदृश कार्य में गुण होते हैं इसलिये ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता। क्योंकि ब्रह्म अदृश्य और जगत् दृश्य है ब्रह्म अखण्ड और जगत् खण्डरूप है और जो ब्रह्म से पृथि-व्यादि कार्य उत्पन्न होवें तो पृथिव्यादि में कार्य के जड़ादि गुण ब्रह्म में भी होवें अर्थात् जैसे पृथिव्यादि जड़ हैं वैसा ब्रह्म भी जड़ हो जाय।[3]

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २०९–२१०

२. 'ईश्वर, जीव और जगत् का कारण से तीन अनादि है।" सत्यार्थ प्रकाश पृ० २०१

३. सत्यार्थप्रकाश पृ० २१३

परमात्मा अनादि प्रकृति से कल्प के आदि में सृष्टि का निर्माण करता है, तथा प्रलय काल में प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्मावस्था में वर्तमान रहती है उसका नाश या ब्रह्म में लय नहीं होता। जगत्-निर्माण के उपादान के रूप में यह परमात्मा पर आश्रित है, यदि परमात्मा इसे कारण रूप से कार्यरूप जगत् में परिणत न करे तब सृष्टि का निर्माण प्रकृति स्वयं नहीं कर सकती, अर्थात् कार्यरूप होने के लिये यह ब्रह्म पर आश्रित रहती है, जैसे मृत्तिका अपने विकारों, कुम्भ इत्यादि में परिणत होने के लिये कुम्भकार के आश्रित है परन्तु अपने अस्तित्व के लिये नहीं। उसी प्रकार मूल प्रकृति का अस्तित्व ब्रह्म के आश्रित नहीं वरन् प्रकृति अनादि है। दयानन्द के अनुसार प्रकृति परमात्मा की सामर्थ्य है जैसे धनिक की सार्मथ्य उसका धन होता है वह अपने धन से अनेक प्रकार के खेल रचा लेता है परन्तु स्वयं धन नहीं होता और न ही धन उसका कोई स्वाभाविक गुण होता है। प्रकृति भी न तो ब्रह्म में अध्यास है न उसका परिणाम है। स्वामी जी यह स्वीकार करते हैं कि ब्रह्म जीव व जगत् दोनों से अति सूक्ष्म होने से इनमें व्यापक है जैसे अग्नि अति सूक्ष्म हाने से लोहे में व्यापक हो जाती है। एक उपनिषद मंत्र के सहारे उसके भाष्य में स्वामी जी कहते हैं कि "एक प्रवेश दूसरा अनु प्रवेश अर्थात् प्रवेश कहाता है। परमेश्वर शरीर में प्रविष्ट हुए जीवों के साथ अनुप्रविष्ट के समान होकर वेद द्वारा सब नाम-रूप आदि की विद्या को प्रकट करता है।"[1] ब्रह्म प्रकृति के अन्दर व्यापक होकर उसको अवस्थान्तर युक्त करता है।

स्वामी जी अपनी इस त्रैतवादी धारणा के पक्ष में वेद, उपनिषद व षड्दर्शनों के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं श्वेताश्वेतरोपनिषद् का मंत्र **"अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगाजोऽन्यः।"** स्पष्ट प्रकृति अनादिवाद की घोषणा करता है। इसके भाष्य में स्वामी दयानन्द कहते हैं 'प्रकृति, जीव व परमात्मा तीनों अज अर्थात् जिनका कभी जन्म नहीं होता।'[2] उपनिषदों में स्वामी दयानन्द के यथार्थ-वाद का समर्थन करने वाले विचार पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं इसमें तनिक भी संदेह नहीं किया जा सकता। छान्दोग्य कहता है 'हे श्वेतकेतो। अन्नरूप पृथिवी कार्य से जल रूप मूल कारण को तू जान। कार्यरूप जल से

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६५
२. श्वेत० उ०, ४-५

तेजोरूप मूल और तेजोरूप कार्य से सद्रूप कारण जो नित्य प्रकृति है उसको जान। यही सत्य स्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल घर और स्थिति का स्थान है।'[१] 'यह प्रकृति समस्त जड़ जगत् का आदि कारण है। सृष्टि से पूर्व यह सब जगत् असत् के समान प्रकृति में लीन होकर वर्तमान था।'[२] 'हे सोम सत् रूप प्रकृति पूर्व ही विद्यमान थी।'[३] उपनिषदों में माया शब्द का भी यदा प्रयोग किया है जैसे उपनिषद कहता है कि 'माया को प्रकृति जानो और मायावी को परमेश्वर।'[४] उपनिषद के ऋषि ने यहां पर माया को प्रकृति माना है जो 'लोहित कृष्ण व शक्ल वर्ण की न उत्पन्न होने वाली है।'[५] जिससे वह परमात्मा सृष्टि की रचना कर देता है जिसमें एक अन्य (जीव) सत्व, रज, तम इन गुणों के चक्र में पाया जाता है।[६]

ब्रह्म सूत्र उपनिषद दर्शन के अत्यन्त समीप हैं। इन ब्रह्म-सूत्रों में शुरू से अंत तक माया शब्द केवल एक स्थान पर आया है वह भी शंकराचार्य के मायावाद के अर्थ में न आकर जगत् की सत्यता को स्वप्नवत् बताने वालों के विरुद्ध आया है। प्रसंग इस प्रकार है स्वप्नवादी (संसार को स्वप्नवत् मिथ्या वाला) कहता है कि स्वप्न में जाग्रत के समान ही सब पदार्थ होते हैं जैसे रथ के स्वप्न में रथकार एवं उनके निर्माता आदि वर्तमान होते है इसलिये स्वप्न के समान जगत् भी मिथ्या है।[७] इसका महर्षि बादरायण उत्तर देते है कि 'यह तो सब मायामात्र है क्योंकि स्वरूप से इनकी अभिव्यक्ति नहीं होती है'।[८] इससे पूर्व शास्त्रकार कह आये हैं कि वैधर्म्य के होने से स्वप्न व जाग्रत के पदार्थ एक से नहीं हो सकते।[९] यहां पर माया का अर्थ अज्ञान रूप में किया गया है जैसा कि मायावादी भी कहते हैं। परन्तु शास्त्रकार को जाग्रत की अवस्था स्वप्न के

१. '(एवमेव खलु) सोम्यान्ने···सत्प्रतिष्ठा।' छा० उ० ६-८-४ पर दयानन्द का अर्थ देखिये सत्यार्थप्रकाश पृ० २११।
२. 'असद्वा इदमग्र आसीत्।' तै०उ० २-७-१।
३. 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'। छ०उ० ६-२।
४. 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'। श्वेत०उ० ४-१०।
५. 'अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां'। वही, ४-५
६. 'तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः'। वही, ४-९।
७. वे० दर्शन, ३-२-२।
८. वही, पृ० ३-२-३।
९. वही, पृ० २-२-१।

समान मान्य नहीं है क्योंकि दोनों में गुणात्मक भेद है। एक स्वयमेव भ्रम है दूसरा समष्टि सत्य है। इसलिये मायावादी का सिद्धान्त स्वयं वेदान्त सूत्रों में प्रमाणित नहीं होता बल्कि इसके विपरीत इस शास्त्र में जगत् व प्रकृति की सत्यता एवं परमात्मा द्वारा उससे सृष्टि की रचना का व्याख्यान अनेक सूत्रों में बहुतायत से पाया जाता है।[1] यहां पर आनन्द की बात यह है कि इन सूत्रों का भाष्य शंकराचार्य जी भी जगत् की सत्यता के रूप में ही करते हैं लेकिन व्यवहारिक सत्ता के रूप में जो स्पष्टतया अनुचित है। शास्त्रकार कहीं भी इन दो प्रकार की सत्ताओं का वर्णन नहीं करता।

उपनिषदों के अध्ययन में स्वामी दयानन्द की विचारधारा का यही आधार है कि ब्रह्म जो कि परमात्मा, ईश्वर आदि नामों से पुकारा जाता है, तथा जीव व प्रकृति तीनों अनादि सत्तायें हैं।

स्वामी दयानन्द के दर्शन में प्रकृति का स्वरूप एकदम सांख्यों की प्रकृति से मिलता हुआ है। वह कहते हैं कि "(सत्व) शुद्ध (रज:) मध्य (तम:) जाड्य अर्थात् जड़ता तीन वस्तु मिलकर जो संघात् है उसका नाम प्रकृति है।"[2] यहां पर स्वामी दयानन्द का सांख्यों के अनुसार प्रकृति को मानने से उन पर सांख्यों के समान नास्तिक व प्रकृतिवादी (Materialist) होने का आरोप लगाया जा सकता है। परन्तु विरोधियों का वह आरोप सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि प्रथम तो दयानन्द प्रकृति के साथ-साथ ईश्वर व जीव को भी अनादि सत सत्ता बताते हैं दूसरे उनके मत में सांख्य भी अनीश्वरवादी नहीं है। दयानन्द सांख्य-दर्शन को अनीश्वरवादी नहीं मानते, यह हम तीसरे अध्याय में प्रमाणों के आधार पर दिखा चुके हैं। स्वामी शंकराचार्य का सांख्य शास्त्र के विरुद्ध यह प्रमुख आक्षेप था कि निष्क्रिय पुरुष एवं जड़ प्रधान से प्रधान में गति न आने से सृष्टि का उपक्रम नहीं रचा जा सकता। इस आक्षेप में तभी तक औचित्य रहता है जब तक कि हम सांख्य को अनीश्वरवादी मानते हैं। स्वामी दयानन्द ने सांख्य सूत्रों के ही आधार पर सांख्य में ईश्वरवाद का विचार बनाया है, इसलिए सांख्यों के प्रधानवत् अपने दर्शन में प्रकृति का स्वरूप मामने पर स्वामी दयानन्द प्रकृतिवादी (materialist) नहीं होते।

---

१. 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्'। वही, पृ० १-४-२३।
२. 'सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति···।' सां० सू० १-६१। इस सूत्र पर दयानन्द, सत्यार्थप्रकाश पृ० २१०।

कार्य-कारणवाद

महर्षि दयानन्द द्वारा मान्य तीन कारण—नैयायिकों की तरह स्वामी दयानन्द तीन कारण मानते हैं "**एक निमित्त, दूसरा उत्पादन, तीसरा साधारण कारण। निमित्त कारण** उसको कहते हैं कि जिसके बनाने से बने न बनाने से न बने। आप स्वयं बने नहीं दूसरे को प्रकारान्तर बना देवे। दूसरा **उपादान कारण** उसको कहते हैं जिसके बिना कुछ न बने, वही अवस्थान्तर रूप होके बने और बिगड़े भी। तीसरा **साधारण कारण** उसको कहते हैं कि जो बनाने में साधन और साधारण निमित्त हो। निमित्त कारण दो प्रकार के हैं। एक—सब सृष्टि को कारण से बनाने, धारने और प्रलय करने तथा सबकी व्यवस्था रखने वाला **मुख्य निमित्त कारण** परमात्मा। दूसरा परमेश्वर की सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्यान्तर बनाने वाला **साधारण निमित्त कारण** जीव। उपादान कारण प्रकृति परमाणु जिसको सब संसार की बनाने की सामग्री कहते हैं वह जड़ होने से आप से आप न बन और न बिगाड़ सकती है। परन्तु दूसरे के बनाने से बनती और बिगाड़ने से बिगड़ती है।" वह आगे कहते हैं "जब कोई वस्तु बनायी जाती है तब जिन-जिन साधनों से अर्थात् ज्ञान दर्शन बल, हाथ और नाना प्रकार के साधन और दिशा-काल और आकाश साधारण कारण होते हैं।"[1]

स्वामी दयानन्द के अनुसार कार्य-कारण का नियम सृष्टि का एक व्यापक नियम है। यह संसार की प्रत्येक घटना में वर्तमान पाया जाता है, जैसे आकर्षण का सामान्य नियम है जो ब्रह्माण्ड की समस्त घटनाओं में व्यापक मिलता है। वैशेषिक शास्त्र का मत है कि कारण के होने ही से कार्य होता है[2] अर्थात् कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता है परन्तु इसके विपरीत कार्य के अभाव में कारण का अभाव नहीं होता।[3] दयानन्द वैशेषिक के इस सिद्धान्त

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २१२।

२. वै० सू० ४–२–२। ३. वै० सू० १–२–२।

को यथावत् मानते हैं कि कारण के बिना कार्य सम्भव नहीं, जैसे मिट्टी के अभाव में मिट्टी से निर्मित घड़े का अभाव होगा क्योंकि हो सकता है कुम्भकार न हो या कुम्भकार भी हो परन्तु साधन न हो। अतः किसी वस्तु के बनने में उपादान, निमित्त और साधारण इन तीनों कारणों की आवश्यकता होती है। दयानन्द के मत में इस सृष्टि के भी ये ही तीन कारण हैं अर्थात् जगत् का उपादान कारण प्रकृति, निमित्त कारण ईश्वर तथा साधारण कारण दिक्, काल, जीवों के कर्म आदि हैं। सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा (निमित्त कारण) पहले से वर्तमान प्रकृति (उपादान कारण) से सृष्टि की रचना दिक्-काल आदि (साधारण कारण) से करता है। अतः दयानन्द के दर्शन में जगत् का उपादान ब्रह्म न होकर प्रकृति है जो नित्य है।

प्राचीन ग्रीक दर्शन में अरस्तू ने जगत् के पीछे चार कारणों को स्वीकार किया था वे हैं उपादान कारण (Material Cause), प्रत्यय कारण (Formal Cause), निमित्त कारण (Efficient Cause), एवं अन्तिम कारण (Final Cause)। इनमें उपादान कारण द्रव्य (Matter) है, प्रत्यय कारण जगत् का प्रत्यय है जिसके अनुसार जगत् का निर्माण हुआ है, निमित्त कारण ईश्वर है जिसने जगत् निर्माण को गति दी तथा अन्तिम कारण जगत बनाने का उद्देश्य है जिसके लिये संसार का निर्माण किया गया है। दयानन्द और अरस्तू के कार्य कारण के सिद्धान्त में कोई विशेष भेद नहीं है। अरस्तू के उपादान व निमित्त कारण बिल्कुल दयानन्द की तरह हैं तथा प्रत्यय कारण व अन्तिम कारण दयानन्द के साधारण कारण के अन्दर ही समा जाते हैं क्योंकि दयानन्द साधारण कारण में, ईश्वर के ज्ञान, दर्शन, बल तथा जीव के कर्म आदि को जिनके भोग के लिये सृष्टि का निर्माण हुआ है, लेते हैं।

कार्य-कारणवाद का नियम शाश्वत है या नहीं? क्या वास्तव में संसार की प्रत्येक घटना के पीछे कोई न कोई कारण होता है? इन प्रश्नों पर दार्शनिकों में सदैव ही शंकाएं रही हैं। ब्रिटिश अनुभववादियों में ह्यूम ने कार्य-कारण के नियम का खण्डन किया है। ह्यूम संसार की घटनाओं में कोई पूर्वापर सम्बन्ध नहीं मानते वरन् आकस्मिक संयोग मात्र मानते हैं।

ह्यूम के कार्य-कारणवाद को आकस्मिक घटनाओं के रूप में नहीं माना जा सकता। क्योंकि यदि माना जाय कि पृथक-पृथक घटनाओं के आकस्मिक सम्बन्ध को ही अज्ञानवश कार्य-कारण माना गया है। तब हम पूछते हैं कि गेहूँ के बीज से अनुकूल वातावरण मिलने पर गेहूँ का ही पौधा क्यों होता है चने या धान का क्यों नहीं होता ? यद्यपि आज के कुछ वैज्ञानिक दार्शनिक कार्य-कारणवाद के नियम को एक पुरानी कल्पना बताते हैं लेकिन फिर भी विज्ञान इसी सिद्धान्त पर आश्रित है। शून्य आकाश में मानवरहित राकेट अपने निश्चित पथ पर क्यों चलते हैं क्योंकि वैज्ञानिकों को विश्वास है कि उसके संकेतों पर राकेट सदैव ही तदनुकूल व्यवहार करेगा। यदि यह भी घटनाओं का आकस्मिक मेल होता तो सारी की सारी वैज्ञानिक गणना व्यर्थ हो जाय। वैज्ञानिक गणनायें भविष्य की घटनाओं को, निश्चित कारणों द्वारा निश्चित कार्य उत्पन्न करने के सिद्धान्त के आधार पर ही, तय करती हैं। यह तो हो सकता है कि एक कार्य के अनेक सूक्ष्म कारण होते हैं उनमें से सभी को हम न जान सकें। जैसे चीटियां अपने अण्डों को वर्षा के आगमन पर सुरक्षित स्थान पर ले जाती हैं लेकिन बिना वर्षा के भी ले जाती देखी गयी हैं। जब वर्षा नहीं होती तब टीले के असुरक्षित होने के कारण ले जाती हैं। तात्पर्य यह है कि चाहे हम किसी कार्य को कारण की सूक्ष्मता अथवा विविधता के कारण न जान सकें परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि कार्य-कारण का सम्बन्ध होता ही नहीं। जब स्वामी दयानन्द यह कहते हैं कि "कारण के न होने से कार्य कभी नहीं होता"[1] तब इससे उनका तात्पर्य यह है कि कारणावस्था कार्यावस्था से पूर्व होती है। कारणावस्था में परिवर्तन ही कार्यावस्था है। जो यह पदार्थ एक क्षण पूर्व था उसमें अगले क्षण में जो परिवर्तन हुए वह उसके कार्य हैं। लेकिन जिन पदार्थों का कोई कारण नहीं और उनकी सत्ता है, वे नित्य पदार्थ है। जिस समय पदार्थ अपनी विशुद्ध कारणावस्था में होते हैं एवं उनमें परिवर्तन नहीं होते उस समय तक उसमें कार्य-भाव नहीं होता, जैसे प्रलयावस्था में प्रकृति अपनी मूल कारणावस्था में जब तक परिवर्तनरहित बनी

१. सत्यार्थ प्रकाश पृ० २८।

रहती है उसमें कार्य-भाव तिरोहित होता है। परमात्मा के गति देने से कारणावस्था से कार्यवस्था की ओर क्रिया प्रारम्भ हो जाती है

वैशेषिक का असत्कार्यवाद व सांख्य का सत्कार्यवाद—इसी पुस्तक के पृष्ठ ७९ पर देखिये।

परिवर्तन

जब हम परिवर्तन पर विचार करते हैं तब बौद्धों के क्षणिकवाद पर विचार किये बिना इसका अध्ययन अधूरा ही रह जाता है। बौद्ध दर्शन में संसार को क्षणिक कहा गया है। महात्मा गौतम बुद्ध ने जब इस संसार को सर्वं क्षणिकं कहा तो उनका इससे तात्पर्य था कि जिस संसार में हम रहते हैं वह क्षणभंगुर है। उनके लिये यह एक विशुद्ध नैतिक प्रश्न था। अंगुत्तर निकाय में वह कहते हैं संसार अनित्य है।[1] यह ऐसा उपदेश हैं जो बौद्ध साहित्य में ही नहीं वरन् औपनिषदिक ऋषियों एवं गीता में अनेक बार कहा गया है। भगवान बुद्ध कहा करते थे सम्पूर्ण भव अनित्य, दुख एवं परिवर्तनशील है।'[2] संसार को पानी के बुलबुले की तरह देखो, मृगमरीचिका की तरह देखो तो फिर मृत्युराज तुम्हें नहीं देखेगा।[3] यहां पर संसार को क्षणिक कहने से महात्मा बुद्ध का तात्पर्य कभी भी एक विशुद्ध तार्किक सिद्धान्त के रूप में नहीं था, जोकि उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिकों का केन्द्रिय सिद्धान्त बन गया। और यदि हम डा० राधाकृष्णन् के शब्दों पर विश्वास करें (जैसा कि अविश्वास का कोई कारण नहीं दीखता) तो बुद्ध परिवर्तनों के आधार में एक स्थायी तत्त्व

---

१. 'अनिच्चावत संखारा'। बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन भाग १ पृ० ७०१ पर अंगुत्तर- निकाय से उद्धृत् ले० बलदेव उपाध्याय।

२. 'सत्वैभव अनिच्चा दुखा विपरिणामधम्मा'। अंगुत्तरनिकाय, ४–१९–५

३. 'यथा वब्बलूकं पस्से यथा पस्से मरीचिकं। एवं लोकमवेक्खन्तं मच्चु राजा न पस्सति।' धम्म पद, ९३·४

को मानते थे,[1] एवं क्षणिक कहने से उनका तात्पर्य संसार की क्षणभंगुरता से ही था।

लेकिन बाद के बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों ने इसी वाक्य को गम्भीर चिन्तन का विषय बना लिया। रत्नकीर्ति कहते हैं कि स्थिर वस्तुओं में परिवर्तन सम्भव नहीं इसलिये जिन अवस्थाओं से परिवर्तन है, केवल वही हैं और कोई स्थायी द्रव्य नहीं है। क्षणिकवाद का मूल कथन है कि कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है सब परिवर्तनशील हैं जो अब से एक क्षण पहिले था वह अब नहीं है, जैसे नदी का प्रवाह एक स्थान पर प्रतिक्षण नवीन है तो भी नदी का प्रवाह सतत् प्रतीत होता है। अर्थ-क्रिया-कारित्व का अर्थ है सत् पदार्थ प्रत्येक क्षण अपने कार्यों को उत्पन्न करता है अन्यथा वह सत् नहीं रहेगा। कार्यों को उत्पन्न करने का अर्थ है अपने स्वरूप का परिवर्तन और जहां परिवर्तन हैं वहा क्षणिकता है। इस प्रकार हर अर्थ-क्रियाकारी पदार्थ—अर्थात् सत्—क्षणिक ही है।

स्वामी दयानन्द बौद्धों की क्षणिकवाद की इस सुन्दर व प्रिय व्याख्या को नहीं मानते। उनका कथन है कि "जो यथावत् उपलब्ध होता है उसका वर्तमान में अनित्यत्व और परम सूक्ष्म कारण को अनित्य कहना कभी नहीं हो सकता।"[2] इससे स्वामी दयानन्द का तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ में वर्तमान में दिखाई दे रहे हैं वे प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं का संघातमात्र हैं, जो निरंतर परिवर्तनशील हैं क्योंकि परमाणुओं का संयोग-वियोग सदैव चलता रहता है इसलिये इनका बाह्य रूप अनित्य है परन्तु वास्तविक स्वरूप जो कि परमाणुओं से भी सूक्ष्म सत्व, रज व तम का प्रधान है उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

---

१. "There is a an unborn, an unoriginated an unmade an uncompounded; were there not, mendicants, there would be no escape from the world of the born, the originated, the made and the compounded."

(Udyana VIII 3 as quoted by Dr. S. Radhakrishnan in his book Indian Philosophy, Vol. 1, Page 379-380)

२. सत्यार्थ प्रकाश पृ० २१८।

वर्तमान के पदार्थ इन्हीं तीनों गुणों के भिन्न-भिन्न अनुपात में मिलने पर बनते हैं। स्वामी शंकर बौद्धों का खण्डन इस आधार पर करते हैं कि बौद्धों के मत में जगत् भ्रम का आधार असत् अर्थात् शून्य है। आचार्य शंकर का कहना है कि निराधार न तो जगत् हो सकता है, न भ्रम और न परिवर्तन। कान्ट का सत् पदार्थ (thing-in-itself) का विचार भी यही है कि परिवर्तन के पीछे एक नित्य पदार्थ है।[१] परन्तु हम यह भी नहीं कह सकते कि यह नित्य पदार्थ परिवर्तनशील है, वरन् हमें यह कहना चाहिये कि नित्य पदार्थ के अवयवों के संयोग-वियोग से नवीन पदार्थ उत्पन्न होते हैं स्वयं द्रव्य अपने स्वभाव से अपरिवर्तनशील है क्योंकि जो परिवर्तनशील है वह स्थायी नहीं हो सकता।

स्वामी दयानन्द के दर्शन में यह नित्य पदार्थ जोकि जगत् का उपादान है शंकर का ब्रह्म नहीं है जिसमें जगत-भ्रम होता हो वरन् प्रकृति है जो जड़ है तथा त्रिगुणात्मक है। कान्ट इसे अज्ञेय बताते हैं इसलिये वह नहीं कह सकते कि यह क्या है? क्षणिकवाद में एक भारी कमी यह है कि इस सिद्धान्त के आधार पर वस्तुओं की उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि नवीन वस्तु को जन्म देने से पूर्व क्षण में ही वस्तु नाश को प्राप्त हो चुकी होती है। फिर नष्ट पदार्थ दूसरे को क्या जन्म देगा। दूसरी तरफ जो एक सर्वथा अपरिवर्तनशील निरवयव स्थायी सत्ता को मानते हैं उनके मत में हम स्थायी पदार्थ में परिवर्तन को भी नहीं मान सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर वह पदार्थ नष्ट हो जायेगा फिर वह नवीन को जन्म नहीं दे सकता। इन कठिनाइयों को विचारते हुये हमें स्वामी दयानन्द के इस मत में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती कि यह

---

१. 'According to Aristotle, identity is necessary for all change. All change involves a permanent that changes, we cannnot think of change without a permanent. It is the truth contained in Kant's Second Analogy of Experience. Without the permanent, no relations in time are possible.' (Indian Philosophy, Vol. 1, P 376-377, Dr. S. Radhakrishnan).

सृष्टि 'संयोग-विशेषों से अवस्थान्तर दूसरी अवस्था को सूक्ष्म स्थूल-स्थूल बनते बनाते विचित्र रूप बनी है इसी से यह संसर्ग होने से सृष्टि कहाती है।"[1] प्रकृति के सूक्ष्म अवयवों में संयोग-वियोग से सृष्टि के भिन्न-भिन्न पदार्थ बनते बिगड़ते हैं परन्तु द्रव्य का नाश नहीं होता।

दिक् और काल

"निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिंगम्"। वैशेषिक सूत्र २-१-२० 'जिसमें प्रवेश और निकलना होता है वह आकाश का लिंग है।"[2] प्रत्येक वस्तु किसी स्थान में है। हम लोक में किसी ऐसी वस्तु की कल्पना नहीं कर सकते जो कहीं पर न हो। दिक् एवं काल के विषय में स्वामी दयानन्द वैशेषिक के मत को ही अपना लेते हैं। आकाश में पदार्थों की स्थिति होती है। इस ब्रह्माण्ड का हर पदार्थ किसी न किसी स्थान पर स्थित है।[3] जो पदार्थ भ्रमणशील हैं वह भी हर क्षण किसी न किसी स्थान विशेष में है। एवं हर क्रिया किसी काल में सम्पन्न होती है। यहां-वहां, इधर-उधर एवं ऊपर-नीचे यह सब दिक् के भीतर है। दिशायें भी दिक् में सम्पन्न होती हैं यथा जिधर सूर्य उगता है वह पूर्व जिधर अस्त होता है वह पश्चिम। इसी प्रकार उदय की अपेक्षा से दाहिने दक्षिण और दायें उत्तर होता है।[4] लम्बाई, चौड़ाई एवं ऊंचाई दिक् में तीन विमायें हैं जो सब भौतिक पदार्थों में पायी जाती हैं।

काल में गति होती हैं। अब, जब एवं तब अर्थात् वर्तमान, भूत तथा भविष्य काल की माप है। शीघ्र, विलम्ब इत्यादि का प्रयोग भी काल में किया जाता है।[5] स्वामी दयानन्द का कथन है कि काल अनित्य पदार्थों में ही प्रयोग में आता है परन्तु नित्य पदार्थों के लिये नहीं[6] है। इससे उनका तात्पर्य यह है

१. सत्यार्थप्रकाश पृ २२४
२. सत्यार्थप्रकाश ५४
३. दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग २, पृ० ४०५
४. वै० सू० २-२-१५ व १६
५. सत्यार्थप्रकाश, पृ० ५४
६. सत्यार्थप्रकाश, पृ० ५४

कि नित्य पदार्थों में बनने-बिगड़ने की क्रिया का अभाव पाया जाता है, अनित्य पदार्थ बनने-बिगड़ने वाले हैं अतः बनने का कार्य भी काल में होता है और बिगड़ने का भी।

लेकिन दिक् के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। प्रकृति जो कि स्वामी जी के दर्शन में नित्य पदार्थ है, अपनी कारणावस्था में भी दिक् में वर्तमान रहती है। इससे इनके मत में दिक् सदैव रहने वाला है।[१]

स्वामी दयानन्द की दिक् एवं काल की विचारधारा उनकी यथार्थवादी दर्शन की विचारधारा के अनुकूल है। कान्ट दिक्-काल को मानसिक बताते हैं, तब समझ में नहीं आता कि द्रव्य जो अपने आप में वास्तविक है तथा जिसकी सत्ता मन से पृथक है कैसे और कहां स्थित होगा। यहां तक कि दिक् में वस्तुओं में आपसी सम्बन्ध भी हमारे मानसिक प्रत्ययों से पृथक हैं। मानसिक प्रत्यय किसी भी रूप में वस्तुओं के आपसी सम्बन्धों को नहीं बना सकते। यदि दिक्-काल मानसिक होते, जैसा कि कान्ट का कहना है, तब हमारी मानसिक कल्पना उन्हें जैसा चाहे बना लेती, जिस रूप में चाहें नियत कर देती हैं। लेकिन यूरोप भारतवर्ष के पश्चिम में है इस दिक् सम्बन्ध को हम किसी भी प्रकार बदल नहीं सकते। जब तक कि प्रकृति ही इसे न बदले। हम रसल के विचारों में इसका समर्थन पाते हैं।[२]

दिक् में दिशा हमारी बनाई हुई हैं, इसे स्वामी जी स्वीकार कर लेंगे क्योंकि दिशा सूर्य के और पृथिवी के सम्बन्ध में है। अनन्त आकाश में ऊपर-नीचे, इधर-उधर एवं भीतर-बाहर कुछ भी नहीं है यह सब पदार्थों के सम्बन्ध से है। यही तथ्य काल के सम्बन्ध में भी है, वर्तमान, भूत व भविष्यत् का

---

१. 'वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि बिना आकाश के परमाणु कहां ठहर सकें।' सत्यार्थप्रकाश, पृ० १२२

२. A History of Western Philosophy, p. 241, B. Russell.

ज्ञान तथा पदार्थों में क्रिया व परिवर्तन हुए, होते हैं एवं होंगे पदार्थों के विषय से सापेक्ष हैं। वास्तव में अनन्त काल में न भूत है, न वर्तमान, न भविष्यत्। स्वामी जी कहते हैं कि परमेश्वर का ज्ञान त्रिकालिक नही होता क्योंकि उसके नाम में त्रिकाल नाम का कोई ज्ञान नहीं वरन् परमेश्वर का ज्ञान अखंड एकरस है। भूत व भविष्यत् जीवों के लिये हैं,[1] जो ज्ञान का सम्बन्ध काल में करते हैं।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि व्यावहारिक दिक्-काल कोई हमारे मानसिक प्रत्यय होने से हम पर आश्रित हैं जैसा कि कान्ट कहता है। व्यवहार के दिक्-काल भी हमसे पृथक् हैं क्योंकि वस्तुओं की स्थिति हम से पृथक् है और परिवर्तन व स्थिति वस्तुओं में होती है इससे ये किसी भी रूप में अपनी सत्ता के लिये जीव पर आश्रित नहीं हैं। व्यावहारिक काल व दिक् अनन्त काल व दिक् के रूप मात्र हैं जो हम व्यवहार की सरलता तथा ज्ञान-विज्ञान की गणना के लिये पदार्थों के सम्बन्धों व परिवर्तनों से मान लेते हैं। इस विषय पर विज्ञानभिक्षु का मत स्वामी जी से मिलता है।[2]

सृष्टि वृत्तान्त

सांख्यों की तरह स्वामी दयानन्द भी कार्यकारणवाद के सिद्धान्त पर चलते हुये जगत् के उत्पादन कारण के लिये प्रकृति पर पहुँचते हैं। कारण में कार्य अव्यक्तावस्था में होता है यह सांख्यों का सत्कार्यवाद का सिद्धान्त स्वामी

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० १९२

२. सांख्य प्रवचन भाष्य

"But these, space and time, which are limited, are produced from Akasha through the conjunction of this or that, limiting object (Upadhi)." as quoted by S, Radhakrishnan in his Indian Philosophy, Vol. 2, page 277.

जी को पूर्णतया मान्य है। यदि कारण में कार्य निहित न हो, तो किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो जाय। तब बौद्धों के शून्यवाद में क्या बुराई है। इनके मत में असत् से सत् अर्थात् शून्य से भाव की उत्पत्ति होती है। स्वामी दयानन्द का कथन है कि कार्य रूपी अंकुर 'जो बीज का उपमर्दन करता है वह पहिले ही बीज में था, जो न होता तो उत्पन्न कभी नहीं होता।'[1] प्रत्येक काय का कोई कारण होता है तथा जो कारण है वह भी किसी का कार्य है, परन्तु कार्य-कारण की यह शृङ्खला अनन्त तक नहीं चल सकती। अतः हमें एक अन्तिम कारण के रूप में एक ऐसी सत्ता को मानना पड़ेगा जो समस्त ब्रह्माण्ड का उपादान है। यह उपादान स्वामी जी के शब्दों में 'सब जगत् का मूल घर और स्थिति का स्थान है, (और) यह सब जगत् असत् के सदृश प्रकृति में लीन होकर वतमान था अभाव न था।'[2]

प्रारम्भ में प्रकृति अपने तीन गुण सत्व, रज और तम की साम्यावस्था में थी जैसा की सांख्य कहता है। उस अवस्था मे यह जगत् न किसी के जानने न तर्क में लाने और न प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य था।[3] क्योंकि कार्य जगत् अपने सूक्ष्म कारण मूल प्रकृति में लीन था। उस समय प्रकृति की अवस्था गम्भीर कोहरे के सदृश्य थी। उस अवस्था में परमाणु भी अपनी मूल कारणावस्था सत्व, रज व तम मे लीन हो चुके थे। केवल सत्व, रज व तम का सूक्ष्म प्रधान सर्वत्र फैला हुआ था। तब न रात्रि थी, न दिन, न मृत्यु थी और न जन्म, क्योंकि जब सूय आदि प्रकाशमान् पिण्ड ही नहीं थे तो दिन का व्यवहार कैसे माना जाता। इसी प्रकार जब शरीरधारी मर्त्य ही न थे तो मृत्यु किसकी होती, इससे मृत्यु भी न थी। सर्वत्र घोर अन्धकार था।

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २१७।
२. वहीं, पृ० २११।
३. वहीं, पृ० २१४

स्वामी दयानन्द के दर्शन में सत्व, रज और तम प्रकृति के ये तीनों गुण वैशेषिकों के गुणों के समान नहीं हैं बल्कि सांख्यों के अनुसार स्वयं प्रकृति के रूप हैं।[1] वैशेषिकों के गुण धर्म-धर्मी भाव से धर्मी के धर्म हैं परन्तु सांख्यों के सत्व, रज व तम स्वयं प्रकृति हैं।[2] साम्यावस्था में प्रकृति के तीनों गुणों में साम्यता रहती है। सत्व, रज व तम का गठन इस प्रकार होता है कि एक गुण दूसरे की क्रिया को रोके होता है।

कल्प के आदि में परमात्मा अपनी सामर्थ्य से कारणरूप प्रकृति को कार्यरूप जगत् में परिणत कर देता है। दयानन्द कहते हैं कि यह सब जगत् सृष्टि के पहिले अन्धकार से आवृत्ति रात्रि रूप में जानने के अयोग्य आकाशरूप सब जगत् तथा तुच्छ अर्थात् अनन्त परमात्मा के सम्मुख एक देशी आच्छादित था पश्चात् परमेश्वर ने अपनी सामर्थ्य से कारणरूप से कार्यरूप कर दिया।[3] यहां पर दयानन्द का तात्पर्य यह है कि जड़ प्रधान स्वयं सृष्टि उत्पन्न नहीं कर सकता। और यदि यह कहा जाय कि प्रधान में सृष्टि कर्तृत्व स्वभाव से है। तब इस पर दयानन्द का तर्क है कि जिन पदार्थों का जो स्वभाव होता है, वह नष्ट नहीं होता इससे सृष्टि-निर्माण-कला प्रधान का स्वभाव होने से विनाश का प्रश्न नहीं उठता और यह विनाश स्वभाव से हो तो निर्माण कभी नहीं हो सकता और जो दोना स्वभाव युगपत् द्रव्यों में मानें तो दयानन्द उत्तर देते हैं कि इससे उत्पत्ति और विनाश दोनों की ही व्यवस्था भंग हो जायेगी।[4]

---

१. '(सत्व) शुद्ध (रजः) मध्य (तमः) जाड्य अर्थात् जड़ता तीन वस्तु मिलाकर जो एक संघात है उसका नाम प्रकृति है।' सत्यार्थप्रकाश, पृ० २१०

२. 'सत्वादीनामतद्धर्मत्वम् तद्रूपत्वात्'। सांख्यसूत्र, ६—३९।

३. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २०८।

४. 'जो स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति होवे तो विनाश कभी न होवे और जो विनाश भी स्वभाव से जानो तो उत्पत्ति न होगी और जो दोनों स्वभाव युगपत द्रव्यों में मानोगे तो उत्पत्ति और विनाश की व्यवस्था कभी न हो सकेगी।' सत्यार्थप्रकाश, पृ० २२०।

इसके अतिरिक्त स्वामी दयानन्द का तर्क है कि "बिना कर्त्ता के कोई भी क्रिया या क्रियाजन्य पदार्थ नहीं बन सकता। जिन पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग-विशेष से रचना दीखती है वे अनादि कभी नहीं हो सकते और जो संयोग से बनता है वह संयोग से पूर्व नहीं होता और वियोग के अन्त में नहीं रहता।,"[१] इससे सृष्टि का निर्माणकर्त्ता निमित्त रूप परमात्मा है। यह हम इसी पुस्तक के पृष्ठ १०३ पर कह आये हैं कि ठीक इसी रूप में स्वामी दयानन्द सांख्य में भी ईश्वर के द्वारा सृष्टि निर्माण मानते हैं, तभी सांख्यों का प्रधान अर्थवान हो सकता अन्यथा नहीं।

प्रकृति से विकृति का किस प्रकार निर्माण होता है इसका स्वामी जी इस प्रकार वर्णन करते हैं परमात्मा प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करता है जिससे तीनों गुणों की साम्यावस्था नष्ट हो जाती है और प्रकृति निश्चित् नियमों के आधार पर विकृति की ओर चल देती है। प्रकृति का सर्वप्रथम विकार महत्तत्व बुद्धि, उससे अहंकार, उससे पंचतन्मात्रा सूक्ष्म भूत और दस इन्द्रियां तथा ग्यारहवां मन, पांच तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पांच भूतों की उत्पत्ति होती है।[२] प्रकृति से सृष्टि के विकास का यह क्रम दयानन्द ज्यों का त्यों सांख्यों से लेते हैं। इनमें और अन्य सांख्य टीकाकारों में भेद यह है कि स्वामी जी पुरुष शब्द से परमात्मा व जीवात्मा दोनों का ही ग्रहण करते हैं। सांख्यों की तरह वे भी इस सृष्टि-क्रम को चार विभागों में विभाजित करते हैं (१) प्रकृति अविकारिणी, (२) महत्तत्व, अहंकार और पांच सूक्ष्म-भूत प्रकृति के कार्य हैं, परन्तु स्थूल भूतों के कारण होने से प्रकृति भी हैं इससे यह प्रकृति-विकृति दोनों है, (३) दस इन्द्रियां मन व स्थूल भूत विकृति हैं तथा (४) पुरुष न किसी की

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २२०–२२१।
२. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २१०

प्रकृति है और न किसी का कार्य ।[1] सांख्यकारिकाकार ने भी सृष्टि-क्रम के यही चार विभाजन किये हैं ।[2] महत्तत्व आदि प्रकृति के विकार क्या हैं ? इस विषय को दयानन्द अधिक स्पष्ट नहीं करते । उन्होंने इनका कहीं विशद् वर्णन नहीं किया । प्रतीत होता है कि इस पर वे सांख्य से पूर्णतया सहमत हैं ।

महत्तत्व, सृष्टि क्रम में प्रकृति का प्रथम विकार है, परन्तु इस अवस्था में परम सूक्ष्म अवयव परमाणु उत्पन्न नहीं किये हुये थे । स्वामी दयानन्द विज्ञान भिक्षु के इस विचार से सहमत नहीं है कि प्रकृति की साम्यावस्था में गुण सूक्ष्म अवयवों के रूप में थे ।[3] इसके विपरीत दयानन्द का कहना है कि प्रलयावस्था में जबकि गुण अपनी वास्तविक अवस्था में विद्यमान थे । परमाणुओं का कोई अस्तित्व नहीं था क्योंकि उनका अभी निर्माण नहीं

---

१. वही, पृ० २१०

२. **देखो, सांख्यकारिका न० ३ ।**

३. "A different view of gunas is found in Vijanabhiksu, who regards them as subtle entities, infinite in number according to the diversity of individuals.

(Indian Philosophy Vol. 2. P. 265, Dr. S. Radha-krishnan)

हुआ था।[१] सृष्टि में परमाणु बाद में आकर उत्पन्न हुये।[२] महत्तत्व के पश्चात् अहंकार की उत्पत्ति हुई। अहंकार भेद का सिद्धान्त है। इसी से सृष्टि की पंच तन्मात्रायें पैदा हुई जो कि परमाणुरूप में थीं। अहंकार से मूलद्रव्य में पृथक्करण हुआ जिसके परिणामस्वरूप सूक्ष्म अवयवों के रूप में पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति हुई। इससे परमाणु प्रकृति में अहंकार के द्वारा पञ्चतन्मात्राओं के सूक्ष्मतम अवयवों में रूप में उत्पन्न हुये। वैशेषिक शास्त्र परमाणुओं को द्रव्य के परम सूक्ष्म अवयवों के रूप में कहता है। इसमें और परमाणु को कार्य कहने वाले स्वामी दयानन्द के सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं है। इस पर प्रश्न किया जा सकता है कि सांख्य के गुणवाद व वैशेषिक के परमाणुवाद का तो मौलिक मतभेद है फिर स्वामी दयानन्द इन दोनों को ही सत्य कैसे मान सकते हैं? यही स्वामी दयानन्द की मौलिकता है कि वे इसे सृष्टि वर्णन का क्रम-भेद मानकर षड्दर्शनों में समन्वय स्थापित कर देते हैं।[३] सांख्यों ने परमाणुओं को प्रकृति का कार्य माना है।[४] परन्तु पञ्चतन्मात्राओं के रूप में उद्भूत होने से प्रकृति-विकृति की अवस्था में आ जाते हैं। इससे ये प्रकृति के परम सूक्ष्म अवयव भी कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त सांख्य के गुण परमाणु की

---

१. 'परमाणवोऽपिनासन्'। दयानन्द ग्रन्थमाला भा०, २ पृ० ४०१

२. 'नित्यायाः सत्व रजस्तमसां साम्यावस्थायाः प्रकृतेरुत्पन्नानां पृथक्-पृथक् वर्तमानानां तत्त्वपरमाणूनां प्रथम संयोगारम्भः संयोग विशेषादवस्थान्तरस्य स्थूलाकार प्राप्तिः सृष्टिरुच्यते'। सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २२३

३. सत्यार्थ प्रकाश पृ० २२२

४. सां० सू०, ५.८७

विखंडित हुई शक्ति हैं। विखण्डन के पश्चात् परमाणु अवयवों में विभाजित न होकर सत्व, रज व तम में परिवर्तित हो जाता है। इससे भी परमाणु को अवयव की दृष्टि से परम सूक्ष्म कहा जा सकता है। परमाणु के विखण्डन के विषय में आधुनिक विज्ञान भी ठीक इसी प्रकार कहता है। विज्ञान के अनुसार परमाणु (Atom) विखण्डनीय है। खण्डित होकर यह तीन रूपों प्रोटोन, इलेक्ट्रोन व न्यूट्रोनों में विभाजित हो जाता है। इसमें प्रोटोन परमाणु की नाभि में शान्त भाव से स्थित रहते हैं तथा धनावेशयुक्त होते हैं, ये इलेक्ट्रानों की ऋणावेशयुक्त शक्ति का सन्तुलन करते रहते हैं। इलेक्ट्रोन ऋणावेशयुक्त होते हैं तथा नाभि के चारों ओर तीव्र वेग से परिक्रमा करते हैं। न्यूट्रोन नाभि में प्रोटोनों के साथ निष्क्रिय भाव से विद्यमान रहते हैं तथा ये आवेशरहित होते हैं। विज्ञान की प्रोटोन, इलेक्ट्रोन व न्यूट्रोन की मान्यता सांख्यों के सत्व, रज व तम ही हैं। विज्ञान इन्हीं तीनों से परमाणुओं की उत्पत्ति मानता है।

परमाणु की व्याख्या ठीक वैशेषिक के अनुसार करते हुए दयानन्द कहते हैं कि 'सबसे सूक्ष्म टुकड़ा अर्थात् जो काटा नहीं जाता उसका नाम परमाणु, साठ परमाणुओं से मिले हुये का नाम अणु है।' परमाणुओं से पांच स्थूलभूत किस प्रकार बने इस पर दयानन्द कहते हैं कि "दो अणु का एक द्वयणुक जो स्थूल वायु है, तीन द्वयणुक का अग्नि, चार द्वयणुक का जल, पांच द्वयणुक की पृथिवी आदि दृश्य पदार्थ होते हैं।"[1] यमुनाचार्य के विचार में सूर्य के प्रकाश में दीख पड़ने वाले सूक्ष्म अवयव जो कि त्रसरेणु हैं, प्रकृति के सूक्ष्मतम अवयव हैं। यमुनाचार्य की यह धारणा न तो प्राचीन वैदिक शास्त्रों के अनुकूल है और न आधुनिक विज्ञान के ही। स्वामी दयानन्द तीन द्वयणुकों का एक

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३०

त्रसरेणु बताते हैं। तीन द्व्यणुकों से एक दृश्यमान अवयव बन सकता है, यह भी संदेहास्पद है। जबकि विज्ञान के अनुसार कई हजार परमाणुओं का संघात ही दृश्यमान हो सकता है। उपनिषदों में परमाणु के आकार को बाल के अग्रभाग के दस हजारवें भाग के बराबर बताया है। अतः दो या तीन द्व्यणुकों का संघात दृश्यमान नहीं होता।

दयानन्द अपने हर विचार की पुष्टि में वेद व उपनिषदों से अनेक मन्त्र प्रस्तुत करते हैं और अपनी विचारधारा को वास्तविक रूप से वैदिक साहित्य की सही-सही विचारधारा के अनुकूल लेकर चलना ही उनका यत्न रहा है। सृष्टि विवरण में भी वे उपनिषदों के मन्त्र अपने पक्ष में प्रस्तुत करते हैं। तैतिरयोपनिषद् के एक मन्त्र के अर्थ में वह कहते हैं "उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश, अवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न सा होता है, वास्तव में अवकाश की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि बिना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहां ठहर सकें? आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी, पृथिवी से औषधि, औषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है।[1] आकाश दो प्रकार का है एक शून्याकाश जिसमें समस्त सृष्टि वर्तमान है, जिसका लिंग प्रवेश व निकलना है तथा दूसरा शब्द का माध्यम है जिसका गुण शब्द है। वायु का गुण स्पर्श है परन्तु इसमें उष्णता व शीतलता, तेज और जल के योग से रहते हैं। अग्नि का गुण रूप तथा स्पर्शवान् है। रस जल का स्वाभाविक गुण है, इसके अतिरिक्त जल में शीतलता भी है तथा स्पर्श और रूप गौणिक हैं, गन्ध पृथिवी का स्वाभाविक गुण है, स्पर्श, रूप व रस, वायु, अग्नि व जल के संयोग से हैं।

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २२२

स्वामी दयानन्द ब्रह्माण्ड की रचना में वैदिक मंत्रों के साक्ष्य से आकाशीय पिण्डों की स्थिति व क्रिया-सिद्धांतों का बड़ा रोचक वर्णन करते हैं। वह कहते है कि हमारी पृथ्वी व खगोल के अन्य आकाशीय पिण्ड परमात्मा ने पंचभूतों से उत्पन्न किये हैं। वेदादि शास्त्रों में ईश्वर को इसलिये विश्वकर्मा कहा है कि वह विश्व का रचने व धारण करने वाला है। उनका कथन है कि इस ब्रह्माण्ड में हमारे सूर्य जैसे करोड़ों सूर्य हैं जो पृथक-पृथक अपने सौरमण्डल के ग्रह-परिवार को प्रकाशित करते है ।[1] हमारी पृथ्वी आरम्भ में सूर्य का ही एक भाग थी, बाद में उससे पृथक हुई। पृथ्वी, सूर्य इत्यादि पिण्ड आकाश में गति व आकर्षण के कारण ही अपनी-२ कक्षा में स्थिर हैं। वेदों में पृथ्वी आदि के लिये गौ शब्द का प्रयोग किया है इससे स्वामी दयानन्द का कथन है कि वेद इन पिण्डों को गतिशील कहता है ।[2] "पृथ्वी सहित सौरमण्डल के अन्य ग्रह अपने उपग्रहों के साथ सूर्य के चारों ओर भ्रमण करते हैं इनके मार्ग निश्चित हैं। चन्द्रमा पृथ्वी का उपग्रह है।"[3] सूर्य भी भ्रमणशील है। दयानन्द कहते है कि "सूर्य अपनी परिधि में घूमता है किन्तु किसी लोक के चारो ओर नहीं घूमता।"[4] इसका तात्पर्य हैं कि सूर्य तीव्रगति से वृत्ताकार परिधि में घूमता है परन्तु इस वृत का कोई केन्द्र पदार्थ नहीं है। कुछ विद्वान इसका अर्थ लेते हैं कि सूर्य अपनी कीली पर घूमता है परन्तु परिधि (वृत्ताकार) में नहीं धूमता। बहुत काल तक नक्षत्र-विज्ञान भी इसी को मानता रहा है कि तारे अचल हैं और सूर्य एक तारा है अतः यह भी अचल है तथा ग्रह चलते हैं जैसे पृथ्वी एक ग्रह है और सूर्य के चारो ओर घूमती है। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में ही दयानन्द ने वैदिक प्रमाणों से हमें बता दिया था कि आकाश का कोई भी गुरु पदार्थ बिना घूमे स्थिर नहीं रह

---

१. सत्यार्थप्रकाश पृ० २३२
२. दयानन्द-ग्रन्थमाला भा०, २ पृ० ४३० शताब्दी संस्करण
३. वही, पृ० ४३१।
४. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३२।

सकता। इससे सूर्य भी घूमता है।[1] परन्तु दयानन्द के अनुसार सूर्य किसी लोक विशेष के चारो ओर नहीं वरन् बिन्दु के चारो ओर घूमता है। गैलिलियों से पूर्व यह समझा जाता रहा कि पृथ्वी इस ब्रह्माण्ड का केन्द्र है और सूर्यादि समस्त ग्रह-नक्षत्र इस पृथ्वी की ही प्रदक्षिणा कर रहे हैं। गैलिलियों ने इस भ्रम को दूर कर सूर्य को ब्रह्माण्ड का केन्द्र बताया। परन्तु अब सूर्य भी ब्रह्माण्ड का केन्द्र नहीं माना जाता जबकि सूर्य स्वयं अपने सौर मण्डल के साथ किसी अन्य पिण्ड या बिन्दु की प्रदक्षिणा कर रहा है।[2] यहाँ स्वामी दयानन्द का नक्षत्र-विज्ञान से मतैक्य प्रतीत होता है। दयानन्द की इसमें विशेषता यह है कि उन्होंने अब से लगभग अस्सी वर्ष पूर्व यह सब वेद के अधार पर कह दिया था। वे आंग्ल भाषा के विद्वान नहीं थे इससे विज्ञान की किसी आधुनिक प्रणाली का उन्हें ज्ञान नहीं था। इससे उनकी वेद में ज्ञान-विज्ञान संबन्धी मान्यता को बल मिलता है। और यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि यदि वेदों का वैज्ञानिक बुद्धि से अध्ययन किया जाय तो विज्ञान व ब्रह्माण्ड सम्बन्धी और भी नवीन तथ्य सामने आ सकते है। सौर मण्डल के परिवारीय पिण्ड सूर्य के आकर्षण से अपनी कक्षा में घूमते हैं। सूर्य पृथ्वी आदि का आकर्षण करता है तथा परमदेव परमात्मा समस्त ब्रह्माण्ड को अपने आकर्षण से थामे हुये है।

आगे स्वामी जी कहते हैं कि वेद कहता है कि परमात्मा ने प्रत्येक लोक के चारो ओर सात-सात परीधियें रची हैं, अर्थात् पृथ्वी के चारों ओर सात आवरण हैं इनमें "पहिला समुद्र, दूसरा त्रसरेणु सहित वायु, तीसरा

---

१. दयानन्द ग्रन्थमाला भाग २, पृ० ४३२ व स० प्रकाश, पृ० २३३

२. 'तारों का विचित्र दशा है। उनकी परिभाषा ही गलत हो गयी। समझा जाता था कि ग्रह चलते हैं, तारा अचल है। पर यह ठीक नहीं है। तारे भी चलते हैं हमारा सूर्य अपने सारे कुटुम्ब के साथ उस दिशा में चला जा रहा है जिधर अभिजित नक्षत्र है।...सूर्य भी किसी बिन्दु की परिक्रमा कर रहा होगा। इसकी परिक्रमा करने में सूर्य को २० करोड़ वर्ष लगते है।" (सूचना पंचांग सम्बत २०१६ पृ० ३६, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ)

मेघमण्डल का वायु, चौथा वृष्टि जल, पांचवा वृष्टि जल से ऊपर एक प्रकार की वायु, छटा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिसको धनंजय कहते हैं तथा सातवां सूत्रात्मा वायु जो कि धनजय से भी सूक्ष्म है ।"[1] स्वामी दयानन्द का इनसे क्या तात्पर्य है यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया, परन्तु विज्ञान की रोशनी में देखने पर इन सात परीधियों के वैज्ञानिक रहस्य का पता चलता है । वैज्ञानिक गवेषणाओं से पता चला है कि पृथ्वी के चारो ओर तीन आवरण हैं । पृथ्वी के धरातल के ऊपर दस मील तक की वायु को टोपोस्फियर, इसके ऊपर त्रीस मील स्ट्रेटोस्फियर तथा सबसे ऊपर के मण्डल को आयनोस्फियर कहते हैं । निम्नतम भाग टोपोस्फियर में आक्सीजन, नाइट्रोजन तथा कुछ और गैसें मिलती हैं । इससे ऊपर चलकर गैसों के अणु परमाणुओं में विभक्त हो जाते हैं, उदाहरण के लिए आक्सीजन के अणु में आक्सीजन के दो परमाणु होते है, स्ट्रेटोस्फियर में ये अलग-२ हो जाते है । इससे ऊपर चलकर परमाणु भी धन-विद्युन्मय व ऋण विद्युन्मय कणों में विखण्डित हो जाता है । इस विखण्डन-क्रिया का कारण यह है कि सूर्य में हो रहे विस्फोटों के परिणामस्वरूप हाइड्रोजन के कण सूर्य से निकलकर करोड़ों मील दूर तक फैल जाते हैं ! वैज्ञानिकों का विचार है कि यह कण पृथ्वी की तरफ आइनोस्फियर तक पहुंचते हैं जहां पर इनकी टक्कर आक्सीजन के परमाणुओं से होती है , इस टक्कर से ये परमाणु विखण्डित हो जाते हैं । आइनोस्फियर के कारण सूर्य में हो रहे विस्फोटो का घातक प्रभाव हमारी पृथ्वी तक आने से रुक जाता है । पृथ्वी के चारों ओर सात परीधियें निर्माण करने से परमात्मा का तात्पर्य क्या रहा, यह दयानन्द ने सम्भवतः स्थानाभाव के कारण न स्पष्ट किया हो । परन्तु यह स्पष्ट हैं कि इनका तात्पर्य पृथ्वी की, अन्तरिक्ष की शक्तियों के घातक प्रभाव से रक्षा करना भी रहा होगा । वास्तव में वेद में वर्णित सात परीधियों का वैज्ञानिक रहस्य है । यह इससे भी स्पष्ट है कि इनमें से प्रत्येक एक दूसरे से उत्तरोतर सूक्ष्म है । स्वामी दयानन्द जिसे धनंजय कहते हैं वह स्ट्रेटोस्फियर और सातवाँ

१. दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग २. पृ ४१८

सुसूक्ष्म सूत्रात्मा आइनोस्फियर से मिलते हैं बाकी पाचों परीधियां टोपोस्फियर के ही पांच भेद हैं।

स्वामी दयानन्द का मत है कि यह समस्त ब्रह्माण्ड, जिसमें सूर्य जैसे एवं इससे भी बृहत करोड़ों पिण्ड हैं आश्चर्यजनक रूप से बृहद् हैं। परन्तु परमात्मा के सम्मुख तुच्छ एवं उसके किंचितमात्र प्रदेश में है।[1] परमात्मा अनन्त है विश्व सान्त। परमात्मा विश्व को अपने अन्दर धारण किये हुए है, विश्व उस परम पुरुष के एक प्रदेश में है। इस शताब्दी के महान् वैज्ञानिक आईन्स-टीन का निष्कर्ष भी यही था कि यह ब्रह्माण्ड यद्यपि निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हो रहा है तथापि यह असीम नहीं है।[2] परमात्मा समस्त विश्व में ओत-प्रोत हुआ सबको धारण कर रहा है इसी से ईश्वर को यजुर्वेद में 'विभु प्रजासु' (यजुर्वेद में ३२·८) कहा है।

जैसी सृष्टि हमारी इस पृथ्वी पर है अन्य ग्रहों पर भी जीव सृष्टि है या नहीं ? इसके उत्तर में स्वामी दयानन्द कहते हैं कि अन्य ग्रहों पर भी सृष्टि होगी, परन्तु शरीर की बनावट में भेद होगा। वह कहते हैं कि इसी पृथिवी पर भिन्न-भिन्न स्थानों के निवासियों की आकृति में जलवायु के कारण भेद हो जाते हैं फिर दूसरे ग्रह-नक्षत्रों के जीवों के शरीरों में भेद हो तो क्या आश्चर्य है। फिर वह कहते हैं कि परमात्मा ने अन्य ग्रहों पर भी मानवीय सृष्टि में पृथ्वी के समान वेदरूपी ज्ञान का प्रकाश किया है।[3]

कल्प के आदि में परमात्मा सृष्टि का निर्माण उसी प्रकार करता है जैसे उससे पूर्व कल्प में किया था सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय दिन और

---

१. (i) दयानन्द ग्रन्थमाला भा० २ पृ ४०८ श० सं०। (ii) 'अनन्त परमात्मा के सम्मुख असंख्यात् लोक एक परमाणु के तुल्य भी नहीं कहे जा सकते।' सत्यार्थप्रकाश पृ० २३१

२. सूचना पंचांग सं० २०१६ पृ० ४०। उ० प्र० सरकार लखनऊ, सूचना विभाग द्वारा प्रकाशित।

३. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३४

रात की तरह चलते रहते हैं। इसी से दयानन्द सृष्टि-क्रिया को क्रम से अनादि कहते हैं।[1] जब जगत् का कारण प्रकृति अनादि है तो सृष्टि-क्रिया भी अनादि होगी, इसे मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं हैं।

स्वामी दयानन्द का सृष्टि उत्पत्ति क्रिया का वर्णन अपने में वैज्ञानिक है एवं इसकी मुख्य-२ बातें आधुनिक विज्ञान की खोजों से पूर्णतया मेल खा जाती है। जिस समय स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों को रचना की थी (१६सवीं शताब्दी के मध्य में) तब तक विज्ञान को ब्रह्माण्ड से सम्बन्धित कम से कम उन तथ्यों का पता नहीं था जो आइन्सटीन ने इसे दिये हैं। उस समय भी स्वामी जी उन्हें जानते थे। इसमें महर्षि दयानन्द वेद का सहारा पकड़ते हैं कि वेद के मन्त्रों में ज्ञान-विज्ञान भरा हुआ है और अपने ग्रन्थों में ब्रह्माण्ड सम्बन्धी तथ्यों का उन्हीं के आधार पर व्याख्यान करते हैं। उनकी मौलिकता इसी में है कि उन्होंने वेद के अन्दर छिपे हुये प्रकृति संबन्धी रहस्यों को खोल दिया तथा निर्भयतापूर्वक उनका प्रतिपादन किया है। जहां उनके कुछ दावे आज वैज्ञानिक जगत् में स्वीकार्य हैं वहाँ अभी कुछ अतिश्योक्ति-पूर्ण भी लगते हैं। परन्तु यह तो आज माना जाने लगा है कि ब्रह्माण्ड के अन्य पिण्डों पर भी यहां के समान सृष्टि होगी परन्तु जलवायु के भेद से आकृति भेद होंगे। दूसरे लोकों में भी पृथिवी के समान ही वेदों का प्रकाश परमात्मा ने किया होगा यह अभी तो स्वीकार नहीं किया जा सकता। हां जब कोई मानव किसी नक्षत्र की यात्रा कर इस तथ्य को स्वयं देख लेगा तब अवश्य स्वीकार कर लिया जायेगा और फिर स्वामी दयानन्द के वेद-सम्बन्धी सारे दावे बिना शर्त स्वीकार कर लिये जायेंगे। परन्तु साथ ही हम स्वामी जी के कथन को निर्मूल भ्रम मानकर बातों में भी नहीं उड़ा सकते जबकि उनके वेद-सम्बन्धी अन्य अनेक दावे सत्य सिद्ध हो चुके हैं।

१. वही, पृ० २३४

७

प्रमाण—विद्या

(EPISTEMOLOGY)

भूमिका—भारतीय दर्शन में ज्ञान किसे कहते हैं ? ज्ञान प्राप्ति के क्या साधन हैं ? ज्ञाता एवं ज्ञेय तथा सत्य और भ्रमित ज्ञान इत्यादि विषयों पर पर्याप्त विचार पाये जाते हैं। उपनिषदों में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय इत्यादि विषयों पर सन्दर्भानुसार विचार तो पाये जाते हैं परन्तु ज्ञान और उनके साधन आदि विषयों पर प्रमाणशास्त्र की दृष्टि से विवेचन नहीं है। इनका सूक्ष्म विवेचन बाद में षड्दर्शनों में और विशेष रूप से न्याय-दर्शन और उससे भी सूक्ष्म रूप में इन दर्शनों पर लिखे गये भाष्य, टीका व वृत्ति आदि में हुआ है। प्रमाण-शास्त्र दर्शन शास्त्र का सहयोगी अंग है। प्लेटो व अरिस्टोटल के तात्विक विवेचन में इस पर काफी विचार किया गया है। परन्तु सोफिस्टों के लिये यह सत्य को जानने का एकमात्र साधन था जिसके परिणामस्वरूप वे संशयवाद की भूल-भुलैयां में फंस गये। लेकिन प्लेटो और एरिस्टोटल इसे दर्शन के सफल सह-योगी के रूप में प्रयोग करते हैं। न्यायदर्शन प्रमाणविद्या के विवेचन से पूर्व ही यह घोषणा कर देता है कि वह इस शास्त्र का प्रयोग सत्य ज्ञान की प्राप्ति एवं उसके फलस्वरूप दुखों के अत्यन्त अभावरूपी मोक्ष की प्राप्ति में करता है। न्यायसूत्रों के अनुसार यह शास्त्र मनुष्यों की ज्ञानकला का वैज्ञानिकीकरण करता है। इस शास्त्र में, ज्ञान के अवरोधक क्या हैं, सही विचार किस प्रकार किया जाय जिससे सही-सही निर्णयों को प्राप्त किया जा सके ? इत्यादि प्रश्नों पर निष्पक्ष भाव से विवेचन किया जाता है।

कुछ दार्शनिक पहले से ही इसके विषय में स्थिर धारणायें बनाकर चलते हैं जिनसे बाहर निकलकर चिन्तन करना उनके सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। ऐसे दार्शनिक यदि प्रारम्भ में ही भ्रान्त आधार बना लें तब या तो वे विचारों की अंधेरी तंग व बन्द गलियों में भटकते रहते हैं और यदि वे भूल सुधार के पक्षपाती हैं तो उस आधार को ही छोड़ देते हैं। चाहे हम प्रारम्भ में किसी भी विचार से सत्य की खोज करें, यदि हम वास्तव में सत्य को जानना चाहते हैं और हमारे मस्तिष्क के द्वार सत्य के लिये खुले हुए हैं अर्थात् हठधर्मी नहीं हैं, तब हम असंगत, व तर्कहीन विचारों को एक के बाद एक को छोड़कर सत्य की ओर अग्रसर होने लगेंगे। बस यही स्वामी दयानन्द के ज्ञान-शास्त्र का आधार है। उनके लिये प्रामाण्य-विवेचन इसलिये उपयुक्त है कि हमें उससे अधिक से अधिक सत्य की प्राप्ति होती है। **दयानन्द के लिये तर्क, तर्क के लिये नहीं वरन् यथार्थ ज्ञान के लिये है।**

हम ज्ञान कैसे प्राप्त करते हैं? इस विषय पर विद्वानों में परस्पर काफी मतभेद पाया जाता है और उससे भी अधिक विवाद, प्राप्त ज्ञान की सत्यता और असत्यता के सम्बन्ध में हैं। भौतिकवादी दार्शनिक किसी स्थायी ज्ञाता को नहीं मानते तथा उनका मत है कि ज्ञान केवल प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्राप्त किया जाता है। इनके लिये जगत् सत्य है और आत्मा भौतिक विकार है। दूसरी तरफ विज्ञानवादी बौद्ध विज्ञान को ही बाहर भासता कहते है जबकि बाहर कुछ नहीं है और आनन्द यह है कि ज्ञाता स्वयं सकन्धों व संस्कारों का संघात हैं। इससे ये ह्यूम की तरह संस्कारवादी (Solipisist) हो जाते हैं। भौतिकवादियों में बिना ज्ञाता के जान कैसे सम्भव होगा, यह एक समस्या है। दूसरे, केवल प्रत्यक्ष को ही यदि एक प्रमाण मानें तो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान सत्य होना चाहिये। ऐसी अवस्था में भ्रम की कोई सत्ता नहीं रहेगी। इसी प्रकार विज्ञानवादी के कथनानुसार यदि विज्ञान ही बाहर भासता है तब रज्जु में सर्प की भ्रान्ति भ्रम नहीं हो सकती। इस मत में भी भ्रम की व्याख्या नहीं की जा सकती। प्रमाण-शास्त्र में ज्ञान के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाली इन सभी समस्याओं पर समुचित विचार करना आवश्यक है।

दयानन्द का प्रमाण-शास्त्र (Epistemology)

स्वामी दयानन्द एक यथार्थवादी दार्शनिक हैं इसलिये उनका प्रमाणशास्त्र भी यथार्थवाद के अनुरूप ही है। उनके प्रमाणशास्त्र के विषय मे हमारा विवेचन इस प्रकार रहेगा।

(१) ज्ञाता के बिना ज्ञान सम्भव नहीं इसलिये कोई ज्ञाता है।

(२) ज्ञाता के अतिरिक्त ज्ञेय का भी पृथक अस्तित्व है, अन्यथा ज्ञान किसका ?

(३) ज्ञाता और ज्ञेय के सम्बन्ध में इन्द्रियें साधन हैं।

(४) प्रमाण विवेचन।

(५) क्या जो कुछ हम जानते है सब सत्य है यदि नहीं तो असत्य ज्ञान क्या है ?

(६) सत्य ज्ञान का क्या स्वरूप हैं ?

ज्ञाता की सत्ता—देकर्ट की प्रसिद्ध कहावत "मैं चिन्तन करता हूं इसलिये मैं हूं" हमारी पहली समस्या की ओर संकेत करती है कि ज्ञान-क्रिया के पीछे कोई ज्ञाता है। क्योंकि यदि मैं सोचने वाला नहीं हूं तब विचार-क्रिया ही नहीं हो सकती। इसमें अनुभूति भी नहीं होती, उसमें इच्छा भी नहीं होती और दुख-सुख व संसार आदि का भी ज्ञान नहीं होता। इससे यही जान पड़ता है कि ज्ञाता के बिना ज्ञान संभव नहीं है। हमें किसी वस्तु का ज्ञान हो या न हो परन्तु दोनों ही स्थिति में 'अहम्' जो ज्ञाता है वह रहता ही है। स्वामी दयानन्द चारवाकों के अनात्मवाद के विरुद्ध तर्क में कहते हैं कि "जब जीव शरीर से पृथक हो जाता है तब शरीर में ज्ञान कुछ भी नहीं रहता। ...... जिसके संयोग से चेतनता और वियोग से जड़ता होती है वह देह से पृथक है जैसे आंख सबको देखती है परन्तु अपने को नहीं। इसी प्रकार प्रत्यक्ष का करने वाला अपना ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं कर सकता जैसे अपनी आँख से सब घटपटादि पदार्थ देखता है वैसे आँख को अपने ज्ञान से देखता है। जो दृष्टा ही रहता है दृश्य कभी नहीं होता जैसे बिना आधार आधेय, कारण के बिना कार्य, अवयवी के बिना अवयव और कर्त्ता के बिना कर्म नहीं रह सकते वैसे कर्त्ता ज्ञाता के

बिना प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है।"[1] स्वामी जी यहां पर एक और तथ्य की ओर निर्देश करते हैं कि ज्ञाता सदैव ज्ञाता ही रहता है व जैसे सबको देखने वाला चक्षु अपने आपको नहीं देख सकता इसी प्रकार आत्मा जो कि ज्ञाता है कभी ज्ञेय नहीं होता। परन्तु अन्य पदार्थों को अपने स्वाभाविक ज्ञान से अर्थात् ज्ञान शक्ति से जान लेता है। ह्यूम आत्मा को ज्ञेय रूप में जानना चाहते थे परन्तु जब कभी वे आत्मा का ज्ञान करना चाहते थे उन्हें सदैव ही चित्त में बहने वाले विचार यानि वृत्ति-प्रवाह ही दृष्टिगोचर होता था जो आत्मा के सस्कार हैं। कान्ट इसीलिये आत्मा को अज्ञेय कहते हैं। उनके मत में आत्मा प्रत्यक्ष-समन्वयीकरण करने वाली तात्विक शक्ति (Transcendental Unity of Apperception) है। 'मैं विचारता हूँ इसीलिये मैं हूं' देकर्त की यह प्रसिद्ध उक्ति केवल विचारक्रिया की ही स्थिति में ज्ञाता की सिद्धि कर सकती है। गाढ़ निद्रा के समय में चिन्तन कार्य बन्द हो जाता है तब क्या ज्ञाता समाप्त हो जाता है? नहीं, निद्रा से उठकर हम कह सकते हैं कि मैं सुख से सोया। यह सुख की अनुभूति करने वाला निद्रा में भी था। चिन्तन करना ज्ञाता का एक ही गुण नहीं और ना ही उसकी सत्ता का एकमात्र लक्षण है। इसलिये हमें देकर्ट की उक्ति 'मैं विचारता हूं इसलिये मैं हूं' के स्थान पर यह कहना चाहिये कि 'मैं हूं इसलिये मैं विचारता हूँ'। ज्ञाता का अस्तित्व स्वयंसिद्ध और ज्ञान प्राप्ति में अवश्यम्भावी है। इसको ज्ञेय रूप में नहीं जाना जा सकता जैसा कि ह्यूम ने उसे जानने की भूल की है। सर्वशून्य मानने वाले अनात्मवादी बौद्धों की आलोचना में भी दयानन्द ज्ञाता के बिना ज्ञान को असंभव बताते हुये कहते हैं कि "शून्य को शून्य नहीं जान सकता इसलिये ज्ञाता और ज्ञेय दो पदार्थ सिद्ध होते हैं।"[2]

ज्ञेय का अस्तित्व—ज्ञाता के अतिरिक्त एवं ज्ञाता से पृथक किसी ज्ञेय पदार्थ का अस्तित्व नहीं होता, प्रत्ययवादियों का यह कथन यथार्थवादी विचारकों से सर्वथा भिन्न है। यथार्थवादी इसके विपरीत कहते हैं कि ज्ञाता के साथ-साथ ज्ञेय की भी सत्ता है अन्यथा बिना ज्ञेय के ज्ञान किसका? इसके

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५२२ २. सत्यार्थ प्रकाश पृ० ४२८

उत्तर में प्रत्ययवादी तर्क देते हैं कि भौतिक पदार्थ, जिस रूप में वे जाने जाते हैं, केवल अनुभूतियां हैं क्योंकि हम कभी भी पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं करते हमेशा ही मन को कुछ अनुभूतियां प्राप्त होती हैं जिनके आधार पर हम किसी पदार्थ को जानते हैं। परन्तु ये अनुभूतियें अन्तःकरण से पृथक नहीं रह सकतीं इसलिये सांसरिक पदार्थ अन्तरस्थ या आत्मा में हैं। विज्ञानवादी बौद्ध का कथन है कि आन्तरिक विज्ञान ही बाह्य पदार्थवत् भासता है। वास्तव में विज्ञान के अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है और जिस प्रकार स्वप्न में आत्मा स्वमेव पदार्थों का निर्माण कर लेता हैं परन्तु वास्तव में सब मिथ्या है उसी प्रकार जाग्रत के पदार्थ हैं। स्वामी शकराचार्य विज्ञान्वादियों के इस कथन को कि आन्तरिक विज्ञान बाहर पदार्थवत् भासता है, इसी प्रकार बताते हैं जैसे कोई कहे कि विष्णुदत्त बन्ध्यापुत्र सा भासता है।[1] यर्थात् विचार अमूर्त हैं वे इसी प्रकार पदार्थ रचना नहीं कर सकते जैसे बन्ध्या के पुत्र नहीं हो सकता। स्वामी दयानन्द इन विज्ञानवादी बौद्धों की आलोचना में कहते हैं कि "जो योगाचार बाह्य शून्यत्व मानता है तो पर्वत इसके भीतर होना चाहिये और जो कहें कि पर्वत भीतर है तो उसके हृदय में पर्वत के समान आकाश कहां?" इसलिये पर्वत बाहर है और 'पर्वत ज्ञान आत्मा में रहता है।"[2]

प्रत्ययवादयों (Idealists) के पक्ष में एक भूल है कि एक तरफ तो वे यह मानते हैं कि वस्तुयें अनुभूतियों से जानी जाती हैं, परन्तु इससे यह निष्कर्ष कहां निकलता है कि वस्तुयें भी अनुभूति ही हैं। उदाहरणार्थ विष्णुदत्त अपने अपार धन के कारण संसार में जाना जाता है परन्तु इससे विष्णुदत्त तो धन नहीं हो जाता। सत्य यह हैं कि अनुभुतियों द्वारा पदार्थ जाना जाने से यह सिद्ध होता है कि अनुभूतियां किसी पदार्थ द्वारा उत्पन्न होती हैं और यदि वह पदार्थ न हो तो अनुभूतियां भी नहीं हो सकती। संसार का अस्तित्व किसी भी रूप में हम पर आश्रित नहीं है। हमारे लाख प्रयत्न करने पर भी कोई भौतिक

---

१. ब्रह्मसूत्र, २–२–२८ पर शंकर भाष्य

२. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ४२८, ४२९

पदार्थ ऐसा नहीं बन सकता जिसका उपादान हमारे विचारमात्र हों। और जो विज्ञानवादी यह कहें कि स्वप्न के समान पदार्थों का निर्माण हो सकता है इस पर स्वामी दयानन्द तर्क देते हैं कि "स्वप्न बिना देखे व सुने कभी नहीं आते जो जाग्रत अर्थात् वर्तमान समय में सत्य पदार्थ हैं उनके साक्षात् सम्बन्ध से प्रत्यक्षादि ज्ञान होने पर संस्कार अर्थात् उनका वासनारूप ज्ञान आत्मा में स्थित होता है, स्वप्न में उन्हीं को प्रत्यक्ष देखता है।"[1] अर्थात् स्वप्न की सत्ता भी जाग्रत पर आधारित है। फिर यदि जाग्रत की सत्ता न हो तो स्वप्न भी नहीं हो सकते। और जो यह कहें कि जाग्रत और स्वप्न दोनों ही विचारों से निर्मित हैं। आत्मा जाग्रत में संसार में और स्वप्न में अपने ही में सब कुछ प्रत्यक्ष करता है तो दयानन्द कहते हैं "जो संस्कार के बिना स्वप्न होवें तो जन्मान्ध को भी रूप का स्वप्न होवे" अर्थात् ज्ञेय की अनुपस्थिति में ज्ञान का आधार पूर्व संस्कार होते हैं। जन्मान्ध को जाग्रत में सांसारिक रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता इसी से सोते में भी रूप का स्वप्न न आने से यह सिद्ध होता है कि स्वप्न भी जाग्रत के संस्कारों पर ही आश्रित हैं। फिर यदि जाग्रत को भी संस्कारों द्वारा निर्मित कहें तब संस्कार आत्मा में कब और कहां उत्पन्न हुए यह बताना असम्भव हो जायेगा। इससे यही सिद्ध होता है कि जाग्रत का संसार आत्मस्थ नहीं वरन् ज्ञेय रूप में ज्ञाता से पृथक है।

संसार मायारूप मिथ्या और ब्रह्म ही सत्य है। संसार की सत्ता रज्जु में सर्पवत् भ्रान्त है क्योंकि ब्रह्म का परिणाम नहीं होता वरन् जीव ब्रह्म में अविद्या से जगत् की मिथ्या प्रतीति करता है, इत्यादि मत वाले ब्रह्मवादी भी आदर्शवादियों की ही में कोटि में आते हैं। जिनके अनुसार जगत् के समस्त पदार्थ मिथ्या कल्पना होने से अविद्यामात्र हैं। एव ज्ञान और ज्ञेय का भेद-व्यापार मिथ्या है।[2] और यह मिथ्या कल्पना करने वाला भी जीव ही है जो ब्रह्म

१. वही पृ० २१६
२. "अविद्याकल्पितम् वेद्यवेत्तिवेदना भेदम्"। ब्रह्म सूत्रोंपर शांकर भाष्य से ब्रह्म सूत्र १।१।४

में संसार की मिथ्या उपलब्धि करता है। माण्डूक्योपनिषद् पर लिखी गौणपादीय कारिकाओं पर भाष्य में श्री शकराचार्य जी जगत् के पदार्थों को इसलिये मिथ्या बताते हैं कि वे दृश्यमान् है।"[1] अर्थात् जाग्रत के पदार्थ मिथ्या हैं यह प्रतिज्ञा है, दृश्यमान होने से यह हेतु है, स्वप्नों मैं देखे पदार्थों के समान यह उदाहरण है। जिस प्रकार वहां स्वप्न में देखे हुए पदार्थों का मिथ्यात्व है उसी प्रकार जगत में भी उनका दृश्यत्व समानरूप से है यह हेतूपनय है। अतः जाग्रत में भी उनका मिथ्यात्व माना गया है यह निगमन है। यहां पर शकराचार्य जी का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार स्वप्न के पदार्थों का जाग्रत में बाध हो जाता है उसी प्रकार जाग्रत के पदर्थों का तुरीय में बाध हो जाता है। इस प्रकार जाग्रत का संसार एक बड़ा भ्रम है।[2] लेकिन स्वामी दयानन्द पहले ही कह चुके हैं कि स्वप्न तथा भ्रम दोनों में ही पूर्व सस्कार आवश्यक हैं तब इस जगत्रूपी महान भ्रम के संस्कार किस सत्ता के हैं? रज्जु में सर्प की कल्पना का कर्त्ता अविद्याग्रस्त होता है तब क्या जगत् भ्रम का दृष्टा जो स्वयं ब्रह्म है, माया से आच्छादित है? दयानन्द का कहना है कि यह नहीं माना जा सकता क्योंकि ब्रह्म शुद्ध ज्ञानरूप है। इसके अतिरिक्त स्वामी दयानन्द कहते हैं कि कल्पना गुण है।

१. जाग्रत् दृश्यानां भावानां वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा। दृश्यत्वादिति हेतुः स्वप्न दृश्यभाववदिति दृष्टान्तः? यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि दृश्यत्वमविशिष्टमिति हेतूपयनः तस्माज्जागरितेपि वैतथ्यं स्मृतमिति निगमनम्। माण्डूक्य कारिका १-४ पर शंकर भाष्य।

3. " That Shankar regards the world in the ordinary sense as illusory and the result of error just in the same way as a snake, while there is a rope only and also as something which can be sublated by the experiences of true knowledge is clear from his writings here and elsewhere," Indian Epistemoloy. P, 314. by Jwala Prasad (The Punjab Oriental Series No. XXX – 1939)

जो गुणी से पृथक नहीं रह सकती और जब कल्पना का कर्त्ता जीव जो स्वयं ब्रह्म है, नित्य है तो उसकी कल्पना भी नित्य मानी जाये अन्यथा कल्पक भी अनित्य होगा।[1] और कल्पना के नित्य मानने पर मोक्ष का प्रसंग निःस्सार हो जायेगा। इससे यही सिद्ध होता है, की ज्ञेयरूप जगत् सत् है।

ज्ञान प्राप्ति में इन्द्रियें— ज्ञाता और ज्ञेय के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली तद्विषयक चेतना ही ज्ञान है। स्वामी दयानन्द के अनुसार आत्मा मन व इन्द्रियों के द्वारा बाह्य जगत् का ज्ञान करता है। मन आत्मा व इन्द्रियों के बीच में माध्यम है। मन प्रकाशरूप सत्व का बना होने के कारण हर अनुभूति को तद्ज्ञान में जानने की शक्ति रखता है। स्वामी दयानन्द ज्ञान-क्रिया पर अधिक विस्तार से प्रकाश नहीं डालते परन्तु तो भी इस सम्बन्ध में उनके विचार स्पष्ट हैं कि सब पदार्थ— (१) सर्वप्रथम इन्द्रियों के संपर्क में आते हैं जिससे विषयानुभूति पैदा होती है (२) यह अनुभूतियें जो कि विषय के गुणों की होती है मन में चली जाती हैं। (३) आत्मा मन के साथ सयुक्त होकर प्राप्त अनुभूतियों के आधार पर गुणी, जिसके वह गुण हैं का प्रत्यक्ष करता है। इस पर यह प्रश्न उठ सकता है कि हमें गुणों का प्रत्यक्ष होता है गुणी का नहीं तब इस मान्यता के आधार पर फिर गुणों को क्यों माना जाय? इस विषय में स्वामी जी का कथन है कि गुण द्रव्य से पृथक नहीं रह सकते।[2] गुण अपनी सत्ता के लिये किसी गुणी के आश्रय की अपेक्षा रखते हैं। आदर्शवादियों के मत में यही छोटी सी भूल है कि वे गुणों से द्रव्य का अनुमान नहीं करते वरन् गुणों को ही हठधार्मिता से अनुभूतिमात्र मान लेते हैं। जबकि तथ्य यह है कि अनुभूतियाँ गुणों के इन्द्रिय सम्पर्क में आने से होती हैं।

आठ प्रमाण—ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय के अतिरिक्त यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति में प्रमाण अर्थात् ज्ञान के साधनों की भी विशेष महत्ता है। प्राप्त किया हुआ

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २१८–२१९

२. सत्यार्थ प्रकाश पृ० ५७

ज्ञान सत्य है या असत्य अथवा उसमें कितना सत्य है और कितना असत्य, इसको जानने के लिये प्राप्त ज्ञान की परीक्षा सावधानी से करनी आवश्यक है। ज्ञान की यथार्थता का बोध ज्ञान के साधनों पर किन अंशों तक निर्भर करता है, इसके लिये स्वामी दयानन्द सत्य ज्ञान की पांच प्रकार की परीक्षा बताते हैं, "एक—जो-जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदों से अनुकूल हो······ दूसरी—जो-जो सृष्टिक्रम के अनुकूल हो······तीसरी—आप्त अर्थात जो धार्मिक, विद्वान, सत्यवादी, निष्कपटियों का संग, उपदेश के अनुकूल है······ चौथी—अपनी आत्मा की पवित्रता, विद्या के अनुकूल हो······तथा पांचवी—आठों प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति सम्भव और अभाव"[1] के अनुकूल हो, उसे ही सत्य मानना चाहिये।

उपरोक्त उद्धरण से पता चलता है कि दयानन्द सत्य ज्ञान की प्राप्ति में अन्य साधनों के साथ-साथ आठ प्रमाणों को मानते हैं। ये आठ प्रमाण इस प्रकार हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव। प्रमाणों के विषय में दयानन्द न्यायमत पर आश्रित हैं। प्रथम चार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द यह चारो गौतम के न्याय सूत्रों के अनुसार हैं तथा ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव न्यायदर्शन पर वात्स्यायन भाष्य से लिए गये हैं।

प्रत्यक्ष—प्रत्यक्ष पर गौतम के सूत्र की व्याख्या में स्वामी दयानन्द कहते हैं 'जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के साथ अव्यवहित अर्थात् आवरणरहित सम्बन्ध होता है। इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं परन्तु जो व्यपदेश्य अर्थात संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है वह ज्ञान न हो। जैसा किसी ने कहा कि "तू जल ले आ" वह लाकर उसके पास बोला कि 'यह जल है' परन्तु वहां जल इन दो अक्षरों की संज्ञा लाने वा मंगाने वाला नहीं देख सकता है किन्तु जिस पदार्थ का नाम जल है वही प्रत्यक्ष

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० ४९

होता है और जो शब्द से ज्ञान उत्पन्न होता है वह शब्द प्रमाण का विषय है। 'अव्यभिचारी' जैसे किसी ने रात्रि में खम्बे को देख के पुरुष का निश्चय कर लिया, जब दिन में उसको देखा तो रात्रि का पुरुष ज्ञान नष्ट होकर स्तम्भ ज्ञान रहा। ऐसे विनाशी ज्ञान का नाम व्यभिचारी है जो प्रत्यक्ष नहीं कहाता। 'व्यवसायात्मक' किसी ने दूर से नदी की बालू को देख के कहा कि "वहां वस्त्र सूख रहे हैं जल है या और कुछ है" वह "देवदत्त खडा है वा यज्ञदत्त" जब तक निश्चय न हो तब तक वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है किन्तु जों अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी रौर निश्चयात्मक ज्ञान है उसी को प्रत्यक्ष कहते है।"[1]

प्रत्यक्ष ज्ञान की इस व्याख्या में स्वामी दयानन्द इन्द्रिय व मन के संयोग से आत्मा को ही वास्तविक ज्ञाता कहते है। केवल विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध ही विषय का ज्ञान नहीं दे सकता, मन का इन्द्रियों से संयोग आवश्यक है। क्योंकि हम देखते हैं कि सुषप्ति की अवस्था में मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध टूट जाता है इसलिये किसी विषय का प्रत्यक्ष नहीं होता। जाग्रत में भी जब मन किसी एक विषय पर केन्द्रित होता है उस समय आंखों के सामने से गुजर जाने वाली वस्तु का भी प्रत्यक्ष नहीं होता। अत: प्रत्यक्ष के लिये इन्द्रियों का मन से संयोग होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त मन का आत्मा से सयोग भी आवश्यक है। आत्मा के बिना मन जड़ है फिर मन को ज्ञान कैसे हो सकता है? वास्तव में इन्द्रिय और मन के संयोग से आत्मा ही ज्ञाता है।

बाकी अन्य तीन विशेषतायें अव्यपदेशी, अव्यभिचारी व व्यवसायात्मिकता हैं। इनके अर्थों को स्वामी दयानन्द ने उपरोक्त उदाहरण में स्पष्ट कर दिया हैं और हम उसे दुबारा लिखने की आवश्यकता नहीं समझते।

निर्विकल्पक व सविकल्पक प्रत्यक्ष — इन्द्रियों द्वारा विषय के सम्पर्क से उसके सम्बन्ध में भिन्न २-गुणों की अनुभूतियां उत्पन होती हैं जैसे जल के प्रत्यक्ष में जल के स्पर्श से शीतलता, जिह्वा से रस, चक्षुओं से आकार व

१. दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग १, पृ० १४१

तरलता आदि की पृथक्-पृथक् अनुभूतियां उत्पन्न होती हैं। अलग-अलग ये अनुभूतियें केवल शब्द, रूप, रस, स्पर्श व गन्धादि की सूचनामात्र हैं। इनसे विषय का प्रत्यक्ष नहीं होता। ऐसी अवस्था में विद्वान इन्हें निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। मन में जाकर जब यह सारी सूचनायें एकत्रित होती हैं वहां इनके संयोग-वियोग से बुद्धि, विषय का निश्चय करती है कि यह अमुक विषय है। इस ज्ञान को सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। स्वामी दयानन्द ने प्रत्यक्ष का इतना सूक्ष्म विश्लेषण तो नहीं किया परन्तु निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष का संकेत उनके इस कथन में अवश्य मिलता है 'अब विचारना चाहिये कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है गुणी का नहीं। जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथिवी है उसका आत्म-युक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है।"[1]

अनुमान—दूसरा प्रमाण अनुमान प्रमाण है।

"जो प्रत्यक्षपूर्वक अथवा जिसका कोई एक देश या सम्पूर्ण द्रव्य (का) किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हुआ हो उसका दूर देश से सहचारी (अर्थात्, एक देश के प्रत्यक्ष होने से अदृष्ट अवयवी का ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं। जैसे पुत्र को देख के पिता, पर्वतादि में धूम को देख के अग्नि, जगत में सुख-दुख देख के पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।"

वात्स्यायन की तरह स्वामी जी भी प्रत्यक्ष के बिना अनुमान को असंभव मानते हैं। वे कहते हैं कि **'अनु अर्थात् प्रत्यक्षस्य पश्चान्मीयते जायते येन यदनुमानम्'** अर्थात् प्रत्यक्ष के पश्चात् उत्पन्न ज्ञान को अनुमान कहते हैं जैसे धूम के प्रत्यक्ष देखे बिना अदृश्य अग्नि का ज्ञान कभी नहीं हो सकता। किसी एक पदार्थ के किसी एक देश के प्रत्यक्ष से शेष का अनुमान साहचर्य से लगा लिया जाता है, जैसे धूम को देखकर अग्नि का अनुमान लगा लेते हैं। क्योंकि धूम और अग्नि में साहचर्य का नियम है। यह ज्ञात से अज्ञात का ज्ञान कराता है, जैसे

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० १७६

२. दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग १ पृ० १४१–१४२

दुख, सुख चेतनादि लक्षणों को देखकर ग्रात्मा का ग्रनुमान होता है।

साधन ग्रौर साध्य का परस्पर ग्रविच्छेद्य सम्बन्ध ही व्याप्ति है। ग्रनुमान व्याप्ति के बिना सम्भव नहीं। स्वामी दयानन्द सांख्य सूत्रों के आधार पर व्याप्ति की व्याख्या इस प्रकार करते हैं 'जो दोनों साध्य-साधन अर्थात् सिद्ध करने योग्य ग्रौर जिससे सिद्ध किया जाय उन दोनों ग्रथवा एक, साधनमात्र का निश्चित धर्म का सहचार है उसी को व्याप्ति कहते हैं जैसे धूम ग्रौर ग्रग्नि का सहचार है।"[1]

अनुमान तीन प्रकार का है—

"पूर्ववत्"—जैसे (कारण) बादलों को देखकर वर्षा (कार्य) का ज्ञान होता है,[2] वह पूर्ववत् ग्रनुमान है।

'शेषवत्'—ग्रर्थात् जहां कार्य को देख के कारण का ज्ञान हो, जैसे नदी के प्रवाह को बढ़ता देखकर ऊपर हुयी वर्षा का ज्ञान होता है।[3]

"सामान्यतोदृष्ट"—जो कोई किसी का कारण न हो परन्तु किसी प्रकार का साधर्म्य एक दूसरे के साथ हो, जैसे कोई भी बिना चले दूसरे स्थान को नहीं जा सकता वैसे ही दूसरों का भी स्थानान्तर में जाना बिना गमन के कभी नहीं हो सकता।"[4] नैयायिक सामान्यतोदृष्ट ग्रनुमान के ग्राधार पर ही शरीर में सुख, दुख, इच्छा, द्वेष इत्यादि को देखकर ही ग्रात्मा के होने का अनुमान लगाते हैं।

उपमान—जो प्रसिद्ध प्रत्यक्ष साधर्म्य से साध्य ग्रर्थात् सिद्ध करने योग्य ज्ञान की सिद्धि करने का साधन हो उसको उपमान कहते हैं **"उपमीयते येन-तदुपमानम्"** जैसे किसी ने कहा ······जैसी यह गाय है वैसी ही गवय ग्रर्थात् नील गाय होती है जंगल में जिस पशु को गाय के तुल्य देखा उसको निश्चय

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ६०
२. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५०—५१
३. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५१
४. वही, पृ० ५१

कर लिया कि इसी का नाम गवय है।"[1]

प्राय: तर्कशास्त्र के विद्वान उपमान प्रमाण की निम्न प्रकार से आलोचना किया करते हैं। वह कहते हैं कि किसी वस्तु को केवल उपमा मात्र से जानना तर्कशास्त्र में अत्यन्त विवादास्पद है क्योंकि यदि साध्य और साधन में पूर्ण साध्र्म्यता होवे तो यह कहना, इसके समान हो गया कि देवदत्त देवदत्त के समान है। इससे किसी नवीन बात का पता नहीं चलता। यदि कुछ विधर्मता व अधिकांश में साम्यता हो तो भी यह आवश्यक नहीं कि अधिकांश में साम्यता से, साधन से साध्य का ज्ञान हो जाय क्योंकि भैंस और काली गाय में काफी साम्यता है। परन्तु इससे भैंस गाय नहीं हो सकती। और यदि अधिकांश वैध्यर्मयता कहें तो बिल्कुल ही ज्ञान नहीं हो सकता। वैशेषिक इसको अनुमान में गिनता हैं कि यह गवय है क्योंकि यह गाय के समान है और जो भी गाय के समान है वह गवय है। सांख्य इसे शब्द प्रमाण में ले लेता है। लेकिन हमारे विचार से उपमान न तो पूर्णरूप से अनुमान ही है और न शब्द प्रमाण और न दोनों मिलकर। इसमें (१) किसी ने कहा है कि गवय गाय के समान है, (२) जंगल में गवय का प्रत्यक्ष होता है, (३) पूर्वश्रुत, कि गवय गाय के समान की स्मृति है, (४) तथा जो यह देखता हूं इस प्रकार का पशु गाय के समान होने से गवय है, ये चार मुख्य अवयव हैं। यह अन्तिम वाक्य समानता का द्योतक है न कि कार्य-कारण के सहचर्य का। इससे यह अनुमान नहीं है। केवल किसी के द्वारा कहे जाने से भी गवय का निश्चय नहीं होता इससे यह शब्द प्रमाण नहीं और केवल गवय के प्रत्यक्ष से भी जबकि गाय से उसकी समानता का बोध नहीं है, गवय का निश्चय संभव नहीं। इससे यह प्रत्यक्ष, अनुमान व शब्द में से कोई सा भी नहीं है। उपमान की विशेषता मनोवैज्ञानिक साम्यता है, जिसे सूत्रकार ने प्रसिद्ध साधर्म्य से और स्वामी दयानन्द ने प्रत्यक्ष साधर्म्य कही है, अर्थात् ऐसा साधर्म्य जो गवय के देखने पर स्वत: ही गवय का निश्चय करा देता है।

---

१. वही पृ० ५७

शब्द प्रमाण — "जो आप्त अर्थात् पूर्ण विद्वान, धर्मात्मा, परोपकारप्रिय सत्यवादी, पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय पुरुष जैसा अपने आत्मा में जानता हो, (और जो) सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेष्टा हो, अर्थात् जो जितने पृथिवि से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होकर उपदेष्टा होता है। जो ऐसे पुरुष और पूर्ण आप्त परमेश्वर के उपदेश वेद हैं उन्हीं को शब्द प्रमाण जानो।"[1]

ज्ञान प्राप्त करने में मानव जाति के जीवन में शब्द प्रमाण का महत्वपूर्ण एवं विशिष्ट स्थान है। यदि हम अपने पूर्वजों के ज्ञान पर विश्वास न करते और हर नयी पीढ़ी सब कुछ नए सिरे से ज्ञान प्राप्त करती तो मानव जाति आज इस उन्नत ज्ञान की अवस्था तक नहीं पहुंचती। लेकिन पूर्वजों या मान्य पुरुषों द्वारा दिया हर ज्ञान भी सत्य नहीं होता यह व्यवहार से पता चलता है। कोपरनिकस के गणित सम्बन्धी नियमों में न्यूटन ने सुधार किया और न्यूटन के सिद्धान्तों में आइन्सटीन ने किया और अब सुना है कि नर्लेकर ने आइन्सटीन के सिद्धान्तों में भी फेर-बदल किया है। लेकिन फिर भी हमें विद्वानों के निष्कर्षों व कथनों पर तब तक तो विश्वास करना ही पड़ता है जब तक वे असिद्ध न हो जायं। स्वामी दयानन्द के अनुसार जिन पुरुषों के उपदेशों को सत्य माना जाय उनमें दो विशेषतायें अवश्य होनी चाहियें कि प्रथम वे विद्वान हों जिन्होंने सत्य का साक्षात् किया हो एवं दूसरे परोपकारी हों अर्थात् जिनमें स्वार्थबुद्धि किंचितमात्र न हो। ऐसे पुरुष ही आप्त कहलाते हैं। स्वार्थ बुद्धि से मुक्त पूर्ण विद्वान् असत्य क्यों बोलेगा। इस पर भी यदि उनके वचन वेदों से विपरीत हों तो वेदों के वचन मान्य हैं और यह समझना चाहिए कि इनको अभी पूर्ण ज्ञान नहीं है। परन्तु वेद को प्रमाण मानने पर एक सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि वेद के मंत्रों के गूढ़ व रहस्यपूर्ण होने के कारण विभिन्न विद्वान् उनकी परस्पर विरोधी व्याख्या करते हैं फिर यह प्रश्न है कि कौन सी व्याख्या प्रमाण मानी जाय? व्याख्या न किया हुआ वेद का मंत्र अपने आप में एक पहेली है। इस पर यह कहा जा सकता है कि जो व्याख्या बुद्धि—

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५१–५२ :

संगत व सृष्टिक्रम के अनुकूल हो उसे मान लिया जाय। परन्तु कठिनाई तो यह है कि पदार्थ विद्या स्वयं अस्थिर है। वैज्ञानिक क्षेत्र में मान्यतायें बड़ी तेजी से बदल रही हैं। आज जिस वैज्ञानिक सिद्धान्त पर व्याख्या की जाय और वही कल बदल जाय तब क्या किया जाय। कहने का तात्पर्य यह है कि वेद को स्वतः प्रमाण मानने के लिये वेद के मन्त्रों की गवेषणापूर्ण व्याख्या करना आवश्यक है जिससे निरापद रूप से इन्हें स्वतः प्रमाण माना जा सके।

ऐतिह्य—किसी के जीवन चरित्र का नाम ऐतिह्य प्रमाण है।

अर्थापत्ति—अर्थात् किसी बात के कहने से उसके अर्थ रूप में कोई दूसरी बात सिद्ध हो "जैसे किसी ने किसी से कहा कि बादल के होने से वर्षा और कारण के होने के कार्य उत्पन्न होता है इससे (इस कथन से) बिना कहे यह दूसरी बात सिद्ध होती है कि बिना बादल वर्षा और बिना कारण के कार्य कभी नहीं हो सकता।"[1]

सम्भव—जो सृष्टिक्रम के विरुद्ध है उन बातों का न होना जैसे माता-पिता के बिना सन्तानोत्पति का होना सर्वथा असम्भव है। तथा जो बात सृष्टि-क्रम के अनुकूल हो वही सम्भव है, जैसा माता-पिता के संयोग से पुत्र का होना।[2]

अभाव—'न भवन्ति यस्मिन् सोऽभावः' अर्थात् जिसका भाव नहीं उसका अभाव है जैसे किसी ने कहा कि हाथी ले आ वह वहां हाथी का अभाव देखकर जहां था वहां से ले आया।[3]

अन्त के चार प्रमाण विशेष महत्व के नहीं हैं। इनको आसानी से पूर्व चारों में गिना जा सकता है। स्वामी जी कहते हैं 'इनमें से जो शब्द में ऐतिह्य और अनुमान में अर्थापत्ति, सम्भव व अभाव की गणना करें तो चार प्रमाण रह जाते हैं।" न्यायकार भी अन्तिम चार प्रमाणों का इसी तरह पूर्व चारों में तिरोभाव कर देते हैं।

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५२
२. वही ५२
३. वही, ५२

इन्द्रिय जन्य ज्ञान की सत्ता

इन्द्रियें संसार में ज्ञान-प्राप्ति के द्वार हैं। संसार का सारा ज्ञान सबसे पहले इन्हीं द्वारों से होकर अन्तःकरण में और वहाँ से जीवात्मा तक पहुंचता है। स्मृति, चिन्तन व मनन यह सब मानसिक क्रियायें बाद में होती हैं। अर्थात् इनका आधार भी प्रत्यक्ष ज्ञान है। स्वामी दयानन्द संसार को सत्य मानते हैं और इन्द्रियें संसार का ज्ञान प्राप्त करने में आत्मा के साधन हैं। श्रोत्र, चक्षु, रसना, नासिका एवं त्वचा इन पांचों ज्ञानेन्द्रियों से संसार के पांचों विषय शब्द, रूप, रस, गन्ध व स्पर्श का ज्ञान हो जाता है।[1] न्याय शास्त्र द्वारा संसार में शब्द, रूप, रस, गंध व स्पर्श आदि पाँच सूक्ष्म तत्वों और उनके कार्य पाँच स्थूल भूतों को स्वीकार करने का एक यह भी आधार स्वीकार किया गया है कि क्योंकि इन्द्रियां पाँच हैं[2] अर्थात मनुष्य जो ईश्वर की सृष्टि में उच्चतम कृति है पाँच ज्ञानेन्द्रियों वाला है! उसके भोग और अपवर्ग के निमित्त संसार बना है तो ज्ञान के विषय भी पांच ही होने चाहियें, नहीं तो इनसे अतिरिक्त विषयों को वह किस प्रकार जानेगा।

स्वामी शंकराचार्य जी इन्द्रियजनित ज्ञान को मिथ्या ज्ञान मानते हैं क्योंकि इन्द्रियें जीवात्मा को सदैव मिथ्या की ओर ले जाती हैं। ब्रह्मसूत्रों पर लिखी चतुर्सूत्री में वह कहते हैं कि प्रत्यक्षादि सब प्रमाण व शास्त्र अविद्यावत् हैं।[3] इससे स्पष्ट है कि इनके मत में प्रत्यक्ष ज्ञान जो इन्द्रियों से उत्पन्न होता है अविद्यावत् है। सत्य तो यह है कि यही मान्यता शंकराचार्य जी के जगत्-भ्रम के सिद्धान्त से मेल भी खाती है। रामानुज यद्यपि विशिष्टाद्वैतवादी हैं परन्तु वे दृश्यमान् जगत् को सत्य मानते हैं तथा इन्द्रियजन्य ज्ञान को शंकराचार्य की तरह आवश्यक रूप से मिथ्या नहीं कहते। उनका कहना है कि जो

---

१. "जो श्रोत्र, त्वचा······उसको प्रत्यक्ष कहते हैं"। सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १७६।

२. 'इन्द्रियार्थ पंचत्वात्।' न्याय ३।१।६१

३ 'अविद्यावद् विषयानि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणिचेति।' वेदान्त पर शंकर भाष्य की चतुर्सूत्री से।

शंकराचार्य इन्द्रियजन्य ज्ञान को इस आधार पर मिथ्या मानें कि श्रुति वाक्यों से इसका विरोध है तो उनके स्वयं के अनुसार श्रुति व्यावहारिक जगत् में होने से अमान्य है।[1] कहने का तात्पर्य वह है रामानुजाचार्य शंकराचार्य से सहमत नहीं हैं।

इन्द्रियों को ज्ञान के साधन मानने पर हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि क्या यह मान्यता हमें लॉक, बर्कले व ह्यूम की तरह, प्रत्ययवाद (Idealism) की ओर नहीं ले जायेंगी ? क्योंकि लॉक की इसी मान्यता का बर्कले और ह्यूम के दर्शन में यही तार्किक परिणाम निकला है। हम यहां पर यह स्पष्ट करदें कि स्वामी दयानन्द केवल इन्द्रियजन्य अनुभूतियों को ही नहीं बल्कि इसके अतिरिक्त अन्य दो सिद्धान्तों को ज्ञान-प्रक्रिया में मुख्य मानते हैं। वे हैं एक तो आत्मा की ज्ञान-रूप शक्ति। दयानन्द कहते हैं कि जीवात्मा सत्यासत्य जो जानने की शक्ति रखता है तथा दूसरे पूर्वजन्म के संस्कार जो इस जन्म में प्राणियों की मानसिक रचना, वृत्ति समूह, रुचि व व्यवहार के प्रवाह को बनाते हैं। लॉक मन को जन्म के समय साफ स्लेट की तरह बताता है। जिस पर इस जन्म में प्राप्त ज्ञान अंकित होता रहता है। यदि लॉक के इस कथन को मान लिया जाय कि इन्द्रियों से जो कुछ भी प्राप्त होता है वह मन पर अंकित हो जाता है। तो यह अंकित चिन्ह ज्ञान कैसे हो जाते हैं तथा मिथ्या ज्ञान कैसे होता है वह यह नहीं बता सकेंगे। लेकिन दयानन्द के मत में यह स्पष्ट है कि आत्मा ज्ञानरूप है, वह सत्यासत्य को जानने वाला है परन्तु मन पर पड़े पूर्व संस्कारों के प्रभाव से मिथ्या उपलब्धि की ओर झुक जाता है।

अब यह स्पष्ट है कि दयानन्द के मत में इन्द्रियें बाह्य जगत् का ज्ञान कराने वाले ज्ञानाधिकरण हैं। परन्तु इन्द्रियें जो भी ज्ञान प्राप्त करती हैं वह केवल पदार्थों के गुण हैं जिनकी व्याख्या आत्मा से संयुक्त होकर मन करता है।

---

१. Sri Bhasya P. 55 as quoted by the writer of Indian Epistemology on Page 329-330 by Jwala Prasad, M. A., Ph. D.

मिथ्या ज्ञान (False Knowledge)

जो भी ज्ञान हमें इन्द्रियों से प्राप्त होता है वह सब ही सत्य नहीं होता। इन्द्रिय ज्ञान के अतिरिक्त बहुत सी मानसिक उपलब्धियां भी मिथ्या होती हैं जैसे विभ्रम व स्वप्न। बाद में हमें उसका संसार में बाध होता दिखायी पड़ता है इससे मिथ्या ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। कोई भी ज्ञान-उपलब्धि तभी तक सत्य है जब तक उसे असत्य सिद्ध नहीं कर दिया जाता। रज्जु में सर्प की भ्रान्ति होती है।[1] जब तक हम भ्रांति में होते हैं तब तक वह हमारे लिए सर्प ही है। लेकिन रज्जु का सत्य ज्ञान होने पर सर्प की भ्रांति समाप्त होने जाती है। स्वामी दयानन्द इस भ्रांति का कारण अविद्या अथवा अज्ञान बताते हैं जो इन्द्रिय और संस्कारों के दोषों के कारण उत्पन्न होता है।[2] विद्या तथा अविद्या की और भी स्पष्ट व्याख्या करते हुये दयानन्द कहते हैं कि 'जिससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बोध होवे वह विद्या और जिसमे तत्व स्वरूप न जान पड़े, अन्य में अन्य बुद्धि होवे वह अविद्या कहलाती है।"[3] योग दर्शनकार महर्षि पातंजलि ने भी अविद्या की व्याख्या करते हुये कहा है कि अनित्य में नित्य, अशुचि में शुचि, दुख में सुख और अनात्मा में आत्मा की बुद्धि करना अविद्या है। यहां महर्षि पातंजलि का तात्पर्य भी वही है जो दयानन्द का है परन्तु वह दार्शनिक रूप में है।

अविद्या को मिथ्या ज्ञान या मिथ्या ज्ञान का कारण अविद्या कह देने से या इन्द्रिय या संस्कार के दोष से अज्ञान पैदा होना मात्र कहने से अविद्या क्या है यह प्रश्न नहीं सुलझता। क्योंकि अविद्या की इन सब व्याख्याओं से तो केवल इतना पता चलता है कि भ्रम या मिथ्या ज्ञान का कारण अविद्या है परंतु अविद्या क्या है इसके उत्तर में केवल यह कह देना कि मिथ्या ज्ञान अविद्या है अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न करना है। व्यास योग भाष्य में कहते हैं कि "किंतु विद्या के विपरीत

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, भूमिका पृ० २

२. 'इन्द्रियदोषात्संस्कार दोषाच्चाविद्या'। वै० स० ९. २. १०।

३. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २३६।

ज्ञान अविद्या है।"[1] वैशेषिक इसे दुष्ट ज्ञान कहता है।[2] सांख्य इसी अविद्या को अविवेक कहकर उससे बन्ध बताते है।[3] परन्तु अविद्या कैसे उत्पन्न होती है? तथा इसका स्वरूप क्या है? यह दो प्रश्न फिर भी अस्पष्ट रह जाते हैं। यह हमने माना कि रज्जु में सर्प की भ्रांति अविद्या से है परन्तु अविद्या किससे है? अविद्या जिससे सारा संसार भ्रमित है, स्वयं क्या है? यह एक रहस्य है और जो इस रहस्य को समझ ले वह इससे मुक्त हो जाता है। शायद इसीलिये श्री शंकराचार्य ने इसे अनिर्वचनीय कहकर इससे पीछा छुड़ाया। परन्तु यह होती क्यों है, आखिर जीवात्मा या ब्रह्म भ्रमित क्यों हो जाता है? यह प्रश्न शंकर-मत में भी बिना सुलझा रह गया है। सांख्यकार महर्षि कपिल ने इसे सुलझाने की चेष्टा की है। वे अविवेक को चित्त का धर्म बताते हैं जिससे प्रकृति संग होता है तथा प्रकृति के अन्य अविवेक प्रकृति संग होने से पैदा होते हैं।'[4] शंकर की तरह सांख्य भी कहता है कि अविवेक तत्व नहीं है। परन्तु जब सांख्य कहता है कि यह कथनमात्र अर्थात् चित्त की एक अवस्था मात्र है,[5] इस अंश में वह शंकर से मेल नहीं खाता। क्योंकि शंकर इसे अनादि, अनन्त और नैसर्गिक मानते हैं।[6] परन्तु समस्या अभी सुलझी नहीं क्योंकि यदि अविवेक चित्त का धर्म है तब धर्म-धर्मी के पृथक न होने से अविवेक सदैव उसमें रहेगा और क्योंकि चित्त पुरुष के साथ हैं इससे अविवेक भी उसी के साथ रहेगा। इससे सांख्य मत में मुक्ति का प्रसंग ही नहीं उठेगा।

इस समस्या पर स्वामी दयानन्द कहते हैं कि "आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ दुराग्रह और अविद्यादि

---

१. 'किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति' । योग, व्यासभाष्त २-५,
२. 'तद् दुष्टज्ञानम् । वै० सू० ९-२-११
३. 'तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम्' । सा० सू० १-५५
४. 'प्रधानाविवेकादन्याविवेकस्य तद्धाने हानम्।' सा० सू० १-५७
५. 'वाङ्मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थिते:' । सा० सू० १-५८
६. 'एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्या प्रत्ययरूप:।'
वे० सू० पर शंकर भाष्य की चतुर्सूत्री से ।

दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है"[1] तथा जीव का स्वरूप अल्प होने से आवरण में आता।"[2] इन उपरोक्त वाक्यों में दो बातें मुख्य हैं एक तो यह है कि मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है अर्थात् आत्मा में सत्य और असत्य में विवेक करने की शक्ति है। परन्तु दूसरी ओर शरीर में आकर सांसारिक प्रयोजनों अर्थात् सुख की प्राप्ति के कारण असत्य की ओर झुक जाता है क्योंकि वह स्वरूप से अल्पज्ञ हैं। **अविद्या या अज्ञान जिससे मिथ्या उपलब्धि होती है जीव की अल्पज्ञता से उत्पन्न होती है।** कोई भी जीव न स्वभाव से मुक्त है न बद्ध।[3] दयानन्द कहते हैं कि जो जीवात्मा स्वभाव से बद्ध होता तो मुक्त न हो सकता था और जो मुक्त होता तो बन्ध न होता! जीव की अल्पज्ञता से स्वामी दयानन्द का का तात्पर्य है कि जीवात्मा ज्ञान धारण करने की शक्ति तो रखता है परन्तु परमात्मा की तरह सर्वज्ञ नहीं होता। सर्वज्ञ अर्थात् सब कुछ जानने वाला क्यों विषय वासनाओं के चक्र में आयेगा। यह तो जीव अपनी अल्पज्ञता से वासनाओं के चक्र में फंसकर अन्य में अन्य के दर्शन करता है यही अविद्या का स्रोत है। दयानन्द के मत में अविद्या कोई अनिर्वचनीय तत्व नहीं है जिसे सतासत् दोनों भी कहा जाय और नहीं भी कहा जाय।

भ्रान्ति उत्पन्न होंने के कारण— मिथ्या उपलब्धि क्यों होती है? इस पर दयानन्द वैशेषिक के साथ सहमत हैं कि यह इन्द्रियदोष अथवा संस्कार दोष अथवा दोनों से होती है।[4] कुछ भ्रांतियां केवल इन्द्रिय दोष से होती हैं जैसे पीलिए का रोगी आंखें पीली होने के कारण सब ओर पीला ही पीला देखता है इसमें मानस संस्कारों के कारण भ्रांति नहीं होती। कुछ भ्रांति केवल मानसिक भ्रांति होती हैं जैसे निरालम्ब भ्रज (Hallucination)

---

१. सत्यार्थप्रकाश, भूमिका पृष्ट २
२. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३७
३. '(प्र०) बन्ध और मोक्ष स्वभाव से होता है या निमित्त से (उत्तर-दया०) निमित्त से' सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३७
४. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५९

कुछ भ्रन्तियां इन्द्रिय और मानसिक दोनों दोषों के कारण हो सकती हैं जैसे कि दोषपूर्ण चक्षु सीपी को देखती है तथा मन में स्थित रजत के संस्कार की सहायता से सीपी में रजत की भ्रांति होती है। जयन्त भट्ट भ्रांतियों को इन्द्रिय-भ्रान्ति व मानस-भ्रांति इन दो भागों में बांटते हैं। इनमें पहली इन्द्रिय-दोष से उत्पन्न होती है तथा सालम्बन होती है। दूसरी निरालम्ब होती है। इनमें पहली भ्रम है दूसरी निरालम्ब भ्रम (Hallucination)[1] श्रीधर सालम्ब-भ्रम को निर्विकल्पक और सविकल्पक दो भागों में बाँटते हैं। इनमें निर्विकल्पक भ्रम विशुद्ध इन्द्रिय-दोष से उत्पन्न होते है जैसे पीलिए का रोगी सबको पीला देखता है तथा दूसरे सविकल्पक भ्रम वे हैं जिनमें इन्द्रिय व संस्कार दोनों ही दोष मिश्रित हैं जैसे रस्सी का पूर्ण भान न करने वाली दोषयुक्त चक्षु सर्प के मन में स्थित संस्कारों से मिलकर रज्जु में सर्प की भ्रांति उत्पन्न करती हैं।[2] तीसरे प्रकार की भ्रांतियें निरालम्ब भ्रम हैं जिनका बाहर कोई आधार नहीं होता। इस विषय में स्वामी दनानन्द का इन विद्वानों से कोई विरोध नहीं दिखाई देता।

जयन्त भट्ट कहते हैं कि भ्राँन्ति में अनेक बाह्य एवं विषय सम्बन्धी दोष भी होते हैं, जैसे चाक्षुष प्रत्यक्ष में प्रकाश के कम अथवा अधिक होने से भ्रान्ति हो जाती है। इसी प्रकार विषय-दोष में सादृश्य, चलत्व, दूरत्व इत्यादि के होने से भ्रांति हो जाती है, जैसे रज्जु में सादृश्य से सर्प की भ्रान्ति होती है। इसी प्रकार अलात चक्र में भ्रान्ति तीव्र गति के कारण तथा दूरत्व के कारण चन्द्रमा का आकार में लघु दीखना इत्यादि होता है। यद्यपि स्वामी दयानन्द मिथ्या ज्ञान का इतना सूक्ष्म विवेचन नहीं करते परन्तु इनसे उनका कोई विरोध भी प्रतीत नहीं होता। उनका मुख्य विरोध तो नवीन वेदान्तियों की अनिर्वचनीय ख्याति से है।

शंकर वेदान्तियों का कथन है भ्रम के पदार्थ न सत् हैं न असत् और न सदासत् वरन् अनिर्वचनीय हैं। इसी से यह अनिर्वचनीय ख्याति कहलाती है।

---

१. Indian Psychology. Perception Vol.I.P.274: J.N, Sinha

२. Indian Psychology, Perception, P. 275: J. N. Sinha.

इस मत के अनुसार जो भी पदार्थ ज्ञान से प्रकाशित होते हैं वही ज्ञान का विषय हैं। सीपी में रजत की भ्रांति में रजत विषय है इसी से रजत का भान होता है। वेदान्तियों का कहना है कि यदि नैयायिक भ्रम की अवस्था में अन्य का ज्ञान मानते हैं तो सीपी में रजत का ही क्यों भान होता है किसी अन्य पदार्थका क्यों नहीं हो जाता। भ्रम के पदार्थ को असत कहने में उनका तर्क है कि सीपी में रजत सत् इसलिए नहीं है कि यदि यह सत् होती तो बाद में इसका बाध नहीं होना चाहिए था और असत् इसलिए नहीं कि असत् होकर यह रजत का ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकती। और सदासत् इसलिए नहीं कि उस दशा में उपरोक्त दोनों कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी। इसलिए सीपी में रजत का मिथ्या ज्ञान अनिर्वचनीय है।[1] शकर अध्यास की व्याख्या "जो नहीं है उसकी इसमें कल्पना करना"[2], के रूप में करते हैं, अर्थात वस्तु में अवस्तु को प्रतीति करना जैसे जो सत्पदार्थ वस्तु है में अवस्तु सर्प जो असत्पदार्थ है कि बुद्धि उत्पन्न रज्जु करना अध्यास है।

स्वामी दयानन्द अनिर्वचनीय ख्याति के पोषक वेदान्तियों के मत में एक भूल की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। वे वेदान्तियों से कहते हैं कि 'तुम (शकरवादी) रज्जु को वस्तु और सर्प को अवस्तु मानकर इस भ्रम जाल में पड़े क्या सर्प वस्तु नहीं है? जो कहो कि रज्जु में नहीं तो देशान्तर में है और उसका संस्कार मात्र हृदय में है फिर वह सर्प भी अवस्तु नहीं रहा।" इससे स्वामी जी का अभिप्राय यह है कि रज्जु में सर्प की भ्रान्ति के समय रज्जु के स्पष्ट न दीखने से तथा रज्जु व सर्प की समानता का ही भान होने से पूर्व दृष्ट सर्प के चित्त में स्थित संस्कारों की स्मृति हो जाती है, इससे रज्जु में सर्प की भ्रान्ति हो जाती है, जो अन्य में अन्य की प्रतीति है, वस्तु में अवस्तु की प्रतीति नहीं। क्योंकि पूर्वदृष्ट सर्प अवस्तु नहीं वस्तु है। यही नैयायिकों की अन्यथा ख्याति है। स्वामी जी अन्यथा ख्यातिको मानने में न्यायमत से सहमत हैं।

---

१. Indian Philosophy. V. 2, P. 133, by Dr. S. Radhakrishnan.

२. 'अध्यासो नामातस्मिंस्तद्बुद्धि'। वे० सूत्र पर शंकर भाष्य की भूमिका से।

वेदान्तियों की अनिर्वचनीय ख्याति का श्री रामानुज अनेक प्रकार से खण्डन कर अपनी सत्-ख्याति की इस प्रकार स्थापना करते हैं। सीपी में रजत के भ्रम में रजत सत् पदार्थ है क्योंकि असत् पदार्थ की उपलब्धि नितान्त असम्भव है। (यहां तक दयानन्द और रामानुज में भेद नहीं है।) परन्तु रामानुज आगे कहते हैं कि सीपी और रजत की समानता से मिथ्या ज्ञान नहीं होता क्योंकि इससे केवल चित्त पर पड़े रजत के संस्कार ही जाग्रत हो सकते हैं जिसे स्मृति कहते हैं, इससे यहां पर रजत का प्रत्यक्ष नहीं होता। उनका आगे कहना है कि रजत में अग्नितत्व की प्रधानता है और रजत कुछ अंशों में सीपी में रहती है, जिसमें (सीपी में) पृथिवी तत्व की प्रधानता है। और फिर यह नियम भी है कि कोई पदार्थ दूसरे के समान तभी होता है जबकि पहले में दूसरा कुछ अंशों के रहता है। इससे सीपी में रजत कुच अंशों में रहता है। तभी इनकी आपस में समानता दिखायी पड़ती है। इससे हमें सीपी में अवस्थित इन्हीं रजत के अंशों के कारण रजत का भान होता है। इस पर प्रश्न होता है कि यदि वास्तव में ऐसा है तब फिर इसे सीपी में रजत का मिथ्या ज्ञान क्यों कहते है जबकि हमें सीपी स्थित वास्तविक रजत का भान होता है। इसके उत्तर में रामानुज कहते हैं कि सीपी में रजत इतने कम अशों में होता है कि वह रजत् का व्यवहार नहीं कर सकती।[1] अतः हम इसे सीपी में रजत की भ्रान्ति कहते हैं।

प्रतीत यह होता है कि रामानुज शंकर की अनिर्वचनीय ख्याति, वस्तु में अवस्तु के आरोपण के खण्डन की धुन में रजत को सीपी मैं सिद्ध कर उसे सीपी के समान वस्तु सिद्ध करना चाहते हैं। परन्तु यह व्यवहार और तथ्य दोनों के विपरीत है। दयानन्द के अनिर्वचनीय ख्यातिवाद के खण्डन में यह दोष नहीं है। वे रजत को सीपी में वस्तु रूप में सत् नहीं मानते बल्कि रजत पूर्व दृष्ट जौहरी की दुकान में सत् है और उसका संस्कार चित्त में संस्काररूप में सत् है। दूसरी तरफ वातावरण के प्रभाव से सीपी में रजत के समान

1. Indian Psychology, Perception V. 1 P. 295 by J. N. Sinha.

चमक देखने से संस्कार के रजत का स्मरण हो आता है। इससे सीपी रजतवत् दिखायी पड़ती है। इसके उत्तर में यदि यह कहा जाय कि संस्कारों के स्मरण से तो स्मृति ही हो सकती है रजत का प्रत्यक्ष नहीं। तो उत्तर है कि स्वप्न में भी तो संस्कार साकार वस्तुवत् दिखाई पड़ते हैं तो इसमें क्या दोष है? लेकिन इससे अद्वैतवाद की सिद्धि नहीं होती क्योंकि दयानन्द किसी भी भ्रम या स्वप्न के लिए संस्कारों की उपस्थिति को आवश्यक कहते हैं जोकि केवल जाग्रत में ही हो सकती है। इससे हम यह देखते हैं कि दयानन्द शंकर व रामानुज के मतो में आयी भूल को सुधार कर, अन्य में अन्य की प्रतीती मानकर न्याय की अन्यथा-ख्याति को ही पुनः स्थापित करते हैं।

सत्य–ज्ञान का स्वरूप

स्वामी दयानन्द ज्ञान की परिभाषा में कहते हैं कि 'यथार्थ दर्शनं ज्ञानमिति' अर्थात् यथार्थ दर्शन ही ज्ञान है। स्वामी शंकर ने सत्य ज्ञान की परिभाषा में कहा है कि जो किसी अन्य ज्ञान द्वारा बाधित न हो वह ज्ञान सत्य है। आचार्य शंकर की सत्य-ज्ञान की इस व्याख्या से स्वामी दयानन्द का कोई विरोध नहीं है क्योंकि पदार्थ का यथार्थ दर्शन वास्तव में उसका अपने स्वभाव का ज्ञान है। रज्जु को रज्जु सीपी को सीपी एवं मृगतृष्णिका के जल को मृगतृष्णिका जानना ही यथार्थ है। लेकिन शंकराचार्य समस्त जगत् को ही एक महान् भ्रम बताते हैं जिसका उनके अनुसार परमार्थ में बाध हो जाता है, जैसे रज्जु का भान होने पर सर्प का भ्रम बाधित हो जाता है। परन्तु दयानन्द की सत्य-ज्ञान की यह व्याख्या किसी सत्ता विशेष से सम्बन्धित नहीं है वरन् हर वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानना सत्य ज्ञान है जगत् के पदार्थ हैं। और इनके वास्तविक स्वरूप को जानना ज्ञान है।

स्वामी दयानन्द का यथार्थ दर्शन से क्या तात्पर्य है इसकी वह इस प्रकार व्याख्या करते हैं—"जिससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बोध होवे वह विद्या और

जिससे तत्वस्वरूप न जान पड़े अन्य में अन्य की बुद्धि होवे वह अविद्या है[1]।"
इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला सारा ही ज्ञान सत्य नहीं होता यह हम पूर्व प्रकरण में देख चुके हैं। परन्तु साथ ही यह भी तथ्य है कि मिथ्या उपलब्धि में इन्द्रियों के अलावा और भी अनेक कारण हैं। इससे यह पता चलता है कि इन्द्रियें भी सत्य-ज्ञान को प्राप्त कर सकती हैं परन्तु उनकी सीमा गुणों तक सीमित है। इससे इन्द्रियों का कभी द्रव्य से सीधा सम्बन्ध नहीं होता। इससे द्रव्य अपनी यथार्थता को हमसे बराबर छिपाये रहता है। परन्तु गुण संसर्ग में इन्द्रियों की उपलब्धि यथार्थ ही है। इससे तत्व के स्वरूप के जानने में इन्द्रियें अंशतः सफल होती हैं पूर्णतया नहीं। जब स्वामी दयानन्द पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के बोध को विद्या कहते हैं तब उनका तात्पर्य है कि कोई भी उपलब्धि चाहे वह इन्द्रियों से हो या बुद्धि से उस पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को जो वह यथार्थ में है जानने वाली होनी चाहिए। इससे इन्द्रियें जहाँ तक उनकी पहुंच है, उस तक यदि तत्व का यथार्थ बोध कराती हैं तब यह इन्द्रियजन्य ज्ञान भी उस अंश तक उस तत्व का सत्य ज्ञान हो सकता है। यहां शंकराचार्य और दयानन्द में अन्तर है। शंकराचार्य जगत् को ही भ्रम मानते हैं, इससे व्यावहारिक स्तर की प्रत्येक उपलब्धि भ्रमपूर्ण होने से मिथ्या ही होगी, क्योंकि उसका परमार्थ में बाध होना पाया जाता है। इन्द्रियों के क्षेत्र में साधारण प्रत्यक्ष में गुणों के आधार पर द्रव्य का अनुमान किया जाता है, परन्तु सधी हुई योग बुद्धि पदार्थों के ज्ञान को तथा उनके वास्तविक स्वरूप को जानने में समर्थ होती है। साधारण बुद्धि के सम्मुख आने वाला ज्ञान बाहरी आवरणमात्र है जिसे सधी हुई बुद्धि भेदकर तत्व के स्वरूप तक पहुंच जाती है, उदाहरणार्थ स्वर्ण का टुकड़ा साधारण बुद्धि के लिए स्वर्ण है परन्तु वैज्ञानिक बुद्धि के लिए स्वर्ण के परमाणुओं का संघात है, जिनका विशिष्ट स्वरूप है। परन्तु अति उच्च वैज्ञानिक

१, सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३६

के लिये ये स्वर्ण के परमाणु एलेक्ट्रोन, प्रोटोन व न्यूट्रोन की निश्चित संख्या वाले है, जिनमें परिवर्तन करने पर स्वर्ण के परमाणुओं को किसी अन्य तत्व के परमाणुओं में बदला जा सकता है। निःसन्देह वैज्ञानिक बुद्धि अति तीक्ष्ण है, परन्तु वह साधारण बुद्धि जो उसे स्वर्ण का टुकड़ा मानती है वह भी उस अंश तक सही है। संसार का ज्ञान रज्जु में सर्पवत् नहीं है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड और इससे परे जीव, ईश्वर पर्यन्त समस्त तत्वों के सही-सही स्वरूप को जानना कि वास्तव में वह क्या हैं, सत्य ज्ञान की अन्तिम सीमा है। जिसने सत्य ज्ञान की इस अवस्था को प्राप्त कर लिया है उस व्यक्ति के बारे मे उपनिषदें कहती हैं कि उसके सारे संशय नष्ट हो जाते।[1] इससे स्पष्ट है कि तात्विक दृष्टि रखने वाला व्यक्ति पदार्थों के विषय में संशयरहित हो जाता है क्योंकि उसे उनका तात्विक बोध हो जाता है।

अविद्या की व्याख्या में दयानन्द पातंजलि से सहमत है कि अनित्य में नित्य, अशुचि में शुचि, दुख म सुख और अनात्मा में आत्मा का ज्ञान कराने वाली अविद्या ही है। तब इससे स्वयं ही यह सिद्ध होता है कि अशुचि को अशुचि, दुख को दुखं, अनित्य को अनित्य तथा अनात्मा को अनात्मा ही जानने वाला विद्या को जानता है। अर्थात् पदार्थों का यथावत् मानना ही सत्य ज्ञान है।[2] और इसे हम समस्त पदार्थों के विषय में भी लागू कर सकते हैं। इसी को वैशेषिक दुष्ट और अदुष्ट ज्ञान[3], सांख्य विवेक और अविवेक के रूप में कहते हैं। दयानन्द की इस व्याख्या में आचार्य शंकर का बाध न होने का सिद्धान्त तो आ ही जाता है क्योंकि यथार्थ का बाध कभी नहीं होता परन्तु साथ ही मिथ्या

---

१. मु उ०, २-२-८

२. वेत्ति यथावतत्त्व पदार्थ स्वरूपं यया सा विद्या यया तत्त्व स्वरुपं न जानाति भ्रमादन्यस्मिन्नन्यन्निश्चिनोति यया साऽविद्या।" सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३६

३. वैशे० सू०, ९-२-११

को मिथ्या मानना भी आ जाता है। मिथ्या ज्ञान का बाद के ज्ञान से बाध हो जाता है इससे उसकी असत्ता की सिद्धि नहीं होती वरन् सत्ता की सिद्धि होती है। इससे हमें उसको भी जानना चाहिए कि वास्तव में यह क्या है और क्यों पैदा होता है ? इसी से दयानन्द कहते हैं कि "जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ-साथ जानता है वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तर के विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।[1]

———

१. यजुर्वेद, ४०–१४ पर दयानन्द. स० प्रकाश. पृ० २३६

८

मनोविज्ञान
(PSYCHOLOGY)

दयानन्द के मनोवैज्ञानिक विचारों का आधार

भारतीय मनोविज्ञान में मन का बड़ा महत्व है। मन द्वारा ही आत्मा का शरीर से सम्बन्ध होता है। यही मन दर्पण के समान इन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभूतियों को ज्ञान में परिवर्तित करता है। मन की साधना के द्वारा योगी पुरुष अध्यात्म-ज्ञान को प्राप्त करते हैं।

यजुर्वेद के चौंतीसवें अध्याय के शिवसंकल्प सूक्त में जिसका देवता मन है, मन की शक्ति व इसके कार्यों का विवरण पाया जाता है। स्वामी दयानन्द यजुर्वेद के इस सूक्त तथा ऋग्वेद व अथर्ववेद में प्राप्त उच्च कोटि के मन सम्बन्धी सूत्रों के आधार पर ही अपनी मन एवं मनोविज्ञान सम्बन्धी विचारधारा का सृजन करते हैं। उपनिषदों में, मन व मनस शक्ति तथा मन के कार्यों का वर्णन स्थान-स्थान पर पाया जाता है। पातंजलि अपने योग दर्शन में मन के स्थान पर चित्त शब्द का प्रयोग करते हैं तथा महर्षि कपिल ने बुद्धि शब्द को ही मन के स्थान पर प्रयुक्त किया है। पातंजलि ने अपने योग-सूत्रों में उपनिषदों में यत्र-तत्र बिखरे हुये मनोवैज्ञानिक तत्त्वों को अपने योग दर्शन में वैज्ञानिक रूप में दिया है। पातंजलि के, मन के स्थान पर चित्त के प्रयोग से उनका अन्य वैदिक शास्त्रों से कोई विरोध नहीं है।

स्वामी दयानन्द वेद, उपनिषद् व षड्-शास्त्रों में प्रतिपादित मनोविज्ञान के आधार पर ही अपने मनोविज्ञान का प्रतिपादन करते हैं। महर्षि पातंजलि के योगदर्शन में जिस गम्भीर मनोविज्ञान का विकास हुआ है उसे वैदिक मतों के साथ-साथ अवैदिक सम्प्रदाय भी अपने मार्ग-दर्शक के रूप में स्वीकार करते हैं। फिर स्वामी जी तो सत्यान्वेष्टा हैं, इससे वह पातंजलि

को क्यों न स्वीकार करते। योगसूत्रों पर अन्य शास्त्रों की तरह अनेक भाष्य लिखे गये हैं परन्तु दयानन्द इसमें व्यास भाष्य को ही प्रामाणिक मानते हैं। यही नहीं वरन् कहीं-कहीं पर तो वह व्यास भाष्य में भी संशोधन करते हुये दिखायी पड़ते हैं।

दयानन्द की मनोवैज्ञानिक मौलिकता उनके द्वारा प्रतिपादित मनोविज्ञान के वैदिक आधार में निहित है। मन क्या है? तथा मन का शरीर से क्या सम्बन्ध है? इसका हमारे जीवन में क्या महत्व है? इत्यादि प्रश्नों के रूप में स्वामी जी हमारे सम्मुख यजुर्वेद के शिव-संकल्प-सूक्त के छः मंत्रों को प्रस्तुत करते हैं। इन मंत्रों का अर्थ इस प्रकार है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवन्तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥१॥
येनकर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥२॥
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥३॥
येनेदं भूते भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥४॥
यस्मिन्नृचः साम यजुंषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिश्चित्त ँ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥५॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्ते मनः शिव संकल्पमस्तु ॥६॥

(१) यह जो मेरा मन जाग्रत अवस्था में दूर-दूर जाता है, तथा दिव्यगुण युक्त रहता है, वही सुषुप्ति को प्राप्त होता है तथा स्वप्न में दूर-दूर जाने का व्यवहार करता है, वह सब ज्योतिओं की ज्योतिरूपी मेरा मन सत्य संकल्पों वाला हो।

(२) जिसके द्वारा विद्वान् मनीषी लोग शुभ कर्मों को करते हैं जो अपूर्व सामर्थ्ययुक्त, पूजनीय व सब प्रजाओं के भीतर रहने वाला है वह मेरा मन सत्य संकल्पों वाला हो।

(३) जो उत्कृष्ट ज्ञान और दूसरों को चिताने वाली निश्चयात्मक वृत्ति

है और जो प्राणियों में प्रकाशयुक्त व नाशरहित है, जिसके बिना कोई कुछ नही कर सकता, वह मेरा मन सत्य संकल्पों वाला हो।

(४) जिसके द्वारा योगी पुरुष वर्तमान, भूत व भविष्य को जानते, जो नाशरहित जीव को परमात्मा से मिलाकर त्रिकालज्ञ करता है जिसमें ज्ञान और क्रिया है तथा जो पांच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और आत्मायुक्त रहता है, वह मेरा मन सत्य संकल्पों वाला होवे।

(५) जिस प्रकार रथ के मध्य धुरे में आरे लगे रहते हैं वैसे ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद जिसमें प्रतिष्ठित हैं तथा जिसमें प्राणियों का सब पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान सूत में मणियों के समान जिसमें संयुक्त है वह मेरा मन कल्याणकारी हो।

(६) रस्सियों से सारथि द्वारा जिस प्रकार घोड़े नियंत्रित किये जाते हैं, उसी प्रकार यह सब प्राणियों को अपने अधिकार में इधर-उधर डुलाता है, जो हृदय में प्रतिष्ठित गतिमान् और अत्यन्त वेग वाला है, वह मेरा मन शुभ गुणों वाला हो।

मन उसके कार्य व उसमें छिपी शक्तियों का इससे सूक्ष्म व सुन्दर वर्णन सारे लौकिक व अलौकिक साहित्य में कहीं नहीं मिलता। इसमें कहा हैं कि मन प्राणियों के शरीरों में हृदय में रहता है इसका मुख्य कार्य शरीर का आत्मा से सम्बन्ध कराना है। मन में ज्ञान धारण करने की बड़ी अद्भुत शक्ति है। पाँचों ज्ञानेन्द्रिएँ, पांचों कर्मेन्द्रिएँ, पांचों प्राण व बुद्धि इसी के नियंत्रण में कार्य करते हैं। मन जाग्रत, स्वप्न व, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में बराबर विद्यमान रहता है। योग द्वारा संयमित व नियंत्रित मन तीनों कालों का ज्ञान धारण करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। योग द्वारा मन में इससे भी परे सूक्ष्म तत्त्वों व पदार्थों का ज्ञान करने की शक्ति आ जाती है। शुद्ध मन में परमात्मा का वेदरूपी ज्ञान स्वतः प्रवाहित होता है। यजुर्वेद के इन मन्त्रों में वैदिक मनोविज्ञान की सारी मान्यतायें व निष्कर्ष बीजरूप में मिल जाते हैं। उपनिषदों के ऋषियों ने इसी वैदिक धारणा का विस्तार अपने ग्रन्थों में अनुभव के आधार पर किया है।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में भी मन को साधने तथा परमात्मा में स्थिर करने के आदेशात्मक मन्त्र मिलते हैं। ऋग्वेद कहता है कि "अपने मन

को परमात्मा में स्थिर करो "[१] अर्थात् ऋग्वेद के अनुसार मन परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। और भी इस प्रकार के अनेक मन्त्र वेदों में पाये जाते हैं जिनमें से कुछ दयानन्द जी ने अपनी ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका में दिये भी हैं।

शिव-संकल्प-सूक्त में मन की सत्ता उसके कार्य व शक्ति का निर्देशात्मक विवरण है तथापि मनोविज्ञान की मूलभूत धारणायें व इसके अध्ययन से मानव जाति को प्राप्त होने वाले लाभों का स्पष्ट व्याख्यान भी इसमें मिलता है और साथ ही यह भी कहा है कि मन के बिना प्राणियों में कोई भी व्यवहार संभव नहीं है। इससे वैदिक ऋषियों के हृदय में इस मनरूपी अद्‌भुद् शक्ति को जानने की जिज्ञासा पैदा होना स्वाभाविक ही था। लेकिन साथ ही हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि वेदों में मन शब्द का उस समस्त शरीरस्थ उपकरण के लिए प्रयोग हुआ है जिसको बाद के दर्शनकारों ने अन्तःकरण कहा है।

अन्तःकरण चतुष्ट्य—पूर्ववर्ती दार्शनिकों व भाष्यकारों की तरह ही स्वामी दयानन्द ने भी कार्य की दृष्टि से अन्तःकरण के चार विभाग मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार किए हैं। स्वामी दयानन्द मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को क्रमशा संकल्प-विकल्प, निश्चय, स्मरण और अभिमान-गुणों वाला कहते हैं।[२] **मन का कार्य संकल्प-विकल्प करना है।** इसका शरीर में मुख्य कार्य पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सूचना प्राप्त करना तथा कर्मेन्द्रियों को कार्य करने के लिये आदेश देना है। इसी रूप में साँख्यशास्त्र ने भी इसे माना है।[३] आधुनिक मनोविज्ञान में वाटसन के व्यवहारवाद में उत्तेजना-प्रतिक्रिया (Stimulus & Response) को ही प्राणी का पूर्ण मनोविज्ञान मान लिया है। उन्होंने इस बात के जानने की चेष्टा नहीं की कि मस्तिष्क में होने वाले

---

१. 'युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। ऋ० ४४.२४.१.

२. अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार से संकल्प-विकल्प, निश्चय, स्मरण और अभिमान का करने वाला दण्ड और मान्य का भागी होता है। (सत्यार्थप्रकाश पृ० २३८)।

३. उभयात्मकं च मनः। साँख्य सूत्र ५-८१-१।

संकल्प-विकल्पों का कर्त्ता कौन है ? हम देखते हैं कि प्रत्यक्ष की निर्विकल्पक अवस्था में मिलने वाली अनुभूतियों से, विषय के सम्बन्ध में कुछ भी पता नहीं चल सकता । और यदि कुछ पता चलता है तो केवल इतना कि ये कुछ अनुभूतियें हैं, परन्तु किस वस्तु की ये कुछ नहीं । ये अनुभूतियें जब मन में आती हैं, मन इनको संयुक्त करता है और तब यह ज्ञान होता है कि यह पदार्थ अमुक वस्तु है । यही प्रत्यक्ष की सविकल्पक अवस्था है । यहां पर ज्ञान क्रिया में ज्ञाता को केवल मात्र अनुभूतियों का ही ज्ञान नहीं वरन् ज्ञाता का तत्सम्बन्धी मानसिक निर्णय भी इसमें सहायक है । यह निर्णय बिना चेतन ज्ञाता के सम्भव नहीं हो सकता । क्योंकि निर्णय में 'यह' नहीं 'वह' और क्रिया पक्ष में एक कार्य के बदले में दूसरा कार्य होता है । स्वामी शंकराचार्य चेतन प्राणी के तीन गुण बताते हैं कि वह किसी कार्य को करे, ना करे या उलटा करने लगे । इच्छानुसार किसी कार्य को करने के लिए उपयुक्त समझना यह सिद्ध करना है कि प्राणियों के व्यवहार वाटनस के उत्तेजना-प्रतिक्रिया ही नहीं बल्कि संकल्प-विकल्प धारण करने वाली शक्ति से किए गए सजीव निर्णय हैं । और यह मन ही है जो आत्मा की चेतन शक्ति से शरीर के व्यापार करता है । अन्तःकरण का दूसरा भेद बुद्धि है । बुद्धि निश्चयात्मक ज्ञान धारण करने वाली होती है । इसमें द्विविधा नहीं होती । अन्तःकरण जब स्मरण करता है तब वह चित्त होता है । मन द्वारा की हुई समस्त क्रियायें संस्काररूप होकर अन्तःकरण में चली जाती हैं जहाँ से चित्त उन्हें स्मृतिरूप में पुनः प्राप्त करता है । वाटसन स्मृति को विशुद्ध Sensory-Motor कहते हैं । परन्तु वह यह नहीं बताते कि विभिन्न अनुभूतियें किस प्रकार और कहाँ एकत्रित होती हैं तथा समय पड़ने पर कैसे पुनः सामने आ जाती हैं । इसके अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि शान्त बैठे हुए बिना किसी बाह्य उत्तेजना अथवा आन्तरिक प्रेरणा (Stimulus) के हमें ऐसी स्मृति हो जाती है जिनका वर्तमान से कोई सम्बन्ध नहीं होता । इस तथ्य को वाटसन Sensory-Motor आधार पर नहीं समझा सकते । दयानन्द के अनुसार जैसा कि अन्य वैदिक दार्शनिक भी मानते हैं स्मृतियें अन्तःकरण में स्थित चित्त-वृत्तियें हैं । अन्त.करण का चौथा कार्य अहंकार है । स्वयं को जानना तथा अन्य पदार्थों से अपने को पृथक सत्ता समझना अहंकार का कार्य है ।

मैं अपने क्रिया-कलापों, भावनाओं, संवेगों, अनुभूतियों से परिचित तो हूं ही, परन्तु साथ ही अपने को इनसे पृथक ज्ञातारूप सत्ता भी मानता हूँ। देकर्त ने इसे ही "मैं चिन्तन करता हूँ इसलिये मैं हूं" (I think therefore I am) के प्रसिद्ध मुहावरे में कहा है। परन्तु दयानन्द इसे मैं हूं इसलिये मैं चिन्तन करता हूँ" (I am therefore I think) इस रूप में मानना अधिक पसन्द करेंगे। मैं हूँ कि भावना ही अहंकार है।

अन्तःकरण चतुष्ट्य के विवरण से दयानन्द का तात्पर्य यह नहीं है कि मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार चारों तत्त्व अलग-अलग हैं और इनका संघात अन्तःकरण है। बल्कि ये एक ही अन्तःकरण की चार भिन्न-भिन्न कार्य करने की शक्तियाँ हैं। इस प्रकार दयानन्द के मनोविज्ञान के अन्तर्गत ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों के व्यापार (Sensory-Motor) स्मृति, निश्चय (Judgment) व अभिमान वृत्ति मन में रहने वाले संस्कार तथा मन में उठने वाली आवेगात्मक वृत्तियें इत्यादि सब ही आ जाती हैं। इसके साथ ही मानसिक वृत्तियों का जीवन के शुभ के लिए संयमन भी आ जाता है।

सूक्ष्म शरीर

दीख पड़ने वाले स्थूल शरीर के अन्तर में, और भी तीन शरीर हैं, वैदिक दर्शन में यह विचार उपनिषदों में भी पाया जाता है। इसी औपनिषदिक दर्शन को स्वामी दयानन्द ने पुनः प्रकाशित किया है। स्वामी जी कहते हैं "शरीर तीन हैं एक स्थूल जो यह दीखता है। दूसरा पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच सूक्ष्म भूत और मन तथा बुद्धि, इन सतरह तत्त्वों का समुदाय सूक्ष्म शरीर कहाता है। यह सूक्ष्म शरीर जन्म-मरण आदि में भी जीव के साथ रहता है। इसके दो भेद हैं, एक भौतिक अर्थात् जो सूक्ष्म भूतों के अंशों से बना है। दूसरा स्वाभाविक जो जीव के स्वाभाविक गुणरूप है। यह दूसरा अभौतिक शरीर मुक्ति में भी रहता है। इसी से जीव मुक्ति में सुख को भोगता है। तीसरा कारण (शरीर) जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होता है वह प्रकृतिरूप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवों के लिए एक है।"[1]

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २४८

स्थूल शरीर के कार्य सूक्ष्म शरीर से नियंत्रित होते हैं, कृत्य एवं अनुभूत विषयों के संस्कार इसी सूक्ष्म शरीर में अन्तःकरण में चले जाते हैं। जिस पुरुष का जैसा संस्कार-प्रवाह होता है वैसा ही वह दैनिक जीवन में व्यवहार करता है। सूक्ष्म शरीर में पड़े संस्कार आदत (Habits) और स्थायी भाव (Sentiments) भी बनाते हैं। ये ही प्रसुप्तावस्था में पड़े संस्कार अर्ध-चेतन (Sub-conscious) व अचेतन मन (unconscious mind) का रूप ग्रहण कर लेते हैं। सामाजिक व नैतिक प्रतिबन्धों के कारण दबा दिये जाने वाले ये शक्तिशाली संस्कार जीवन में अनेक मानसिक रोग व गुत्थियाँ बना देते हैं। इसी शरीर में आकर असम्बद्ध विचार व अनुभूतियाँ एक दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करती हैं। समय पड़ने पर प्रत्यभिज्ञा (Memory) भी इन्हीं संस्कारों में से कुछ संस्कारों के मन के चेतन स्तर पर आने पर होती हैं।

पाँच प्राण Five Vital Forces)—सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत शरीर में विभिन्न कार्यों को करने वाले पाँच प्राण होते हैं इनमें प्रथम **'प्राण'** जो भीतर से बाहर जाता (है) **'अपान''** जो बाहर से भीतर आता (है) **"समान"** जो नाभिस्थ हो सर्वत्र शरीर में रस पहुँचाता (है) **"उदान"** जिससे कण्ठस्थ अन्नपान खींचा जाता है **"व्यान''** जिससे सब शरीर में चेष्टा आदि कर्म जीव करता है।[1]

पाँच ज्ञानेन्द्रियां—इसके अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रियां अपने शक्तिरूप में होती हैं। स्वामी दयानन्द का सूक्ष्म शरीर स्थित पांच ज्ञानेन्द्रियों से स्थूल शरीर की त्वचा, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण व रसना से तात्पर्य नहीं है वरन् इनकी सूक्ष्म शक्तियों से है। भारतीय मनोविज्ञान में ज्ञानेन्द्रियों का यह शक्तिरूप व स्थूलरूप का भेद अत्यन्त महत्वपूर्ण है। स्थूल ज्ञानेन्द्रियें इन्हीं सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों से शक्ति प्राप्त करके ही क्रियाशील होती हैं। सांख्य दर्शन इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से मानता है, इनकी सृष्टि स्थूल भूतों से पूर्व ही पचतन्मात्राओं के साथ-साथ होती है। यद्यपि आधुनिक परा-मनोविज्ञान (Para-Psychology) ज्ञानेन्द्रियों की सूक्ष्म शक्तियों को स्वीकार नहीं करता। परन्तु परा-मनोविज्ञान की समस्यायें जैसे दूर-दर्शन, दूर-श्रवण व दूसरे के मन की बात जान लेना इन्हें सिद्ध करती है। दूर

१. वही, पृ० २४८

दर्शन में स्थूल चक्षुओं का सीधा वस्तु से सम्बन्ध नहीं होता इसलिए इसे मनोविज्ञान की भाषा में इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता दूरस्थ वस्तुओं का ज्ञान कैसे होता है ? भारतीय मनोविज्ञान कहता है कि सूक्ष्म इन्द्रियें अपनी असाधारण शक्ति से उन्हें जान लेती हैं। साधारण अवस्था में इन्द्रियें स्थूल इन्द्रियों व नाड़ी तन्त्र के द्वारा अपने कार्य करती हैं। परन्तु योगाभ्यास द्वारा सूक्ष्म इन्द्रियों में स्वतन्त्र कार्य करने की क्षमता उत्पन्न की जा सकती है।

पांच सूक्ष्म भूत मन तथा बुद्धि—सूक्ष्म शरीर में पांच सूक्ष्म भूत अर्थात् शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गन्ध भी होते हैं जिन्हें पंचतन्मात्राएँ भी कहा जाता है। इन पन्द्रह तत्त्वों (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व पाँच सूक्ष्म भूत) के अतिरिक्त **मन तथा बुद्धि** सहित सतरह तत्त्वों का सूक्ष्म शरीर होता है। स्वामी **दयानन्द** सूक्ष्म शरीर के दो भाग भौतिक और अभौतिक करते हैं। भौतिक का वर्णन ऊपर किया गया। अभौतिक शरीर जीवात्मा की निज की शक्तियों का स्वाभाविक गुणरूप है। और यही "दूसरा अभौतिक शरीर मुक्ति में भी रहता है।"[१]

कारण-शरीर

इसके अलावा स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों में एक अन्य शरीर कारण शरीर का भी वर्णन पाया जाता है जो कि "प्रकृतिरूप होने से सर्वत्र विभु है और सब जीवों के लिए एक है।"[२] इसी के अन्तर्गत तमस से घनीभूत अन्तःकरण गाढ़निद्रा अर्थात् सुषुप्ति में रहता है।

मन व इन्द्रियां

सांख्य की तरह स्वामी दयानन्द भी मन को एक इन्द्रिय ही मानते हैं। जिससे आत्मा इन्द्रियों के द्वारा बाह्य जगत से सम्बन्ध स्थापित करता है। मन और इन्द्रियों के बीच प्राण की शक्ति है। यह प्राण सारे शरीर में मुख्य रूप से पाँच प्रकार से प्राण, अपान, समान, व्यान व उदान के रूप में बहता रहता है। इसी के पांच उपभाग नाग, कर्म, देवदत्त, कृक्कल, धनञ्जय

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २४८

२. सत्यार्थप्रकाश पृ० २४८

के नाम से हैं। शरीर में प्राण वह शक्ति है जो शरीर को गतिशील रखती है, तथा शरीर के हर कोष्ठ व नाड़ी में स्पन्दन करती है। प्राण शक्ति मन के अधिकार में रहती है। दयानन्द के विचार में आत्मा जब कुछ करना चाहता है, वह "मन के साथ संयुक्त होकर प्राणों को प्रेरणा करके अच्छे या बरे कामों में (मन को) लगाता है।"[1] प्राण इन्द्रियों को कार्य करने की शक्ति प्रदान करते हैं। इस प्रकार मन प्राणों द्वारा इन्द्रियों को क्रियाशील करता है।

स्वामी जी के मत में, मन कोई चेतन सत्ता नहीं है बल्कि जैसा कि अन्य वैदिक दर्शन भी मानते हैं मन प्रकृति का विकार होने से जड़ पदार्थ है।[2] परन्तु आत्मा की चित्ति शक्ति के साथ संयुक्त होकर चेतनवत् प्रतीत होता है। आत्मा की शक्ति से प्रेरित होकर ही यह कार्य में लगता है। शरीर व आत्मा का सम्बन्ध मन द्वारा होता है। मन से विषयों का सीधा सम्पर्क नहीं होता परन्तु विषयों का सीधा सम्बन्ध तो इन्द्रियों से होता है। इन्द्रियां विषय के सम्पर्क से उत्पन्न अनुभूतियों (Sensations) को ज्ञानवाही नाड़ियों द्वारा मन तक पहुँचा देती हैं।[3] उससे मन अपनी विभिन्न शक्तियों यथा सकल्प-विकल्प, स्मृति निश्चय आदि से पहले प्राप्त हुई अनुभूतियों पर विचार कर निश्चय करता है कि यह क्या पदार्थ है। उनका पूर्व प्रत्यक्ष से सम्बन्ध स्थापित करता है इससे इसमें पूर्वदृष्ट की स्मृति भी संयुक्त रहती है।

मन इन्द्रियों से उच्च प्राणों का भी स्वामी होने से इन्द्रियों को अपने वश में रखता है। मन में उत्पन्न होने वाली सूक्ष्म से सूक्ष्म विचार तरंग

---

१. सत्यर्थप्रकाश पृ० २४६

२. 'वैसे प्राण भी जड़ है······। वैसे ही मन भी जड़ है व उसको हर्ष न शोक हो सकता है किन्तु मन से हर्ष, शोक, सुख-दुःख का भोग जीव करता है। सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३८

३. जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के साथ अव्यवहित अर्थात् आवरणरहित सम्बन्ध होता है, इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है।' वही, पृ० ५०

भी इन्द्रियों पर प्रभाव डालती हैं। मन इन्द्रियों पर किस प्रकार अपनी सत्ता बनाये रहता है। इसे स्वामी दयानन्द एक वेद मन्त्र के भाष्य में कहते हैं कि "मन रस्सी से घोड़ों के समान अथवा घोड़ों के नियन्ता सारथी के तुल्य मनुष्यों को अत्यन्त इधर-उधर डुलाता है।"[१] परन्तु जब इन्द्रियों में किसी कार्य को करने की स्थायी आदत हो जाती र तब वे विषयों की ओर, अनियंत्रित शक्तिशाली अश्वों की भांति, अनायास ही मन को खींच लेती हैं। ऐसी अवस्था में मन की दुर्बलता से उन विषयों की ओर इन्द्रियों को जाने में मूक सहमति होती है।

सत्व, रज तम का मन व इन्द्रियों पर प्रभाव

सत्व, रज व तम का शरीर व मन पर प्रभाव—महत् से लेकर स्थूल पदार्थों तक समस्त रचना सत्व, रज व तम इन्हीं तीन गुणों का विकारमात्र है। मन, इन्द्रियां व शरीर भी गुणों के प्रभाव के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। सांख्यों ने महत्–जिसे विश्व अन्तःकरण भी कहते हैं—की उत्पत्ति विशुद्ध सत्व गुण से बतायी है और सत्व गुण प्रकाश, विज्ञान व शुद्धता का द्योतक है। मन व दश इन्द्रियें सात्विक अहंकार से उत्पन्न हुयी हैं। परन्तु इनमें अन्य दो गुण रज व तम दबी हुयी अवस्था में होते हैं।[२] दूसरी तरफ शरीर जिन महाभूतों से बनता है उनमें तमोगुण प्रधान होता है। स्वामी दयानन्द सांख्य दर्शन द्वारा प्रतिपादित गुण-त्रय विभाग एवं उससे जड़ व चेतन जगत् की उत्पत्ति को यथावत् मानते हैं इससे मन व शरीर पर तीनों गुणों के प्रभाव को भी मानना उनके लिए आवश्यक है। गुणत्रय विभाग साँख्य दर्शन की एक ऐसी अद्भूद् वैज्ञानिक देन है जिसके कारण कम से कम वैदिक दार्शनिकों को अन्य विषयों पर सांख्य से असहमति रखते हुये भी गुण विभाग को मानना पड़ता है। उदाहरणार्थ स्वासी शंकर व रामानुजाचार्य सांख्य के द्वैतवाद के घोर विरोधी हैं तथा उसे नास्तिक दर्शन मानकर आलोचना भी करते हैं। परन्तु सत्व, रज व तम के विभाग को वे भी मानते हैं। जिस

१. वही पृ० १८२

२. **साँख्य कारिका न० २५ ईश्वर-कृष्ण–इस पर वाचस्पति मिश्र की साँख्य-तत्त्व-कौमुदी में भाष्य।**

पदार्थ से मन, इन्द्रिय व शरीर बने हैं उसी पदार्थ में कुछ थोड़ा बहुत इधर-उधर करने से संसार के सारे पदार्थों का निर्माण हुआ है। अतः शरीर तथा मन पर उनका प्रभाव पड़ना अनिवार्य ही है। वास्तव में तीन गुणों के मानव जीवन पर प्रभाव की धारणा वैदिक मनोविज्ञान की आधारभूत विशेषता है जिसके ऊपर मानव का ही नहीं वरन् सारे प्राणी जगत का व्यवहार आधारित है।

सत्व, रज व तम का प्रभाव हमारे व्यवहार पर किस प्रकार पड़ता है? इस प्रश्न को दयानन्द शरीर में तीनों गुणों की स्थिति व उत्कर्ष का वर्णन करते हुये कहते हैं "जब आत्मा में ज्ञान हो तब सत्व, जब अज्ञान रहे तब तम और जब राग व द्वेष में आत्मा लगे तब रजोगुण जानना चाहिये। ये तीन प्रकृति के गुण सब संसारस्थ पदार्थों में व्याप्त होकर रहते हैं।"[1] यद्यपि तीनों गुण बराबर हम पर अपना प्रभाव अनेक प्रकार से डालते रहते हैं परन्तु एक काल में एक ही गुण का प्रभाव प्रधान होता है बाकी दो गौण हो जाते हैं और जिस काल में "जो गुण इन जीवों के देह में अधिकता से बर्तता है" "वह गुण उस जीव को अपने सदृश कर लेता है।"[2] इन गुणों का क्या-क्या प्रभाव व उनके उत्कर्ष में प्राणी की क्या स्थिति होती है वह इससे समझा जा सकता है। दयानन्द कहते हैं "जब आत्मा में प्रसन्नता मन प्रशान्त के सदृश शुद्धभानयुक्त वर्ते तब समझना कि सत्व गुण प्रधान और रजोगुण तथा तमोगुण अप्रधान हैं। जब आत्मा और मन दुखसंयुक्त, प्रसन्नतारहित विषय में इधर-उधर गमन आगमन में लगे तब समझना कि रजोगुण प्रधान, सत्वगुण और तमोगुण अप्रधान हैं। जब मोह अर्थात् साँसारिक पदार्थों में फंसा हुआ आत्मा और मन हो, जब आत्मा और मन में कुछ विवेक न रहे, विषयों में आसक्ति, तर्क-वितर्करहित-जानने के योग्य न हो तब निश्चय समझना चाहिये कि इस समय मुझ में तमोगुण प्रधान और सत्व गुण तथा रजोगुण अप्रधान हैं। अब जो इन तीन गुणों का उत्तम, मध्यम और निकृष्ट फलोदय होता है उसको पूर्ण भाव से कहते हैं। जो वेदों का अभ्यास धर्मानुष्ठान ज्ञान की वृद्धि, पवित्रता की इच्छा, इन्द्रियों का

१. सत्यार्थ प्रकाश पृ० २५६
२. सत्यार्थ प्रकाश पृ० २५६

निग्रह, धर्मक्रिया और आत्मा का चिन्तन होता है यही सत्वगुण का लक्षण है। जब रजोगुण का उदय, सत्व और तमोगुण का अन्तर्भाव होता है तब आरम्भ में रुचिता, धैर्यत्याग, असत् कर्मों का ग्रहण, निरन्तर विषयों की सेवा में प्रीति है, तभी समझना कि रजोगुण प्रधानता से मुझ में वर्त रहा है। जब तमोगुण का उदय और दोनों का अन्तर्भाव होता है तब अत्यन्त लोभ अर्थात् सब पापों का मूल बढ़ता, अत्यन्त आलस्य और निद्रा, धैर्य का नाश, क्रूरता का होना नास्तिक्य अर्थात् वेद और ईश्वर में श्रद्धा का न रहना, भिन्न-भिन्न अन्तःकरण की वृत्ति और एकाग्रता का अभाव और किन्हीं व्यसनों में फंसना होवे तब तमोगुण का लक्षण विद्वान को जानने योग्य है। तथा जब अपनी आत्मा जिस कर्म को करके, करता हुआ और करने की इच्छा से लज्जा, शंका और भय को प्राप्त होवे तब जानो कि मुझमें प्रवृद्ध तमोगुण है। जिस कम से इस लोक में जीवात्मा पुष्कल प्रसिद्धि चाहता, दरिद्रता होने में भी चारण, भाट आदि को दान देना नहीं छोड़ता तब समझना कि मुझमें रजोगुण प्रबल है। और जब मनुष्य का आत्मा सबसे जानने को चाहे, गुण ग्रहण करता जाय, अच्छे कामों में लज्जा न करे और जिस कर्म से आत्मा प्रसन्न होवे अर्थात् धर्माचरण में ही रुचि रहे तब समझना कि मुझमें सत्व गुण प्रबल है। तमोगुण का लक्षण काम, रजोगुण का अर्थ-संग्रह की इच्छा और सत्व गुण का लक्षण धर्म सेवा करना है परन्तु तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण से सत्वगुण श्रेष्ठ है।"[1] क्योंकि सत्वगुण प्रकाश विज्ञान को देने वाला है रजोगुण विद्वेष तथा तमोगुण अज्ञान का प्रतीक है।

स्वामी जी यह पहले कह चुके हैं कि प्रकृति के समस्त पदार्थ इन्हीं तीन गुणों के विकार हैं। इससे प्राणियों के व्यवहार की वस्तुयें भी इन्हीं तीन गुणों को उत्पन्न करने वाली हैं। भोजन, वस्त्र, रहने-सहने की प्रणाली तथा आस-पास का वातावरण यह सब मानव व्यवहार पर इसी प्रकार का प्रभाव डालते हैं, उदाहरणार्थ प्रकृति का सौंदर्य मन में शान्त भाव उत्पन्न करता है। भोजन से भी इसी प्रकार के प्रभाव होते हैं। अधिक चरपरा भोजन रजोगुण, ताजे फल सात्विक व बासी भोजन तमोगुणी वृत्ति उत्पन्न करता है। स्वामी जी भक्ष्याभक्ष्य प्रकरण में भोजन में इन तीनों प्रकार के

१. सत्यार्थ प्रकाश पृ० २५९–२६०

गुणों को बताते हुए कहते हैं कि मांसाहारी "मनुष्य का स्वभाव मांसहारी होकर हिंसक हो जाता है।"[१] गुण प्राधान्य के अनुसार प्राणियों के अन्तःकरण तथा उनकी वृत्तियाँ भी उसी प्रकार की हो जाती हैं जिस प्रकार के गुण की अन्तःकरण में प्रधानता होती है।

अन्तःकरण में स्थित वृत्ति-प्रवाह नदी के वेग की तरह अपनी गति से प्रवाहित होता रहता है। जिससे सुख दुख व पुनर्जन्मादि होता है। सतोगुणी, रजोगुणी व तमोगुणी प्रधान वृत्तियों वाले प्राणी मृत्यु के पश्चात् किन-किन गतियों को प्राप्त होते हैं तथा कहां-कहां जन्म प्राप्त करते हैं, इस विषय पर दयानन्द हमको मनुस्मृति के प्रमाण से एक लम्बा विवरण देते हैं। जिसका मुख्य आशय है कि "जो मनुष्य सात्विक हैं वे देव अर्थात् विद्वान, जो रजोगुणी होते हैं वे मध्यम मनुष्य और जो तमोगुणयुक्त होते हैं वे नीच गति को प्राप्त होते हैं।"[२] इस प्रकार सतोगुण अन्य गुणों से सर्वथा उच्च कोटि का है। परन्तु गुण चाहे सात्विक हो या तामसिक बन्धन तो है ही, जैसे कि एक पशु लोहे की जंजीर में बंधा हो चाहे स्वर्ण की जंजीर से परन्तु है बंधा हुआ ही। मनुष्य को, गुणों के बन्धन से छूटे बिना मोक्ष नहीं मिल सकती। इसी से स्वामी दयानन्द सतोगुण के द्वारा निम्न गुण को दबाकर और बाद में सतोगुण से भी छुटकारा पाने का उपदेश करते हैं। वे कहते हैं कि "मनुष्य रजोगुण, तमोगुणयुक्त कर्मों से भी मन को रोक शुद्ध सत्वगुणयुक्त कर्मों से भी मन को रोक शुद्ध सत्वगुणयुक्त हो पश्चात् उसका निरोध कर एकाग्र अर्थात् एक परमात्मा और धर्मयुक्त कर्म इनके अग्रभाग में चित्त को ठहरा रखना निरुद्ध अर्थात् सब ओर से मन की वृत्ति को रोकना जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है तब सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है।"[३] इससे पूर्व किसी भी प्रकार का गुणों का बन्धन जीवात्मा को परमात्मा के स्वरूप में स्थित होने से रोकता है।

योग व मन संयम

प्राणियों का मन (योग की भाषा में चित्त) एक ऐसा अद्भुत तत्त्व है जो सदैव किसी न किसी कार्य में संलग्न रहता है। मन की सदैव चंचल

---

१. वही पृ० २६४ २. वही पृ० २६१ ३. वही पृ० २६२

व बदलने वाली दशाओं को ही योग दर्शनकार ने चित्तवृत्ति कहा है। ये चित्तवृत्तियें संख्या में असंख्य होती हैं जैसा कि वाचस्पति कहते हैं, परन्तु योगदर्शनकार ने इनको पांच विभागों में बांट दिया है। स्वामी दयानन्द यहां भी योगदर्शन के वृत्ति-विवरण से सहमत हैं। **ये पाँचों वृत्तियां इस प्रकार हैं, प्रमाण, विपर्यय (भ्रम) विकल्प, निद्रा और स्मृति।**

प्रमाण—योग दर्शन ने तीन प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान व शब्द माने हैं। परन्तु स्वामी दयानन्द आठ प्रमाण माने हैं जिनमें यह तीन भी हैं। तथापि इससे इसका कोई विरोध नहीं है। इनका वर्णन प्रमाण-विद्या के अध्याय में किया जा चुका है।

विपर्यय—"जिससे मिथ्या ज्ञान हो अर्थात् जैसे को तैसा न मानना अथवा अन्य में अन्य की भावना कर लेना" विपर्यय है।

विकल्प—'जिसका शब्द तो हो परन्तु किसी प्रकार का अर्थ किसी को ना मिल सके।"

निद्रा—"जो वृत्ति अज्ञान व अविद्या के अन्धकार में फंसी हो।" यहां दयानन्द का तात्पर्य तमोगुण के घोर अन्धकार में फंसी मन की ऐसी स्थिति से है जैसी कि गहन निद्रा में होती है। यहां जीव को तमोगुण की गहनता के कारण स्वप्न भी नहीं होते और चेतना भी लुप्त प्रायः हो जाती है। व्यास का कथन है कि इससे उठने के बाद केवल आराम व आलस्य का अनुभव रहता है। इससे निद्रा में भी मन की विशेष स्थिति बनी रहती है। इससे यह मन की ही वृत्ति है।

स्मृति—"जिस व्यवहार या वस्तु को प्रत्यक्ष देख लिया हो उसी का संस्कार ज्ञान में बना रहता है और उस विषय को भूले नहीं, इस प्रकार की वृत्ति को स्मृति कहते हैं।"[१] व्यास स्मृति को स्वप्न और जाग्रत दो प्रकार की बताते हैं। दयानन्द इस विषय में मौन हैं। (परन्तु वे योगदर्शन पर व्यास भाष्य को प्रमाण मानते हैं। इससे हमारे विचार में व्यास में और दयानन्द में विरोध नहीं है।)

---

१. वृतियों के विवरण के लिये दयानन्द ग्रंथमाला भाग २, पृ० ४६६-४६७ शताब्दी संस्करण देखिये।

पाँच क्लेश—ये पांचों वृत्तियां क्लिष्ट (क्लेश सहित) और अक्लिष्ट (क्लेशरहित) दो प्रकार की होती हैं। स्वामी दयानन्द का क्लेशसहित वृत्तियों से ऐसी वृत्तियों से तात्पर्य है जो अविद्या आदि क्लेशों से उत्पन्न होती हैं, परन्तु जो उपासक योगी हैं उनकी वृत्तियां क्लेशरहित शान्त होती हैं।[1] अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश पांच क्लेश हैं। "अनित्य संसार और देहादि में नित्य ···। अशुचि अर्थात् मलमय स्त्र्यादि के और मिथ्या भाषण चोरी आदि अपवित्र में पवित्र ··· ··· दुख में सुख और अनात्म में आत्म बुद्धि"[2] करना अविद्या है। "पृथक वर्तमान बुद्धि को आत्मा से भिन्न न समझना अस्मिता, सुख में प्रीति राग दुख में अप्रीति द्वेष और मृत्यु दुख से त्रास अभिनिवेश कहाता है।"[3] लेकिन इन सब में अविद्या ही प्रमुख है। पातंजलि कहते हैं कि यही बाकी सबकी उत्पत्ति की भूमि (कारण) है। स्वामी दयानन्द का भी यह निश्चय है कि 'यह चार प्रकार की अविद्या संसार के अज्ञानी जीवों को बन्धन का हेतु होने से उनको नचाती रहती है।"[4]

मन संयम व योग—वैदिक मनोविज्ञान, मन व उसकी शक्तियों, वृत्तियों, उनकी उत्पत्ति व जीवन पर प्रभाव, इत्यादि विश्लेषणात्मक अध्ययन करने के पश्चात् मन-संयम का व्याख्यान करता है। जिसके द्वारा प्राणी अपने वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। योगसूत्रों में इस शास्त्र का उप-संहार करते हुए पातंजलि कहते हैं कि जब तीनों गुण अपना कार्य समाप्त कर देते हैं अर्थात् संस्कारों को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रहती और पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है वह कैवल्य है, वही इस शास्त्र के व्याख्यान का उद्देश्य है। वैदिकों ने मनोविज्ञान की रचना मानव-स्वभाव, व्यवहार व संस्कार आदि को समझने व सुधारने के लिए की है ताकि लक्ष्य प्राप्ति में बाधक संस्कारों को हटाया जा सके। स्वामी दयानन्द भी मनोविज्ञान को मन-संयम के लिए प्रयोग करते हैं।

---

१. वही, पृ० ४६६

२. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २३६ ३. वही, पृ० २५०

४. दयानन्द ग्रन्थमाला, पृ० ४६५

योग का अर्थ—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'**[१] पातंजलि ऋषि योग को चित्तवृत्ति निरोध के अर्थों में बताते हैं। इस सूत्र में 'योग' व 'निरोध' इन दो शब्दों पर विद्वानों में काफी चर्चा है। योग शब्द के अर्थ व्यास जी ने 'योगः समाधिः'[२] के रूप में किए हैं। इसकी पुष्टि में वाचस्पति कहते हैं कि योग शब्द 'युज्' धातु से बना है जिसका अर्थ समाधि है। समाधि अवस्था में चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है इसीलिए शास्त्रकार ने योग का अर्थ 'चित्तवृत्तियों का निरोध" किया है। महर्षि व्यास द्वारा योग का अर्थ समाधि से करने के कारण विद्वानों में यह विचार घर कर गया कि योग केवल चित्त-वृत्ति-निरोध ही है तथा पातंजलि का योग शब्द का तात्पर्य परमात्मा से मिलाने से नहीं है। स्वयं व्यास जी ने ऐसा तो नहीं कहा परन्तु उन्होंने भी अपने भाष्य में यह कहीं नहीं कहा कि योग परमात्मा से मिलाने के अर्थों में भी है। **"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"**[३] के भाष्य में भी व्यास पुरुष को अपनी निज की शुद्धता में स्थित होना कहते हैं। इससे भी सन्देह बढ़ जाता है कि यह शास्त्र योग से जीवात्मा का परमात्मा से मिलन नहीं कहता। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान योग को मिलाने के ही अर्थों में लेते हैं कि ब्रह्म-प्राप्ति कराना ही योग का अर्थ है। और जो पातंजलि ने योग को चित्त-वृत्ति-निरोध बताया है वह वृत्तियों का दमन करना है।

स्वामी दयानन्द **"योगश्चित्त-वृत्ति-निरोधः"** का व्याख्या में योग शब्द को केवल समाधि के अर्थों में ही नहीं वरन् परमात्मा से मिलन में भी लेते हैं। वे कहते हैं "चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटाकर, शुभ गुणों में स्थिर करके परमेश्वर के समीप में मोक्ष को प्राप्त करने को योग कहते हैं।"[४] इस स्थल पर दयानन्द का न तो पातंजलि से मतभेद है और न व्यास से। विचार करने पर पता चलता है कि चित्त की वृत्तियों के निरुद्ध होने से जीवात्मा का परमात्मा से स्वयं ही मेल हो जाता है।

---

१. योग सूत्र, १—२

२. योग सूत्र, १—१ पर व्यास भाष्य

३. योग सूत्र, १—३

४. दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग २, पृ० ४६६।

परमात्मा के सर्वव्यापक होने से जहाँ कहीं भी जीवात्मा होगा वहाँ परमात्मा पहिले से ही विद्यमान है अतः स्थान विशेष पर जीवात्मा व परमात्मा के मिलन का प्रसंग ही नहीं उत्पन्न होता। परन्तु चित्त में स्थित वृत्तियें परमात्मा के साक्षात्कार में बाधक हैं। शुद्ध जीव ही परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। इससे पातंजलि ने योग को चित्त की वृत्तियों का निरोध कहा है। और यदि जीवात्मा की स्वरूप-स्थिति ही योग मानी जाय तब इसके दो ही अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि जीव ही ब्रह्म है जो योग से अविद्योपाधि के नष्ट होने पर अपने स्वरूप में स्थित हो ब्रह्म हो जाता है और या दूसरे कि पातंजलि जीव के द्वारा ब्रह्म के साक्षात्कार को नहीं मानते। परन्तु ये दोनों ही बातें पातंजलि को मान्य नहीं हैं। प्रकृति व पुरुष का द्वैत मानने से वे अद्वैतवादी नहीं हैं तथा अपने शास्त्र ईश्वर का वर्णन करने से अनीश्वरवादी भी नहीं हैं। इसके अतिरिक्त श्रुति कहती है कि "परमात्मा को जाने बिना मृत्यु से नहीं छूटा जा सकता"[1] और पातंजलि श्रुति को प्रमाण मानते हैं, अतः यह भी नहीं माना जा सकता कि पातंजलि जीव का ब्रह्म से साक्षात्कार नहीं मानते। इससे यही प्रतीत होता है कि दयानन्द द्वारा बताया गया योग का अर्थ ठीक है कि "वृत्ति निरोध होकर परमेश्वर में स्थित हो जाता है।" इससे योग शब्द निरोध व संयोग दोनों अर्थों में लिया जा सकता है।

कुछ विद्वान् निरोध शब्द का "दबाना" (Suppression) अर्थ करते हैं। इससे वह आरोप लगाते हैं कि योगशास्त्र वृत्तियों का दमन करना बताता है जीतना नहीं। इससे पातंजलि का योग मार्ग हठयोग का मार्ग है। परन्तु विद्वानों का इस प्रकार का कथन योगदर्शन को न समझने के कारण ही है। दयानन्द जी के विचार से **निरोध का तात्पर्य वृत्तियों पर विजय प्राप्त करना है**। वे कहते हैं कि मनुष्य को अपने को सत्य से विचलित करने वाले दुर्गुणों से हटा लेना चाहिये तथा सत्य में मन का समाधान करना चाहिये। इससे निरोध का अर्थ दबाना (Suppression) नहीं होता। स्वयं पातंजलि मुनि ने कहीं भी वृत्तियों को दबाने की बात नहीं कही

---

१. **यजुर्वेद**, ३१ १८।

पातंजलि मुनि वृत्तिक्षय के लिये अष्टाँग-मार्ग, यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि को बताते हैं। इस मार्ग में यम और नियम विचार व कर्म की शुद्धि को बताते हैं तथा पातंजलि मुनि का उन्हें प्रारम्भ में रखने का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि वे चित्त-संयम के लिये विचारों व कर्मों की शुद्धि अत्यावश्यक समझते थे। इसके अतिरिक्त योग दर्शनकार अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वृत्ति-निरोध को बताते हैं। इस पर व्यास मुनि कहते हैं कि चित्त की दो धाराएं कल्याणवाहिनी व पापवाहिनी होती हैं। इनमें कल्याणवाहिनी धारा विवेकविषया है जिसका फल कैवल्य है इनमें विवेक ज्ञान के अभ्यास से विवेक का स्रोत खोला जाता तथा वैराग्य से विषयों के स्रोत नष्ट किये जाते हैं। इन दोनों के अभ्यास से ही चित्त वृत्ति निरोध होता है।[1] इससे यह स्पष्ट पता चलता है कि योगदर्शन वृत्ति निरोध को विवेकपूर्ण वैराग्य से बताता है। यहां पर वृत्तियों को शक्तिपूर्वक दबाना उनका तात्पर्य नहीं है। यही गीता भी मानती है कि अभ्यास और वैराग्य से मन शान्त हो जाता है।[2] दूसरे अध्याय के पहले सूत्र में तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान ये तीन क्रियायोग के आवश्यक अंग बताये हैं। तप की व्याख्या में व्यास कहते हैं कि तपहीन व्यक्ति योग को प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि अनादि कर्म व कलेश बिना तप से समाप्त नहीं सकते। वाचस्पति कहते हैं कि तप से भाष्यकार का तात्पर्य वहीं तक है जहां तक वे पापों को नष्ट करते हैं परन्तु शरीर को हानिकारक नहीं है।[3] तप के साथ स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान हैं इनमें स्वाध्याय का तात्पर्य शुद्धता की ओर ले जाने वाले ग्रन्थों का अध्ययन है तथा ईश्वर प्रणिधान का अर्थ सब कर्मों व फलों

---

१. 'अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः'। योग सूत्र, १–१२। इस पर व्यास भाष्य।

२. गीता ६–३५।

३. 'The meaning is that so much......as does not cause the disturbance of the equilibrium of Physiological forces.' Vachaspati Gloss on Vyas Bhashya 1/12 Edt. by Maj B. D. Basu.

को परम गुरु परमात्मा के अर्पण करना है।[१] हम नहीं समझते कि इसमें और गीता के कर्मयोग में क्या अन्तर है। अतः निरोध का अर्थ दबाना नहीं हो सकता वरन् जीतना तथा परिवर्तन करना (Transformation) ही अधिक युक्तिसंगत है और यही शास्त्र का तात्पर्य भी है।

मोक्ष की प्राप्ति के लिये मन को एक विशिष्ट प्रकार की साधना करनी पड़ती है और वह है सत्य प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा का सतत् रहना। वैसे तो मन को अनेक रास्तों से वश में किया जा सकता है जिनमें से कुछ का दिग्दर्शन पातंजलि ने किया भी है। सत्य को जानने की उत्कट अभिलाषा तथा उसके लिये किये गये सम्यक् कर्म, सत्य के द्वारों को साधक के लिये खोल देते हैं और साधक को यथाशक्ति सत्य के वातायान में विचरने की स्वतंत्रता भी दे देते हैं। प्रकृति जन-साधारण के लिये बन्द अपने द्वारों पर दस्तक देने वाले को पूरी तरह पहिचानती है कि कौन उसके अलौकिक प्राँगण में प्रवेश पाने का अधिकारी है और अधिकारी के लिये उसके द्वार तुरन्त खुल जाते हैं। सांख्यों का बताया प्रकृति-पुरुष-विवेक का मार्ग भी एक मार्ग है इसे ही ज्ञानमार्ग कहते हैं। तथा प्राणायाम द्वारा भी मन संयमित किया जा सकता है। परन्तु मन को संयमित करने के लिए ईश्वर प्रणिधान अर्थात् ईश्वर की उपासना को स्वामी दयानन्द सर्वोत्तम मार्ग मानते हैं। वह कहते हैं कि ईश्वर में विशेष भक्ति होने से मन का समाधान होके मनुष्य समाधियों को शीघ्र प्राप्त हो जाता है।"[२]

योग के अन्तराय—मन संयम के मार्ग में, जैसा कि पातंजलि कहते हैं विघ्न बाधायें आती हैं क्योंकि साधना से पूर्व मन व शरीर का निर्माण जगत् में उस व्यवहार के अनुरूप होता है जिसे साधक साधना से पूर्व करता था। परन्तु साधना-काल में, जबकि एक नये प्रकार का जीवन बनाने की दिशा में कार्य किया जाता है तब उस व्यवहार के अनुकूल शरीर व मन भी बनना चाहिए। साधना में वासनामय जीवन से दैवी जीवन तक पहुँचने के

---

१. 'ईश्वर प्रणिधानं सर्व क्रियाणां परमगुरावर्पणं।' योग सू० २–१ पर व्यास भाष्य।

२. दयानन्द ग्रंथमाला, भाग २, पृ० ४६७।

काल को परिवर्तन का काल कहा जा सकता है। वासनाएं अपनी सत्ता छोड़ने में झिझकती हैं और उपासक के मन को बार-बार वापस अपनी ओर खींचती हैं। वासना और साधना के इस संघर्ष में अनेक प्रकार की व्याधिएं शरीर में हो जाती हैं जिन्हें योग दर्शन के अनुसार स्वामी दयानन्द ने भी नौ माना है। जो इस प्रकार हैं; व्याधि-स्त्यान-संशय-प्रमाद-आलस्य-अविरति-भ्रान्तिदर्शन-अलब्धभूमिकत्व व अनवस्थितत्व। साधना के मार्ग में ये अन्तराय मन को एकाग्र होने से रोकते हैं। इनके अतिरिक्त पाँच चित्त-विक्षेप दुःख-दौर्मनस्य-अंगमजेयत्व-श्वास-प्रश्वास भी अन्तरायों के साथ ही उत्पन्न होते हैं। ये भी साधना में विघ्न डालते हैं[1]। पातंजलि कहते हैं कि इन व्याधियों को जीतने का एक ही मार्ग है[2] और वह है **एक तत्त्व का निरन्तर अभ्यास**। एक ही विषय की निरन्तर साधना से व्याधियां स्वयं ही नष्ट होजाती हैं। व्यास चित्त विक्षेपों के नाश के लिये बताये एक तत्त्व अभ्यास को बताते हैं कि जिससे चित्त एक ही तत्त्व का अभ्यासी हो जाय लेकिन वाचस्पति मिश्र ने एक तत्त्व का अर्थ ईश्वर से लिया है। स्वामी दयानन्द भी एक तत्त्व से ईश्वर को ही बताते हैं कि वही (ईश्वर) एक उन विघ्नों के नाश करने को वज्ररूप शस्त्र है अन्य नहीं। साधना में ईश्वर साधक की सहायता करता है तथा उसे कुमार्ग से बचने की निरन्तर प्रेरणा देता रहता है। इस पर प्रश्न उठता है कि ईश्वर को न मानने वाले बौद्ध व जैन क्या सिद्धि की प्राप्ति नहीं कर सकते ? हमारे विचार से ऐसी बात नहीं है। हम देखते हैं कि इतिहास में महावीर व बुद्ध सरीखे ऐसे बहुत से सिद्ध हो गये हैं जो बिना ईश्वर को मानते हुये भी परमपद को प्राप्त कर गये हैं। सांख्यों के मार्ग में भी ईश्वर-प्राणिधान् का कहीं उल्लेख नहीं है। सांख्य प्रकृति व पुरुष के विवेक के द्वारा ही कैवल्य को सम्भव बताते हैं। इससे यही पता चलता है कि बिना ईश्वर को माने भी साधना में सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। अतः यहां पर एकतत्त्व का अर्थ केवल ईश्वर ही नहीं है।

---

१. (*i*) ऋ० भाष्यभूमिका, पृ० १८१ ले० महर्षि दयानन्द।
   (*ii*) योग सूत्र, १–३० व ३१।
२. तत्प्रतिषेधार्थमेक तत्वाभ्यासः। योगदर्शन १, ३२

एकतत्त्व के अभ्यास से महर्षि पातंजलि का तात्पर्य एक ही ध्येय में अविराम तन्मयता से है। यही योग का वैज्ञानिक स्वरूप है। वह एकतत्त्व ईश्वर भी हो सकता है। परन्तु योग द्वारा प्राप्त परम सिद्धि एक ही है और वह ईश्वर की प्राप्ति है।

इसके अलावा शरीर, मन व कर्मों को साधने तथा उपासना योग्य बनाने के लिये स्वामी जी योगदर्शन के अष्टाँग मार्ग यम, नियम, आसन' प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि को ही कहते हैं। परन्तु दयानन्द के दर्शन में इनकी तह में ईश्वर प्रणिधान् अर्थात् ईश्वर की उपासना व आश्रय मुख्य हैं। इसी से वह इसे उपासना योग कहते हैं।

———

९

नीतिशास्त्र
(ETHICS)

जीव की कर्म स्वतन्त्रता

प्रश्न—जीव स्वतन्त्र है या परतन्त्र ?

(दयानन्द) उत्तर—अपने कर्त्तव्य कर्मों में स्वतन्त्र और ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र। '**स्वतंत्र कर्त्ता**'' यह पाणिनीय व्याकरण का सूत्र है, जो स्वतन्त्र अर्थात् स्वाधीन है वही कर्त्ता है। **सत्यार्थप्रकाश, पृ० १९०**

नीतिशास्त्र में यह प्रश्न अत्यन्त महत्व का है कि जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है या नहीं। कुछ धर्मज्ञ पण्डितों का कहना है कि संसार का सारा व्यापार परमात्मा की इच्छा से होता है। उसकी इच्छा के विरुद्ध एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। नियतिवाद की यह धारणा जन साधारण के साथ-साथ अनेक विद्वानों पर भी अपनी छाप जमाये हुये है। श्री निवासाचारी जैसे विद्वान् गीता में भी इसी नियतिवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि परमात्मा को कर्त्ता समझो तथा सारे कर्म उसी के द्वारा पूर्व नियोजित हैं।[१] यद्यपि विद्वान् लेखक आगे कहते हैं कि जीवात्मा को पशुवृत्तियों पर विजय पाने और कर्मेन्द्रियों को अपने अधिकार में करने की स्वतन्त्रता है, परन्तु इस संसार में वास्तविक कर्त्ता ईश्वर ही है और जीवात्मा अपने को परमात्मा की इच्छा के अनुरूप बनाने में स्वतन्त्र है। किन्तु आगे वह स्वयं इस बात को अस्वीकार करते हैं कि स्वतन्त्रता एक वास्तविक

---

१. "Regard all your actions as determined by Bhagwan or God as the ultimate subject or Karta." (The Ethical Philosophy of the Gita, P. 100 by Shri P. N. Shri Nivasachari.)

सम्भावना है तथा व्यक्ति अपने को दैवी रूप की ओर भी ले जा सकता है और पाप में भी डुबा सकता है।[1]

एक बार कर्मों को परमात्मा द्वारा निश्चित किये जाना, मान लेने पर कर्म करने में जीव को स्वतन्त्र कहना केवल शब्द जंजालमात्र है, क्योंकि फिर चाहे जीवात्मा दैवी गुणों की ओर अग्रसर हो या पापवृत्ति में लगे, यह सब कर्म हैं जो फल पैदा किये बिना नहीं रह सकते। और यही कर्म स्वतन्त्रता मानने वालों का कथन है। स्वामी दयानन्द ऐसे काल में पैदा हुए थे जबकि जन साधारण के मन में यही भावना थी कि 'होवत वही जो राम रच राखा' तथा 'सकल पदार्थ हैं जग माहीं। विना भाग्य नर पावत नाहीं ॥' उन्होंने इस दैववाद व भाग्यवाद के विरुद्ध वेदों, उपनिषदों तथा दर्शनग्रन्थों के आधार पर यह सिद्धान्त रक्खा कि जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है परन्तु कर्मों के फल भोगने में परमात्मा के आधीन है, जैसा कोई प्राणी इस संसार में करता है परमात्मा एक सच्चे न्यायाधीश की भाँति उसके कर्मों का वैसा ही फल उसे प्रदान कर देता है। इनके मत में परमात्मा जीवात्मा के कर्मों का कर्त्ता नहीं किन्तु कर्मफल का नियामक है।

संसार में जितने भी सुख-दुःख हैं वे सब जीव केइन्हीं स्वतन्त्र कर्मों के फलस्वरूप पैदा होते हैं। इससे परमात्मा में वैषम्य (विषम-बुद्धि) न नैर्घृण्य (निर्दयता) आदि दोष नहीं लगते। क्योंकि परमात्मा स्वयं अपनी इच्छा से किसी को सुख-दुख नहीं देता। कर्म-स्वातन्त्रय को न मानने वाले तथा संसार को परमात्मा की लीला स्थली मानने वाले अन्य मतों में यह दोनों ही दोष लगते हैं। दयानन्द के मत में परमात्मा राग-द्वेष से रहित होने से न किसी को क्षमा करता है और न किसी को व्यर्थ दण्ड देता है। वह तो गीता के शब्दों में प्राणियों के कर्मों में समबुद्धि है।[2] और जो हठ-पूर्वक यही माने कि परमात्मा ही कर्त्ता है तो इसके उत्तर में दयानन्द कहते हैं कि यह सिद्धान्त ठीक नहीं है 'क्योंकि जो परमेश्वर कर्म करता तो कोई

१. Ibid, P. 102.

२. 'समोऽहं सर्वभूतेषु'। गीता ९-२९

जीव पाप नहीं करता क्योंकि परमेश्वर पवित्र व धार्मिक होने से किसी जीव को पाप करने में प्रेरणा नहीं करता।"[1]

इसके अतिरिक्त कर्म-स्वातन्त्र्य को न मानने पर हमारे सामने नियतिवाद का ही सिद्धान्त शेष रह जाता है जिसके पालन करने पर प्राणियों में पुरुषार्थहीनता का फैलना स्वाभाविक है। स्वामी दयानन्द पुरुषार्थहीनता को मनुष्यों का सबसे बड़ा दुर्गुण व शत्रु समझते हैं। सांख्य शास्त्र मोक्ष की प्राप्ति पुरुषार्थ ही से मानता है। और तो क्या तप स्वयं परम पुरुषार्थ का ही दूसरा नाम है। अतः यदि नियतिवाद से पुरुषार्थ की मान्यता समाप्त हो जाय—जैसा कि देखा भी जाता है—तो मानव जाति उन्नति नहीं कर सकती। इससे दयानन्द ने मानव जाति की मूल निर्बलता के सही-सही कारण को समझकर कर्म करने का उपदेश देकर उपनिषदों की नीति-शास्त्र सम्बन्ध मूल भावना का फिर से प्रचार किया कि "मनुष्य सौ वर्ष पर्यन्त अर्थात् जब तक जीवे तब तक कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे, आलसी कभी न हो।"[2] वेदों व उपनिषदों में मनुष्य के लिये अनेक विधि-निषेध हैं जिन पर चल कर मनुष्य को उन्नति करने का आदेश दिया गया है। गीता रहस्य के विद्वान् लेखक लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक कहते हैं कि यदि कर्म स्वातन्त्र्य को न माना जाय तब "अमुक प्रकार से बुद्धि को शुद्ध करना चाहिये, अमुक कार्य करना चाहिए, अमुक नहीं करना चाहिये, अमुक धर्म्य है, अमुक अधर्म्य है इत्यादि विधि-निषेध शास्त्र के सब झगड़े ही आप ही आप मिट जायेंगे।'[3] और फिर वेदान्त शास्त्र सब निरर्थक हो जायेंगे। कान्ट ने नीतिशास्त्र में कर्म-स्वतन्त्रता के प्रश्न को भली-भाँति समझा था, इसलिए नीति की तीन मान्यताओं में उसका भी स्थान है।

स्वामी दयानन्द जीवात्मा को परमात्मा के आधीन तो कहते हैं परन्तु कर्म में नहीं वरन् भोग में। नियतिवाद जीव को कर्म और भोग दोनों में परतन्त्र मानते हैं। दयानन्द के दर्शन में मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६१
२. सत्यार्थप्रकाश, पृ० १८३
३. गीतारहस्य, पृ० २६६–२७० (१६५०)

निर्माता है।[1] भाग्यवादियों के मत में वह ईश्वर आधीन है। दयानन्द अपने ही पुरुषार्थ से मोक्ष-प्राप्ति को बताते हैं जबकि भाग्यवादी दैव-कृपा से।

कर्म-स्वातन्त्र्य को मानने पर कर्मफल का सिद्धान्त स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। परन्तु कुछ ऐसे भी सम्प्रदाय हैं जो सही रूप से नियतिवाद के अन्तर्गत नहीं आते। इससे उन्हें नियतिवादी कहने के स्थान पर दैव-कृपावादी कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। ईसाई सम्प्रदाय के अनुसार ईसा मसीह पर ईमान लाने से ईश्वर पापों को क्षमा कर देता है। मुस्लिम सम्प्रदाय का कथन है कि मौहम्मद पर ईमान रखने वाले दोजख की भयानक आग से बच जायेंगे और अल्लाह उनके पापों को क्षमा कर देगा। स्वामी दयानन्द इन दोनों ही मतों की तीव्र आलोचना करते हैं तथा दार्शनिक रूप में बताते हैं कि जीव के द्वारा किये हुए कर्म जीव को अवश्य भोगने पड़ेंगे। परमात्मा किसी के भी शुभाशुभ कर्मों को क्षमा नहीं करता।[2] दयानन्द के शब्दों में "क्योंकि जो (परमात्मा) पाप क्षमा करे तो उसका न्याय नष्ट हो जाये और सब मनुष्य महापापी हो जायें। क्योंकि क्षमा की बात सुनकर ही उनको पाप करने में निर्भयता और उत्साह हो जाय।"[3] यहाँ स्वामी जी दर्शन के साथ-साथ मनुष्य की इस मानसिक दुर्बलता की ओर भी संकेत करते हैं कि मनुष्य प्राय: वासना तृप्ति की ओर भागते हैं। और जब उनको विश्वास हो जायेगा कि केवल ईमान लाने मात्र से परमात्मा पाप क्षमा कर देता है तब नीति-नियमों का विधान किसके लिये? फिर शक्तिशाली का आदेश ही नीति के नियम रह जायेंगे।

---

१. "पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा इसलिये है कि जिससे संचित प्रारब्ध बनते, जिसके सुधारने से सब सुधरते और जिसके बिगाड़ने से सब बिगड़ते हैं, इसी से प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है।" स्वामी दयानन्द स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश सं० २५।

२. प्रश्न– क्या स्तुति आदि करने से ईश्वर अपना नियम छोड़ स्तुति प्रार्थना करने वाले के पाप छुड़ा देता है। (दया०) उ०—नहीं।' सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १७९

३. वही पृ० १९०

माण्डक्योपनिषद् पर गौणपादीय कारिकाओं में एक अन्य प्रकार के कर्म-उच्छेदवाद का विचार पाया जाता है। गौणपाद कहते हैं कि न प्रलय है और न उत्पत्ति, न कोई बद्ध है और न कोई साधक, न कोई मुमुक्षु है और न कोई मुक्त यही परमार्थ सत्य है।[1] इसमें जब कोई बद्ध नहीं है तब फिर किसी के कर्त्ता-भोक्ता होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये न कर्म है और न कर्मफल। इस तरह का प्रचार करने वाले परमार्थवादियों के लिये सारा का सारा नीति-शास्त्र ही निर्मूल है। इनके विरुद्ध दयानन्द का दृष्टिकोण यथार्थवादी है जिसमें संसार की सत्ता से मुख नहीं मोड़ा जा सकता इसलिए कर्त्ता, कर्म व कर्मफल ये तीनों ही विद्यमान हैं। यही दयानन्द की महान् प्रतिभा है कि उन्होंने परमार्थ और व्यवहार दोनों ही को एक शाश्वत सत्य के रूप में स्वीकार करते हुए भी दर्शन शास्त्र में इनके विरुद्ध उठने वाले समस्त आक्षेपों का अत्यन्त ही तर्कपूर्ण व व्यावहारिक रूप में उत्तर दिया है।

नीतिशास्त्र का आधार तत्त्व शास्त्र

नीतिशास्त्र का विषय मनुष्य के स्वतन्त्र कर्म हैं। इस शास्त्र में इस बात का विवेचन किया जाता है कि कर्म किस प्रकार करने चाहियें? तत्त्वशास्त्र ईश्वर, जीव, प्रकृति इत्यादि विषयों का तात्त्विक विवेचन करता है। परन्तु इन दोनों शास्त्रों में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। विशेषतः भारतीय दर्शन में इन्हें पृथक नहीं किया गया है। गीता कर्मयोग शास्त्र हैं, परन्तु उसमें भी ईश्वर की सत्ता, जीव की अमरता एवं प्रकृति की सत्ता इत्यादि विषयों का विषद् विवेचन किया है। कान्ट के नीतिशास्त्र का आधार उनकी तीन मान्यतायें—जीव की अमरता, ईश्वर का अस्तित्व तथा कर्म-स्वातन्त्र्य हैं और ये तीनों तत्त्व शास्त्र की समस्यायें हैं। जब नीतिशास्त्र किसी अमुक प्रकार के कर्म को करने को कहता है, तब उस कर्म की उपयोगिता की जाँच कि इस प्रकार के कर्म क्यों किये जायें तथा शुभ एवं परम शुभ की हमारी अमुक धारणा ही क्यों हो, के लिये प्रायः सभी दार्शनिकों को तत्त्व शास्त्र की शरण में आना पड़ता है। क्योंकि ईश्वर

---

१. माण्डूक्योपनिषद् पर गौणपादीय कारिका, २–३२

का अस्तित्व, जीव की सत्ता एवं परम शुभ का विचार तत्त्व शास्त्र ही निश्चित करता है। उदाहरण के लिये चारवाक दर्शन में प्रकृति के अतिरिक्त ईश्वर व जीव की कोई सत्ता नहीं है अतः कर्मफल, पुनर्जन्म, मोक्ष इत्यादि का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए चारवाकों ने सीधे-साधे "जब तक जियो सुख से जियो और ऋण लेकर भी त्यौहार मनाओ" का उपदेश किया। इसके ठीक विपरीत जैन दर्शन में दिगम्बर साधुओं को आत्म स्वातन्त्र्य के लिये कर्म-त्याग का ही उपदेश नहीं वरन् वस्त्र धारण को भी परिग्रह की श्रेणी में रख पूर्ण अपरिग्रही बन आत्मशुद्धि का आदेश दिया है। परन्तु साथ ही बिना ईश्वर को फलप्रदाता माने जैन दर्शन में कर्मफल को माना गया है। यह भी तत्त्वशास्त्र में बिना व्यवस्था के नहीं है। जैन दर्शन में अदृष्ट को ही फलप्रदाता मान लिया है स्वामी दयानन्द कर्म व्यवस्था के सम्बन्ध में कि परम शुभ क्या है ? जीवात्मा का क्या उद्देश्य है ? एवं उसे प्राप्त करने के लिये क्या करना चाहिए ? इत्यादि नीति-विषयक सिद्धान्तों का विवेचन विशुद्ध दार्शनिक आधार पर करते हैं।

ब्रह्माद्वैतवादियों की मोक्ष—जो कि परम शुभ है—की आलोचना स्वामी दार्शनिक आधार पर ही करते हैं कि अद्वैतवाद में अन्तःकरणोपाधि से ब्रह्म जीव होता है। इसका तात्पर्य हुआ कि अन्तःकरण जिस-जिस स्थान को जाता है। वहां-वहां का ब्रह्म जीव हो जाता है तथा पूर्व स्थानी ब्रह्म मुक्त होता जाता है। इस तरह से जीव का क्षण-क्षण मोक्ष हो रहा है फिर मोक्ष के लिये प्रयत्न की क्या आवश्यकता है।[1] "ज्ञानन्मुक्ति" अर्थात् सत्य ज्ञान से ही मुक्ति होती है। इस उक्ति में भी यही प्रतिपादित किया गया है कि जीवन के परम शुभ की प्राप्ति करने की इच्छा वाले को सत् ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। परन्तु दृष्टिगोचर होने वाले जगत् में क्या सत् है और क्या असत् इसका निर्णय तो तत्त्वशास्त्र के आश्रय में ही होगा। और यदि कोई हठपूर्वक यह कहे कि हमें तत्त्वशास्त्र से सतासत् का निर्णय करने से क्या तात्पर्य, तो उन लोगों की स्थिति ऐसी समझनी चाहिये जो जीवन के सफर में तो जा रहे हैं परन्तु यह पता नहीं कि कहां और क्यों जा रहे हैं, एवं उनका मार्ग सही भी है या नहीं। मोक्ष के साधन

१. सत्यार्थप्रकाश पृ० १९७

चतुष्ट्य में स्वामी शंकर ने प्रथम ही सत्य-असत्य वस्तु-विवेक पर बल दिया और दयानन्द के दर्शन में इसे वैराग्य में लिया गया है।[१] और ठीक भी है कि जब हमें यही पता नहीं कि सत्य क्या है, कहीं हमारा स्वयं का अस्तित्व भी हो या न हो? अथवा हो सकता है कि सँसार और हम दोनों ही सत्य हों, इन दोनों अवस्थाओं में हमारी समस्यायें एक दूसरे से नितान्त भिन्न होंगी। बौद्ध दर्शन निरीश्वरवादी व अजीववादी है तथापि कर्मफल व पुनर्जन्म तथा निर्वाण को स्वीकार करता ही है। इसी को देखकर तिलक व राधाकृष्णन् सरीखे विद्वानों को यह संशय हो जाता है कि निर्वाण व पुनर्जन्म आदि को मानने वाला दर्शन क्योंकर उच्छेदवादी हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि नीतिशास्त्र का आधार तत्त्वशास्त्र है और इस रूप में दयानन्द जो बार-बार नैतिक समस्याओं का तात्त्विक विवेचन करते हैं, ठीक ही हैं।

दयानन्द निम्नलिखित तत्त्वों को, तत्त्वशास्त्र से प्रमाणित कर कान्ट की तरह नीति की मान्यताओं के रूप में मानते हैं। केवल अन्तर इतना है कि कान्ट ने तीन मान्यताओं को स्वीकार किया है जबकि दयानन्द के दर्शन में हम इन्हें पाँच रूप में मान सकते हैं।

(१) जीवात्मा अमर है तथा इच्छा, प्रयत्न व ज्ञान उसके स्वाभाविक गुण हैं।

(२) जीवात्मा कर्म करने में स्वतंत्र तथा फल पाने में परतन्त्र है।

(३) जीवात्मा स्वकर्मों से उन्नति व अवनति दोनों ही दिशा में चल सकता है।

(४) जीवात्मा का परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। वही परम शुभ तथा-ब्रह्म साक्षात्कार है।

(५) ईश्वर कर्मफल प्रदाता है।

---

१. वैराग्य अर्थात् जो विवेक से सत्यासत्य को जाना हो उसमें से सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का त्याग करना विवेक हैं। जो पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के गुण कर्म स्वभाव से जानकर उसकी आज्ञा पालन और उपासना में तत्पर होगा······विवेक कहलाता है।'

सत्यार्थप्रकाश, पृ० २४६

कान्ट ने कर्मशास्त्र की जो तीन पूर्व मान्यतायें कही हैं, उनसे स्वामी दयानन्द का कोई विरोध नहीं है, वरन् स्वामी जी ने तत्त्वशास्त्र के अनुरूप उन्हें और भी स्पष्ट कर दिया है। परन्तु इनसे यह निर्णय नहीं करना चाहिए कि कान्ट का स्वामी जी पर प्रभाव था। नहीं, बिल्कुल नहीं। स्वामी जी कान्ट को जानते भी न थे। इसके अलावा कान्ट का दर्शन अज्ञेयवाद की दीवार को नहीं भेद सका, इसलिये उन्होंने जीव का स्वरूप, जीव का लक्ष्य एवं परम तत्त्वों का साक्षात्कार इन विषयों को अज्ञेय कहकर इनसे पीछा छुड़ाया। परन्तु दयानन्द तथ्य की पूर्ण गहरायी तक पहुंचे तथा उन्होंने वैदिक ऋषियों की परम्परानुसार ब्रह्म-साक्षात्कार तथा समस्त तत्त्वों को ज्ञेय कहा है। यदि हम सत्य को नहीं जान सकते तब तत्त्व शास्त्र निरर्थक है और मानव प्रयत्न तुच्छ व तथ्यहीन हैं। दयानन्द मानवीय प्रयत्नों की, यदि वे सही दशा में किये जायें, पूर्ण सफलता में विश्वास रखते हैं। नीतिशास्त्र में मानवीय सफलता में विश्वास अत्यन्त आवश्यक है।

परम शुभ अर्थात् मोक्ष परम शुभ है

यदि हमें, हमारे जीवन के समस्त दुःखों का नाश होकर, सदैव रहने वाला आनन्द प्राप्त हो, तब इससे बढ़कर जीवन का क्या उद्देश्य हो सकता है। यद्यपि सुखवादी नीतिशास्त्र भी सुख की प्राप्ति का आदर्श संसार के सामने रखते हैं परन्तु उनका आदर्श शारीरिक एवं वासनात्मक सुख तक ही सीमित है। जबकि शाश्वत आनन्द वासना तृप्ति से प्राप्त होने वाले सुख के त्याग से मिलता है। वासनाओं में लिप्त व्यक्ति इन्द्रियों का दास, विषयों के सम्मुख दीन एवं संकुचित वृत्तिवाला होता है। परन्तु मोक्षरूपी परमानन्द को प्राप्त करने वाला व्यक्ति इन्द्रियों का स्वामी अर्थात् इन्द्र, दृढ़ संकल्प-शक्ति का धनी एवं विशाल हृदय वाला होता है।

स्वामी दयानन्द मानव जीवन के परम शुभ को सदैव रहने वाले परमात्मसुख मोक्ष में ही देखते हैं।

स्वामी जी कहते हैं –

प्र०— (जीव) किससे छूटना चाहते हैं ?

उ०— दयानन्द) – दुःख से।

प्र०— दुःख से छूटकर किसको प्राप्त होते तथा कहाँ रहते हैं ?

उ०— (दयानन्द) "सुख को प्राप्त होते और ब्रह्म में रहते हैं।"[१]

जीव-जगत् के समस्त प्राणी दुःख से छूटने की कोशिश करते हैं और जैसे कि महाभारत कहता है कि प्राणियों की समस्त क्रियायें सुख प्राप्ति के लिये ही होती हैं।[२] सांख्यदर्शनकार महर्षि कपिल अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही यह प्रतिज्ञा करते हैं कि प्राणियों को होने वाले तीन प्रकार के दुःखों से दूर करने के लिये यह शास्त्र निर्मित किया गया है।[३] योग, न्याय, जैन व बौद्ध आदि सब सम्प्रदाय दुःख दूर कर सुख की प्राप्ति करना मानवजीवन का सर्वोच्च पुरुषार्थ कहते हैं। और तो क्या कर्तव्याकर्तव्य के लिये कहने वाले कान्ट भी यही कहते हैं कि इस आदर्श पर चलने वाला व्यक्ति ही वास्तविक अर्थों में सुखी रह सकता है।[४] और यह ठीक ही है। हम मानव स्वभाव की इस वास्तविकता से मुख नहीं मोड़ सकते कि सब प्राणियों की तरह मानव भी दुःख से कतरा कर सुख की खोज करता है। परन्तु इससे सुखवादियों को प्रसन्न नहीं होना चाहिए, क्योंकि प्राणियों द्वारा सुख की खोज का स्वाभाविक होना मनुष्यों को आवश्यक रूप से ऐपिक्यूरियनों या चारवाकों की तरह सुखवादी बनाना नहीं है। स्थूल रूप से सुख का विवेचन करने वाले चारवाक मानव स्वभाव की अपरिमित सुखाभिलाषा की गहराई तक नहीं पहुँचते वरन् उनका लक्ष्य केवल वासनात्मक अबौद्धिक व सहज में प्राप्त होने वाला ऐन्द्रिक सुख ही है। उनके मत में यही सुख मानवीय पुरुषार्थ का परम फल है। सुखवादी मनोविज्ञान के इस तथ्य को भूल जाते हैं कि भोगेच्छा भोगने

१– **सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २४१**

२– **दुःखादुद्विजते सर्व सर्वस्य सुखमभीप्सितम्। महाभारत शान्ति १३९-१६**

३– **अथ त्रिविध दुखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः। सांख्यसूत्र १।१**

४– "Further Kant considers that though the virtuous man does not aim at happiness, yet the complete well being of a human being includes happiness as well virtue".

A Manual of Ethics P. 192 by J. S, Mackenjie, VI Ed. 1929.

से अधिक बलवती होती है, जो प्राणियों को निरन्तर भोगों में प्रवृत रखती है और अन्त में जीर्ण-शीर्ण अवस्था में प्राणी शक्तिहीन हुआ भी भोगों को अत्यन्त कातर व दीन दृष्टि से देखता ही रहता है। जैसा कि महाराज भर्तृहरि कहते हैं कि भोगों को भोगने में प्राणी वास्तव में भोगों को नहीं भोगता, वरन् स्वयं भोगों द्वारा भोग लिया जाता है।[1] स्वामी दयानन्द सुखवादियों द्वारा प्रतिपादित भोगवाद को अत्यन्त तुच्छ एवं मूर्खतापूर्ण मानते हैं[2] जिसमें कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति फंसना पसन्द नहीं करेगा।

इसके अलावा कुछ विद्वान् अधिक व्यक्तियों के अधिक सुख का विचार कर्मशास्त्र में रखते हैं। उनका कहना है कि सुख प्राप्त करना मनुष्य का उद्देश्य है, परन्तु हमें सदैव उस सुख को प्राथमिकता देनी चाहिए जिसमें अधिक लोगों का अधिक सुख निहित हो। यह सिद्धान्त मानव जीवन के परम शुभ के रूप में सुखवादियों से कुछ अच्छा अवश्य प्रतीत होता है, परन्तु है यह भी स्वार्थ पर आधारित। इसके अतिरिक्त यह नीतिशास्त्र के स्थान पर सामाजिक संगठन के सिद्धान्त के रूप में अधिक उपयुक्त है। यद्यपि यहाँ भी यह सार्वभौम नियम नहीं बन सकता। क्योंकि यह हो सकता है कि अधिक लोग किसी ऐसी बात के पक्ष में हों जो अन्यायपूर्ण हो और अल्पसंख्यक न्यायपूर्ण हों तब क्या यहाँ पर यह नियम खरा उतरेगा? मानव जीवन के परम शुभ के रूप में हमें मनुष्य के जीवन के हर पहलु से विचार करना पड़ेगा। जीवन के किसी भाग को छोड़ा नहीं जा सकता।

बुद्धिमान व्यक्ति हर वस्तु या सिद्धान्त की उपयोगिता का निर्णय करते समय उसकी भली प्रकार जांच कर लेता है और फिर उसको जीवन में यथायोग्य स्थान पर लागू करता है। दुःखों को दूर करना जीवन का उद्देश्य है, परन्तु क्षणिक सुख के मुकाबले सदैव बना रहने वाला सुख

१– 'भोगानभुक्ता व्यमेव भुक्ता-स्तपो न तप्तं वयमेव तप्तं। कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णः। वैराग्य शतकम्।१२।

२. 'विषय रूपी सुख मात्र को पुरुषार्थ का फल मानकर विषय दुःख निवारण मात्र में कृतकृत्यता और स्वर्ग मानना मूर्खता है।'

सत्यार्थप्रकाश, पृ० ४२३

निश्चय ही उत्तम है। शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिये यदि वासना-तृप्ति से उत्पन्न क्षणिक सुख का त्याग करना भी पड़े तो भी क्या है। उच्च कोटि के उदात्त सुखवादी क्षणिक सुख से कुछ देर रहने वाले सुख को अच्छा समझते है और कुछ देर वाले सुख से अधिक देर तक रहने वाले सुख को। लेकिन दयानन्द तो ऐसे सुख की बात करते हैं जो सदैव रहने वाला है। दूसरी तरफ स्थूल सुखवादी हो या उदात्त सुखवादी दोनों का सुख इन्द्रिय सुख है। किन्तु दयानन्द उस सुख को मानव जीवन का उद्देश्य कहते हैं जो इन्द्रियों के क्षेत्र व विषय से बाहर है। अतीन्द्रिय होने से यह सुख न रहकर आनन्द की संज्ञा धारण कर लेता है। जैसा कि उपनिषद् कहता है कि वह, वो स्थान है जहाँ वाणी भी नहीं जा सकती, जहां चक्षु इत्यादि किसी शारीरिक व मानसिक इन्द्रियों का प्रवेश नहीं है। वह ऐसा इद्रियातीत सुख है। शास्त्रों में इसकी संज्ञा आनन्द है। उस आनन्द का वर्णन वाणी नहीं कर सकती क्योंकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्त:करण में ग्रहण करता है।[1] स्वामी जी कहते हैं कि इस अवस्था में जीवात्मा का परमात्मा से साक्षात्कार हो जाता है और मर्त्य अमृतमय हो जाता है। यही मोक्ष की अवस्था है। यहाँ जीवात्मा अपनी संकल्प शक्ति से ही आनन्द का भोग करता है।

आत्म-साक्षात्कारवादी नीतिशास्त्री सुख से अतिरिक्त आत्मा की शक्तियों अर्थात् व्यक्तिगत शक्ति व सामाजिक शक्तियों के साक्षात्कार को आत्मा का परम लक्ष्य मानते हैं। अर्बन मूल्यों के सिद्धान्त का निरूपण भी आत्म-साक्षात्कार में करते हैं कि शारीरिक, सामाजिक व आध्यात्मिक मूल्यों का समन्वय एवं उनका सम्यक् प्रकार धारण करना ही आत्म-साक्षात्कार है। लेकिन इन लेखकों ने आत्म-साक्षात्कार को मानव जीवन में एक अच्छे सामाजिक इन्सान के सफल व्यवहार मे अधिक कुछ नहीं समझा। क्योंकि जब तक आत्मा का स्वरूप व इस संसार में उसका उद्देश्य नहीं समझा जायेगा तब तक हम आत्म-साक्षात्कार से कुछ नहीं समझ सकते। जीवन का परम शुभ समझने के लिए हमें पहले तत्त्वज्ञान प्राप्त करना होगा फिर

१. 'न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयन्तदन्त:करणेन गृह्यते'। सत्यार्थ प्र०, पृ० १८४

हम जान सकते हैं कि जीवन वास्तव में किसलिए बना है। पाश्चात्य आत्म-साक्षात्कारवादी अभी इस स्तर पर नहीं गये हैं। किन्तु दयानन्द अन्य वैदिक दार्शनिकों के ही समान मुक्ति या परमानन्द अर्थात् प्रकृति के गुण बंधनों से मुक्ति प्राप्त कर परमात्मा के आनन्द को प्राप्त करना ही जीवन का वास्तविक उद्देश्य बताते हैं।

आत्म-साक्षात्कारवादियों के विरुद्ध प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि यह मत केवल अपनी ही उन्नति में संतुष्ट रहने वाले विचारकों का है। इससे यह भी स्वार्थपरता का एक उदात्त उदाहरण है। यह आरोप यूरोप के किन-किन विचारकों के विरुद्ध ठीक बैठता है इस पर हम यहां विचार नहीं करेंगे। परन्तु स्वामी दयानन्द व वैदिक विचारकों के आत्म-साक्षात्कारवाद के विरुद्ध तो यह बिल्कुल नहीं लगता। क्योंकि आध्यात्मिक उन्नति में किसी से किसी का कोई विरोध नहीं हो सकता और न ही यह बाँटी जा सकती है जिससे कम होने का भय हो। तथा प्रत्येक आध्यात्मिक पुरुष सत्य को जानने के बाद परोपकार के लिए स्वभाव से ही उद्यत होता है। और फिर स्वामी दयानन्द तो स्पष्ट कहते हैं कि "प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट नहीं रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।"[1] इससे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि दयानन्द द्वारा वर्णित मानव जीवन का ध्येय ही नीतिशास्त्र में निरापद है जो कि वेद, उपनिषद् व सर्वशास्त्र सम्मत है तथा जिसमें एक स्वस्थ समाज को बनाने की क्षमता के साथ-साथ परम सत्य को प्राप्त करने का विधान भी है। इस दर्शन में परम शुभ और परम सत्य एक ही है जो कि प्राणीमात्र का परम शिव (Highest Good) है।

जीवात्मा का दुःखों से छुटकारा बिना सत्यज्ञान के नहीं हो सकता। अविद्या के कारण जीव विषय-वासनाओं की तृप्ति से प्राप्त होने वाले सुख को ही जीवन का परम पुरुषार्थ समझ लेता है। इसलिए अविद्या के क्षय एवं सत्य के ज्ञान, जिसमें परमात्मा का ज्ञान भी संयुक्त है, से ही मुक्ति अर्थात् दुःखों से छुटकारा प्राप्त होता है। शरीरजन्य सुखों की अनित्यता ज्ञान से ही

१. आर्य समाज का नवां नियम, दयानन्द द्वारा निर्मित।

जानी जाती है। इस प्रकार दयानन्द मानव जीवन के परम शुभ के विषय में स्पष्टतया उपनिषदों से सहमति रखते हैं, तथा उपनिषदों के मंत्रों के हवाले से कहते हैं कि "जब जीव की अविद्यादि बन्धन की गांठें छिन्न-भिन्न होके टूट जाती हैं तभी वह मुक्ति को प्राप्त होता है" तथा ब्रह्म जो सर्वत्र व्यापक हो रहा है वही मोक्षपद कहाता है और मुक्त पुरुष उसी मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

सुखवाद-तपश्चर्यावाद व कर्म-सन्यास-मार्ग

सुखवादी बुद्धि को इन्द्रियों के सुख प्राप्त करने में सहायक मानते हैं। चारवाकों से भी गया बीता तथा इन्द्रिय सुख को ही प्रधान मानने वाला एक वाममार्गी सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के अनुसार मद्य, मांस, मीन, मुद्रा व मैथुन इन पांच मकारों के सेवन से मुक्ति कही गई है। कुछ विद्वान् इन पांच मकारों के आध्यात्मिक व मनोवैज्ञानिक अर्थ करते हैं परन्तु वे उनके ग्रन्थों में वर्णित उन प्रकरणों की, जिनमें स्पष्टत: वाममार्ग है, क्या व्याख्या करेंगे ? यह समझ में नहीं आता। ऐसा ही एक सम्प्रदाय कुलावर्ण तन्त्र में दिया हुआ है कि भैरवी चक्र के प्रवृत्त होने पर सब व्यक्ति एक वर्णस्थ हो जाते है फिर माता को छोड़कर कन्या, बहिन व पत्नि सभी रमण के योग्य हैं। अत्यधिक मद्यपान करने वाले का पुनर्जन्म नहीं होता।[1] स्वामी दयानन्द ने ऐसे सम्प्रदायों की अपने सत्यार्थ प्रकाश में कड़ी भर्त्सना की है। एक बार केवल इन्द्रिय-सुख को सब कुछ मान लेने पर फिर सामाजिक व्यवस्था को नष्ट करने वाले ऐसे वाममार्गीयों से बचना असम्भव है।

सुखवाद के दूसरी तरफ तपश्चर्यावाद का कठिन मार्ग है कि हर कीमत पर धर्म का आचरण करो और इसके लिए हर प्रकार के कष्ट सहने के लिये तैयार रहा। यहां तक तो इसमें कठोरता की बू नहीं आती परन्तु ये लोग बुद्धि की श्रेष्ठता के पीछे इन्द्रियों को पशु-जीवन का चिन्ह बताकर उसके दमन पर बल देते हैं। स्वामी जी इन्द्रियों के शक्तिपूर्वक दमन को

१. (i) 'पीत्वा पीत्वा पुन: पीत्वा यावत्पतति भूतले। पुनरुत्थायवै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।' (१) कुलार्णव तन्त्र ७।१००

(ii) 'मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु।' महानिर्वाण तन्त्र।

नहीं मानते। उनका कहना तो यह है कि शरीर को उत्तम पौष्टिक भोजन से स्वस्थ रखना चाहिये और ऐसा व्यवहार करना चाहिये जिससे आरोग्य बढ़े। वे इस बात को जानते थे कि इन्द्रियों के वेग को और विशेषतः काम के वेग को रोकना बड़ा कठिन कार्य है।[1] इसलिए युवावस्था में भोग प्राप्ति के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का आदेश देते हैं। उनका यह निश्चित मत है कि गृहस्थ में रहने वाला व्यक्ति अपनी ही माया से ऋतुगामी होकर सन्तुष्ट होवे, इस प्रकार वह ज्ञान-विज्ञान को बढ़ाकर मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

परन्तु गृहस्थ जीवन का अर्थ असंयत जीवन नहीं है। संयम और दमन इनमें काफी अन्तर है। दमन किसी शक्ति की वास्तविकता से मुख मोड़ना है जबकि संयम उस पर विजय प्राप्त करना है। दमन बुद्धिहीन क्रिया है परन्तु संयम बौद्धिक है। संयत जीवन संसार के हर रहस्य को समझने की शक्ति रखता है। चक्रांकित वैष्णवों का विश्वास है शरीर पर विष्णु आदि की मूर्ति आग में तपाकर अंकित करने से विष्णु लोक प्राप्त हो जाता है। कुछ व्यक्तियों का विचार है कि विभिन्न तीर्थ करने से छुटकारा मिल जाता है, गंगा इत्यादि नदियों में स्नान करने से अपनी ही नहीं वरन् पूर्वजों की भी मुक्ति हो जाती है। हिन्दू स्त्रियों में प्रचलित विश्वास है कि मुख्य तिथियों एवं पर्वों पर व्रत रखने से सब कामनायें पूर्ण होती हैं। तथा मीमांसकों का मत है कि वैदिक विधि-विधानों से यज्ञ करने से स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है। स्वामी जी शरीर को सुखाने वाले साधनों से मुक्ति को नहीं मानते। होम करना स्वामी जी के विचार से शुभ कार्य हैं क्योंकि इससे वायुमण्डल शुद्ध होकर आरोग्य बढ़ता है, परन्तु केवल यज्ञ करने से मुक्ति प्राप्त होती है, इसे वे नहीं मानते। काम्य कर्म चाहे वे स्वर्ग की प्राप्ति के लिए किए गए हों उनका कर्मफल तो भोगना ही पड़ेगा और उनके लिये जन्म-धारण करना पड़ेगा। इसलिए मीमांसकों द्वारा फल की भावना से किए गये कर्म मोक्ष के देने वाले नहीं हो सकते इसके अतिरिक्त विधि-विधानों द्वारा किए गये यज्ञ से पापों के क्षय की भावना से अधर्म को बढ़ावा मिलेगा क्योंकि हर कोई जो यज्ञ करने व करवाने में समर्थ होगा, इसलिये पाप-

१. बृहद सत्यार्थप्रकाश, पृ० ४८

कृत्य करेगा कि यज्ञों द्वारा उनके प्रभाव को नष्ट किया जा सकता है। इस पर प्रश्न उठता है कि तो फिर क्या कर्म छोड़ दिये जायें। परन्तु यह बिल्कुल असम्भव है क्योंकि कोई भी पुरुष एक क्षण भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता। और तो क्या पलकों को उठाना व गिराना भी तो कर्म ही है। यही नहीं बल्कि स्वभाव से होने वाले इन कर्मों का भी कोई उद्देश्य होता है यथा चक्षुओं पर किसी सम्भावित विपत्ति आने पर पलक स्वयमेव झुक जाती हैं। इसी प्रकार मनुष्य के सब कर्म चाहे नित्य कर्म हों या विशिष्ट सबके पीछे आवश्यकता अर्थात् उनसे उत्पन्न शुभ फल की कामना होती है। दयानन्द कर्मों में निहित उस मनोवैज्ञानिक तथ्य व मनु के श्लोक के हवाले से स्वीकार करते हुये कहते हैं कि "निष्काम पुरुष में नेत्र का संकोच-विकाश का होना भी सर्वथा असम्भव है, इससे यह सिद्ध होता है कि जो कुछ भी (कोई) करता है वह चेष्टा कामना के बिना नहीं है।"[1] फिर कर्मों का पूर्ण सन्यास सम्भव हो यह मुमकिन नहीं। कर्म आवश्यक हैं और इनसे छूटा नहीं जा सकता। इससे दयानन्द मनुष्यमात्र को उपदेश करते हैं कि मनुष्य सौ वर्ष पर्यन्त अर्थात् जब तक जीवे तब तक कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे, आलसी कभी न बैठे। तथा कर्म कर्मफल की भावना को त्यागकर करे।

कर्म व ज्ञान समन्वय

गीता में मोक्ष प्राप्ति के दो मुख्य साधन सांख्ययोग व कर्मयोग का वर्णन है कि ये दोनों ही मार्ग एक ही लक्ष्य तक पहुंचाते हैं चाहे इनमें से किसी का भी पालन कर लिया जाय। परन्तु एक गृहस्थी के लिये कर्म छोड़ कर जंगल में निष्कर्म बैठ ज्ञान-मार्ग का अवलम्बन करना नितान्त असम्भव है इसलिए गीता में कर्मयोग के मार्ग को ही श्रेष्ठ बताया है, परन्तु ज्ञान का कर्म में नितान्त अभाव नहीं। स्वयं श्री कृष्ण ने कर्मयोग के महत्व को समझाते हुए तत्वशास्त्र का ज्ञानपूर्वक विवेचन किया है कि जीव अमर है प्रकृति के गुण हमारे लिए बन्धनकारी हैं अतएव त्रिगुणातीत होकर फलाशा का

१. अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्। यद्यपि कुरुत किंचित तत्तत्कामस्य चेष्टम्। (मनु० २–४) सत्यार्थप्रकाश पृ० ४७

त्याग करने से कर्मों में बन्धन पैदा करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। बिना ज्ञान के कर्मयोग का अवलम्बन नहीं किया जा सकता। एक अज्ञानी के मस्तिष्क में कर्मयोग की उपयोगिता कभी नहीं बिठाई जा सकती है। फिर वह उस पर आचरण ही क्या करेगा। स्वामी दयानन्द ज्ञान और कर्म दोनों को ही आवश्यक समझते हैं।[1] उपनिषद, साँख्य व अन्य दर्शनों का भी यही मत है कि ज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नहीं।[2] और जिसे बौद्ध व जैन सम्प्रदाओं ने भी यथावत् स्वीकार किया है। यहां ज्ञान का अर्थ है तत्वों का सम्यक ज्ञान तथा सृष्टि विद्या एवं सृष्टि के पदार्थों का यथावत ज्ञान।[3] तत्व ज्ञान होने पर जीवात्मा सुख-दुःख आदि विकारों की वास्तविकता जानकर उनकी अनित्यता व तुच्छता का ज्ञान कर लेता है। उस अवस्था में उसके कर्म स्वार्थ बुद्धि से उत्पन्न काम्य कर्म नहीं होते वरन् लोकोपकार के निमित्त कर्त्तव्य समझकर किये गये कर्म होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन कर्मों का भी कोई लक्ष्य होता है परन्तु लक्ष्यों की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति इन दोनों पर ही योगी समबुद्धि रहता है। यही कर्मयोग है। इस मार्ग का पालन स्वार्थ बुद्धि को जीतने वाला जितेन्द्रिय पुरुष ही कर सकता है। जितेन्द्रियता का अर्थ स्वामी दयानन्द की भाषा में केवल इन्द्रियों का संयम ही नहीं वरन् मन का भी संयम है। मन के संयम के बिना इन्द्रियें काबू में नहीं आ सकतीं। दयानन्द कहते हैं "जितेन्द्रिय उसको कहते हैं जो स्तुति सुन के हर्ष और निन्दा सुन के शोक, अच्छा स्पर्श करके सुख और दुष्ट स्पर्श से दुख, सुन्दर रूप देख के प्रसन्न और दुष्ट रूप देख के अप्रसन्न उत्तम भोजन करके आनन्दित और निकृष्ट भोजन करके दुखित, सुगन्ध में रुचि और दुर्गन्ध में अरुचि नहीं करता।[4] स्वामी दयानन्द के जितेन्द्रिय पुरुष व गीता के समबुद्धि में कोई भेद नहीं है। कर्मों के रहस्य को बुद्धि से जानने वाला तथा ज्ञानपूर्वक कर्मों

१. "जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ-साथ जानता है वह विद्या अर्थात् कार्मोपासना से मृत्यु को तर के विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।' सत्यार्थप्रकाश पृ० २३६

२. 'ज्ञानान्मुक्तिः।' साँख्य सूत्र ३–२३

३. 'यथार्थ दर्शनं ज्ञानमिति।' सत्यार्थप्रकाश पृ० १८६

४. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २६६–२६७

का आचरण करने वाला ही वेदों में विद्या व अविद्या दोनों का अधिकारी कहा गया है। स्वामी जी कहते हैं कि "जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ-साथ जानता है वह विद्या अर्थात् कार्मोपासना से मृत्यु को तरके विद्या अर्थात् ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।"[1]

नैतिक धर्म (*Moral Virtues*)

वही नीतिशास्त्र सफल नीतिशास्त्र कहा जा सकता है जो मानव जीवन के सांसारिक व अध्यात्मिक दोनों पहलुओं का विवेचन करता हो। स्वामी दयानन्द अपने दर्शन में मायावाद के विरुद्ध जगत की सत्यता को स्वीकार करते हैं इसी प्रकार उन्होंने अपने नीतिशास्त्र में साँसारिक जीवन यथावत् समझा है। उनका उद्देश्य था कि मनुष्य साँसारिक उन्नति भी करे और पारलोकिक जीवन को भी सुधारे। इन्हीं को अभ्युदय और निःश्रेयस कहा है। वैशेषिक दर्शन अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सम्यक् प्राप्ति को धर्म कहता है।[2] स्वामी जी वैशेषिक धर्म की इस परिभाषा को पूर्णतः मानते हैं। उनका कहना है कि जिन कर्मों के आचरण से इच्छित सम्यक् सांसारिक सुख एवं जिनसे मोक्षरूपी पारमार्थिक सुख प्राप्त हो उसे ही धर्म मानना चाहिये, इसके विपरीत आचरण अधर्म है।[3]

चार लक्षण वाला धर्म— लेकिन धर्म का उपरोक्त प्रकार से वर्णन वर्णन कर देने मात्र से नीतिशास्त्र से छुटकारा नहीं मिल सकता क्योंकि शास्त्र में उन आचरणों का प्रतिपादन होना चाहिये जो अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त करा देने की सामर्थ्य रखते हों। मनुस्मृति से सहमत होकर स्वामी जी धर्म के चार लक्षण बताते हैं "(पहला) वेद (दूसरा) स्मृति, वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि शास्त्र, (तीसरा) सत्पुरुषों का आचार जो सनातन अर्थात् वेद द्वारा परमेश्वर प्रतिपादित कर्म और (चौथा) अपने आत्मा में

---

१. सत्यार्थप्रकाश पृ० २३७

२. यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिःस धर्मः। वै० १। १। २

३. "यस्याचरणादभ्युदयः सांसारिकमिष्ट सुखं सम्यक् प्राप्तं भवति, येन निःश्रेयसं पारमार्थिक मोक्ष सुखं च, स एव धर्मो विज्ञेयः। अतो विपरोतोह्यधर्मश्च"। दयानन्द ग्रथन्माला भाग१, पृ० ३९९

प्रिय अर्थात् जिसको आत्मा चाहता हो जैसा कि सत्य भाषण, ये चार धर्म के लक्षण हैं।"[१] स्वामी दयानन्द के लिये वेद परमेश्वर प्रदत्त उच्चतम सदाचार व विद्या के ग्रन्थ हैं इसलिये इनमें वर्णित आचार धर्म दयानन्द के नीतिशास्त्र में सर्वोपरि हैं। दयानन्द द्वारा मान्य वेदों में नीति धर्म व आचारशास्त्र के नियमों को खोजने के लिये हमें महीधर व उव्वट अथवा मैक्समूलर इत्यादि के भाष्यों को अपना मार्ग-दर्शक नहीं बनाना चाहिये। वेद में उच्च कोटि के आचारशास्त्र के नियम, प्राचीन ऋषियों व उनकी प्रणाली का अनुसरण करने वाले दयानन्द की व्याख्या में ही मिल सकते हैं। दयानन्द के लिये मनुस्मृति के कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों को छोडकर जो वेदों व सत्य के विपरीत हैं बाकी सब आचार-शास्त्र में प्रमाण हैं। इसके अलावा सत्पुरुषों के आचरण पर चलना जैसा कि वे धर्म के सम्बन्ध में वर्तते हैं तथा सबसे अधिक आत्मा के अनुकूल आचरण करना ही सदाचार के लक्षण है। मनुष्य का आत्मा असत्य व्यवहार करते हुए हिचकिचाता है।[२] यदि मनुष्य स्वार्थ का परित्याग कर आत्मा के आदेशों के अनुकूल चले तब वह शायद ही गलत मार्ग पर चले। इसी प्रकार काँट भी हमें शुद्धबुद्धि की शरण में जाने का आदेश देते हैं। काँट की शुद्धबुद्धि स्वार्थरहित बुद्धि है और यही उनके नीतिशास्त्र का आधार है। परन्तु दयानन्द ने आत्माचरण अर्थात् शुद्धबुद्धि के अतिरिक्त धर्म के तीन अन्य लक्षण भी किये हैं, जिससे व्यक्ति यदि कहीं भी भ्रमित हो तो उसे सही मार्ग का सरलता से पता चल जाय।

ग्यारह नैतिक धर्म (Moral Virtues)—यद्यपि सत्य व्यवहार स्वामी दयानन्द के कर्मशास्त्र में मुख्य धर्म कहा गया है तथापि मनु के दस लक्षणों में अहिंसा और संयुक्त करके दयानन्द धर्म के ग्यारह लक्षण बताते हैं।

---

१. सत्यार्थप्रकाश पृ० ४८ व मनु० २।१२

२. "मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है। तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़के असत्य में एक झुक जाता है।" सत्यार्थप्रकाश की भूमिका पृ० ३।

(१) अहिंसा—किसी से वैर बुद्धि करके उसके अ नष्ट करने में कमी न बर्तना।

(२) धृति -सुख-दुःख हानि-लाभ में भी व्याकुल होकर धर्म को न छोड़ना, किन्तु धैर्य से स्थिर रहना।

(३) क्षमा—निन्दा, स्तुति, मानापमान का सहन करके धर्म ही करना।

(४) दमः—मन को अधर्म से हटाकर धर्म ही में प्रवृत्त रखना।

(५) अस्तेयम्—मनः कर्म, वचन से अन्याय और अधर्म से पराये द्रव्य का स्वीकार न करना।

(६) शौचम्—रागद्वेषादि के त्याग से आत्मा और मन को पवित्र औरजलादि से शरीर को शुद्ध रखना।

(७) इन्द्रियनिग्रह—श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों को अधर्म से हटा कर धर्म ही में चलाना।

(८) धीः—वेदादि सत्य विद्या, ब्रह्मचर्य, सत्संग करने, कुसंग, दुर्व्यसन, मद्यपानादि त्याग से बुद्धि को सदा बढ़ाते रहना।

(९) विद्या—जिससे भूमि से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का यथार्थ बोध होता है उस विद्या को प्राप्त करना।

(१०) सत्यम्—सत्य मानना, सत्य बोलना, सत्य करना।

(११) अक्रोध—क्रोधादि दोषों को छोड़कर शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना धर्म कहाता है।[1]

"**सत्य" मुख्य धर्म** (Cardinal Vtrtue) है—इनके विपरीत आचरण अनाचार व अधर्म है जो जीवात्मा को दुःखादि के बन्धन में ले जाता है। उपरोक्त धर्मों में भी स्वामी जी सत्याचरण को मुख्य धर्म (Cardinal Virtue) मानते हैं। मन, वचन व कर्म से सत्य का पालन करना सबका वास्तविक धर्म है। मुण्डकोपनिषद् कहता है कि 'सत्य के पालन, तप व ब्रह्मचर्य से आत्मा परमात्मा को जान लेता है।[2] 'सत्य ही से विजय मिलती है असत्य से नहीं।"[3] स्वामी जी कहते हैं कि "ऋत" भी इसी का नाम है

---

१. दयानन्द ग्रन्थमाला, शताब्दी संस्करण, भाग २ पृ० २१०-२११

२. मु० उ० ३-१-५ ३. वही ३-१-६

तथा "सत्य भाषण और आचरण से उत्तम धर्म का लक्षण कोई नहीं है।"[1] सत्पुरुषों में वह सत्य ही है जो उन्हें प्रकाशित करता है।

मनु के द्वारा वर्णित धर्म के दस लक्षण, देशकाल, जाति वा सम्प्रदाय से परे हैं। हर जाति व धर्म तथा सब काल व देश में इनका व्यवहार विवाद से मुक्त है। स्वामी जी ने इसमें अहिंसा को बढ़ा दिया है। मनु का क्षमा से शायद अहिंसा से तात्पर्य हो परन्तु दयानन्द वैर-बुद्धि को जड़मूल से छोड़ना एक धार्मिक पुरुष के लिये अत्यावश्यक समझते थे, इसलिये उन्होंने इसे ग्यारहवां लक्षण बना दिया।

स्वामी दयानन्द ने एक सफल जीवन के लिये ब्रह्मचर्य की आवश्यकता पर अपने से पूर्व किसी भी सुधारक से अधिक बल दिया है। मन, वचन और कर्म से शरीर की वीर्य-शक्ति का ह्रास न होने देना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के बिना शरीर की शक्तियों का क्षय होने लगता है ऐसी अवस्था में मनुष्य परम पुरुषार्थ किस प्रकार कर सकता है? स्वामी दयानन्द मानव-मनोविज्ञान को भली-भांति समझते थे कि युवावस्था में "काम के वेग को थाम के इन्द्रियों को वश में रखना"[2] अत्यन्त कठिन कार्य है। वे युवावस्था में विवाह का आदेश देते हैं। परन्तु गृहस्थ में संयत जीवन व्यतीत करना चाहिये। केवल ऋतुकाल में स्त्री-संग करना चाहिये। ऐसा व्यक्ति "जो अपनी पत्नि से प्रसन्न और ऋतुगामी होता है वह गृहस्थ भी ब्रह्मचारी के सदृश है"[3] पुरुषों एवं स्त्रियों दोनों को यौन सम्बन्धों की पवित्रता बराबर बनाये रखनी चाहिये।

स्वामी दयानन्द जिस नैतिक आदर्श का स्वरूप हमारे सामने रखते हैं वह सर्वथा दोषरहित होने से माननीय है। वेदों को धर्म का स्रोत कहने से उनका तात्पर्य यह है कि वेद सदाचार के ग्रन्थ हैं। श्री अरविन्द के विचार से वेदों में मानव जीवन में होने वाले द्वन्द एवं उनसे बचने का मार्ग अतिशय से वर्णित है। इस पर भी दयानन्द के लिये सदाचारी पुरुष चाहे किसी भी

१. दयानन्द ग्रंथमाला भाग २, पृ० ३९६
२. सत्यार्थ प्रकाश पृ० ४१
३. वही पृ० ९६

धर्म के क्यों न हों वन्दनीय हैं। सत्य ही धर्म है इस रूप में दयानन्द का नैतिक धर्म सार्वभौम है इसका किसी से विरोध नहीं हो सकता।

कर्म-द्विविधा (*Casuistry*)

नैतिक नियमों का पालन करते-करते प्राय: दैनिक व्यवहार में ऐसे प्रसंग आ उपस्थित होते हैं जिनमें यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि ऐसे समय में दो धर्मों के बीच वैषम्य उपस्थित होने पर क्या करना चाहिये। उदाहरणार्थ, देश पर हुए आक्रमण के समय क्या अहिंसा का सहारा लेकर शत्रु द्वारा शान्त व निरीह व्यक्तियों को पद-दलित हो जाने दें या अहिंसा को एक तरफ रख शस्त्र उठाकर शत्रु का हनन करना चाहिये। "क्या करने योग्य है और क्या नहीं करने योग्य है इस विषय में विद्वान् पुरुष भी संशय में पड़ जाते हैं।"[1] गीता के इस श्लोक में नीतिशास्त्र की इसी समस्या की ओर इशारा किया है। ऐसे अवसरों पर बड़े-बड़े विद्वान् भी यह निर्णय नहीं कर पाते कि ऐसे समय में क्या किया जाये। संसार में सत्य, अहिंसा अस्तेय, अपरिग्रह व ब्रह्मचर्य को योगशास्त्र ने सार्वभौम महाव्रत कहा है। और इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। इन व्रतों का उल्लंघन करने वाले भी सार्वजनिक जीवन में इनकी महत्ता पर बल देते ही हैं, उदाहरण के लिए अन्यों व स्वयं के लिये झूंठ बोलने वाला वकील कभी यह नहीं चाहेगा कि उसका पुत्र या मुवक्किल उससे झूंठ बोले। इसी प्रकार अन्य महाव्रतों के विषय में है। परन्तु इनमें से एक भी ऐसा नहीं है कि जिसके पालन में कभी न कभी अपवाद न आ जाये। कल्पना कीजिये कि कुछ निर्दोष सज्जन व्यक्ति दुष्टों द्वारा पीछा किये जाने पर आपके सामने आकर किसी स्थान पर छिप गये, उनके पीछे ही दुष्ट पुरुष आकर आपसे पूछते हैं कि वे व्यक्ति कहां हैं तब आपका क्या कर्त्तव्य होगा? क्या आप सत्य का पालन कर छिपे हुए मनुष्यों को बताकर उन दुष्टों द्वारा उनको मरवा दोगे अथवा असत्य बोलकर दुष्टों को बहका कर उनकी जान बचाना अपना धर्म समझोगे? इसी प्रकार के प्रसंग अहिंसा में उपस्थित हो सकते हैं। महात्मा गांधी इस युग के बहुत बड़े अहिंसा के पुजारी थे। परन्तु कश्मीर पर आक्रमण के समय उन्होंने कश्मीर की रक्षा के लिये भारतीय सैनिकों को कश्मीर भेजने का परामर्श दिया था। स्वयं स्वामी

---

1. भगवद्गीता, ४–१६

दयानन्द इन पाँचों महाव्रतों को जीवन के लिये आवश्यक ही नहीं वरन अनावश्यक बताते हैं। परन्तु राजधर्म में देश पर हुए आक्रमण के समय व दुष्ट पुरुषों से निबटने के लिए शस्त्र व शौर्य का सहारा लेते हैं।

हम देखते हैं कि महापुरुष भी इन महाव्रतों के अपवादों को स्वीकार करते हैं। परन्तु अपवादों की आड़ में स्वार्थ व लम्पटता को कभी भी उचित नहीं ठहराते। स्वामी दयानन्द एक व्यावहारिक समाज सुधारक व नीतिशास्त्री थे। इससे उनके सम्मुख दो प्रश्न सदैव रहते थे कि हमारा नीतिशास्त्र इस प्रकार हो कि उसके नियमों पर चल कर व्यक्ति अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर सके तथा दूसरे, समाज के किसी भी शुभ व्यवहार में अड़चन न पड़े। कर्म-द्विविधा मस दूसरे प्रश्न के अन्तर्गत आती है। लेकिन समाज के समस्त व्यवहारों का उद्देश्य भी एक सफल आध्यात्मिक जीवन है इससे अपवादों के साथ हमारा व्यवहार इस प्रकार का हो कि जिससे यह हमारे अन्त करण को दूषित न करे। पिता अपने पुत्र पर हाथ उठाता है, अपने पुत्र की भलाई के लिये। पिता के हृदय में पुत्र के प्रति द्वेष भावना नहीं होती। इसी तरह के अपवादों के व्यवहार में भी कर्त्ता के मन में स्वार्थ व द्वेष नहीं रहना चाहिये। स्वामी दयानन्द मन की शुद्धता व निर्वैर विचारों को ही अपवादों से व्यवहार के योग्य बताते हैं।

इस विषय में दयानन्द हमको एक ऐसा नियम दे देते हैं जिसे कान्ट के नियमों की तरह निरापद और सार्वभौम कह सकते हैं कि संसार के मनुष्यों को "सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिये।"[1] इस सिद्धांत में तीन बातें मुख्य हैं कि हमको सबसे द्वेष बुद्धि त्याग कर प्रीति-पूर्वक व्यवहार करना चाहिये। दूसरे हमारा व्यवहार धर्मानुसार अर्थात् नीति नियमों के अनुरूप होना चाहिये, तथा तीसरे यथायोग्य अर्थात् जो जिस व्यवहार के लिए उपयुक्त हो उससे वैसा ही करना चाहिये। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द नीति-नियमों के अपवादों के लिए यथायोग्य का सिद्धांत उचित समझते हैं परन्तु द्वेषबुद्धिरहित व सत्यासत्य का निर्णय करने वाली धर्मपरायण बुद्धि के साथ। वे हारे हुए शत्रु के साथ भी मित्रता के व्यवहार

१. आर्य समाज का सातवाँ नियम।

के पक्ष में हैं क्योंकि उनकी यह मान्यता है कि पुरुष अपने शुभाशुभ कर्मों से ही पुण्य व पाप कर्म करने वाले होत हैं। इससे पापी पुरुष से उसके पाप के कारण शत्रुता होती है उससे स्वयं से नहीं। अतः उनके अनुसार हारे हुए शत्रु के दिल को चोट नहीं पहुँचानी चाहिए।[1] परन्तु दुष्टों के दमन के लिये सदैव उद्यत भी रहना चाहिये। इस प्रकार इस सूत्र के सहारे व्यवहार करने से नीति का उल्लंघन भी नहीं होता तथा दूसरी तरह व्यवहार की समस्या भी सुलझ जाती है।

---

१. "जो उसको (शत्रु को) बंदीगृह करे तो भी उसका सत्कार यथायोग्य रखे।......कभी उसको चिढ़ाये नहीं न हंसी और ठट्ठा करे, न उनके सामने हमने तुमको पराजित किया है, ऐसा भी कहे, किन्तु आप हमारे भाई हैं इत्यादि मान प्रतिष्ठा सदा करे, सत्यार्थप्रकाश पृ० १८८

